औरतों के इमतियाज़ी मसाईल

क़वानीन, हिकमतें और फ़वाइद

लेखक

हाफिज़ सलाहउद्दीन युसुफ

प्रकाशक

अल किताब इंटरनेशनल

मुरादी रोड, बटला हाउस, जामिया नगर,

नई दिल्ली-110025

औरतों के

इम्तियाज़ी मसाइल व क़वानीन

हिक्मतें और फ़वाइद

लेखक

हाफ़िज़ सलाहुद्दीन यूसुफ़

प्रकाशक

अल किताब इंटरनेशनल

मुरादी रोड, बटला हाउस, जामिया नगर,

नई दिल्ली-110025

पुस्तक का नाम : औरतों के इम्तियाज़ी मसाइल व क़वानीन

लेखक : हाफ़िज़ सलाहुद्दीन यूसुफ़

ज़ेरे निगरानी : सैयद शौकत सलीम

संख्या : एक हज़ार

प्रकाशन : 2010

मूल्य :

प्रकाशक : अल-किताब इन्टर नेशनल
जामिया नगर, नई दिल्ली-110025

मिलने का पता : **S. N. PUBLISHERS**
P.O. BOX NO. 9728
JAMIA NAGAR, NEW DELHI-110025
Phone: 9312508762, 9310008762,
9310108762, 26986973
E-mail: al-kitabint@yahoo.com

प्रकाशक

अल किताब इंटरनेशनल

मुरादी रोड, बटला हाउस, जामिया नगर,
नई दिल्ली-110025

विषय सूची

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

दो शब्द

किसी समाज और सभ्यता का ठोस आधार दाम्पत्य जीवन के सुखद होने पर निर्भर है। इस्लाम इस बुनियाद को उन शिक्षाओं की रौशनी में पेश करता है, जो किताब व सुन्नत के पवित्र और प्रमाणिक स्रोतों से मिलती हैं। यही वजह है कि इस्लामी सभ्यता में औरत को एक विशेष गौरव और सम्मान का दर्जा प्रदान किया गया। इसकी पैदाइश पर उसके प्रशिक्षण का एक ख़ास पाठ्य और व्यवस्था है, जो उन पर उसके लिए पवित्रता व सुरक्षा के साथ निकाह के हवाले से एक दूसरे ख़ानदान के निर्माण की ज़िम्मेदारी लागू होती है। मां की हैसियत से वह एक स्वस्थ और लज्जाजनक नस्ल को इस्लामी समाज के हवाले करती है। इसके विपरीत पश्चिमी सभ्यता और समाज में औरत का अतीत और वर्तमान अभी तक एक पीड़ित की तस्वीर पेश करता है। वहां बच्चियों और छात्राओं के साथ क्या सुलूक होता है, स्वतंत्रता के साथ मेल मिलाप के क्या नतीजे सामने आ रहे हैं, और पश्चिमी कल्चर के सांचे में क्या क्या बिगाड़ मौजूद है, उन सब तथ्यों से स्वयं पश्चिमी लोग पर्दा उठा रहे हैं और उन ख़बरों का एक कमज़ोर और थोड़ा हिस्सा संचार साधनों के द्वारा हम तक आ जाता है, जिसे पढ़ या सुनकर एक दर्दमन्द मुसलमान केवल यही कह सकता है। फ़ातबिरू या ऊलिल अबसार

इस्लाम ने औरत को एक ऐसा स्थान दिया है और उसके लिए अधिकारों व छूट का ऐसा सामान उपलब्ध किया है कि जिसकी मिसाल तारीख़ के पन्ने बयान करने से विवश हैं। मुख्य रूप से विरासत के आदेश में तो मर्दों के हिस्से का नि[illegible] के लिए औरत के हिस्से को

बुनियाद बनाया गया है। अगर शरीअत की पूर्ण नीयत को सामने रखा जाए तो विरासत में बेटे की तुलना में बेटी को आधा हिस्सा मिलने का सही प्रमाण सामने आ जाता है। इसका अंदाज़ा मात्र इस बात से लगाइए कि घर की आर्थिक ज़िम्मेदारियां, घर वालों के ख़ाने पीने व लिबास, बच्चों की शिक्षा दीक्षा, उनका स्वास्थ्य व उपचार और उनके शादी व निकाह के मामले औरत के नहीं मर्द के ज़िम्मे हैं। जिससे मर्द की जायदाद तो निरंतर कम होती रहेगी मगर औरत का हिस्सा न केवल मौजूद रहेगा बल्कि कुछ हालात में उसका वास्तविक लाभ मर्द के हिस्से से बढ़ जाएगा। ज़रा सोचिए तो सही अगर वह बेटी है तो उसकी देख रेख मां बाप के ज़िम्मे है, अगर पत्नी है तो उसकी देख रेख पति की ज़िम्मेदारी है और अगर मां है तो औलाद उसके लिए यही सब करेगी, अगर बहन है तो भाई उसकी देखभाल और ज़रूरतों के इच्छुक होंगे। यूं औरत ज़िंदगी के किसी दर्जे में और उम्र की किसी सतह पर किसी दर्जे की आर्थिक या सामाजिक परेशानी का शिकार नहीं होती। सुरक्षा व बचाव का यह कवच, इस्लाम के अलावा कोई दूसरी सभ्यता उपलब्ध नहीं करती।

दुर्भाग्य से कुछ इस्लामी देशों में कुछ क्षेत्रों की क्षेत्रीय रस्मों को इस्लामी सभ्यता व सामाजिकता की मूल्य व परम्परा समझ लिया गया है, यद्यपि शरीअत से टकराती यह परम्परा पूरी तरह अज्ञानता पर आधारित हैं। अगर हक़ीक़ी इस्लाम को समझा जाए और शरीअत के उसूलों को सामने रखा जाए तो सामाजिक जीवन में जो अधिकार इस्लाम औरत को प्रदान करता है, वह किसी दूसरी सभ्यता में संभव नहीं। मर्द के तलाक़ के हक़ के मुक़ाबले में औरत को खुलअ का हक़ प्रदान करना, न्याय की बेहतरीन सूरत है। शादी के मौक़े पर औरत के लिए मेहर की अदाएगी सदव्यवहार का बेहतरीन अमल है। शादी पर वलीमे की पार्टी का आयोजन, उसके स्वागत का बेहतरीन नक़शा है। फिर क़ुरआन मजीद ने इन दोनों पति पत्नी को एक दूसरे का लिबास क़रार देकर उनकी

समाजी हैसियत का निर्धारण कर दिया है।

आज दुनिया में औरतों के अधिकार के नाम पर बड़ी बड़ी संस्थाएं बनाई जा रही हैं मगर औरत से बढ़कर कोई पीड़ित नहीं। इस्लाम ने औरत के लिए जो सीमाएं क़ायम की हैं। उनमें सम्मान और सुरक्षा का प्रबन्ध है। उसने उपासना, विरासत, निकाह और गवाही जैसे विषयों पर जिन नियमों का निर्धारण किया है, वह सब औरत के दाम्पत्य हालात और औरतपन के ठीक अनुसार है।

औरतों की प्रमुख समस्याएं और क़ानूनों की हिक्मतों और लाभों पर यह किताब प्रख्यात दीनी स्कॉलर हाफ़िज़ सलाहुद्दीन यूसुफ़ साहब के क़लम का शाहकार है। मुझे यक़ीन है कि इसके अध्ययन से पश्चिमवाद से प्रभावित लोगों की उठाई हुई वह धूल और रेत हट जाएगी, जो इस्लामी शिक्षाओं से अनभिज्ञता के नतीजे में उड़ाई जा रही है।

—प्रकाशक

लेखक की ओर से

इस किताब "औरतों के विशिष्ठ मसाइल व क़ानून" मेरे विभिन्न समयों में लिखे गए लेखों का संग्रह है। जैसे, औरत के शासक होने का मसला, जो इस किताब में शामिल है, उन लेखों पर आधारित है जो पहली बार बेनज़ीर भुट्टू के पाकिस्तान के प्रधानमंत्री बनने के तुरन्त बाद लिखे गए थे, इसी लिए उसके औचित्य में उस समय जो जो "तर्क" या भ्रम पेश किए गए, इन लेखों में उन पर बहस व टिप्पणी है। इसी तरह जनरल ज़ियाउल हक़ के दौर में जब हुदूद व क़िसास का आरडीनेंस लागू किया गया, जिसमें औरत की गवाही को मर्द की गवाही के मुक़ाबले में आधा क़रार दिया गया, जैसा कि शरई तर्कों से उलमाए इस्लाम की राय है, तो पश्चिमी मानसिकता वाले वर्ग ने उसके ख़िलाफ़ बहुत शोर मचाया और औरत का अपमान क़रार दिया, यहां तक कि उसने आरडीनेंस के इस खण्ड को शरई अदालत में चेलेंज कर दिया। मैंने उस समय शरई अदालत की प्रार्थना पर उस पर एक विस्तृत लेख लिखा था, उसका एक हिस्सा भी इस कितााब में मौजूद है।

औरत की आधी मीरास पर सिन्ध हाईकोर्ट के एक जज ने आपत्ति की थी और अपनी बीमार मानसिकता व्यक्त की थी, उस पर भी मैंने एक समीक्षा की थी। इसी तरह अन्य वे लेख हैं जिनमें मर्द व औरत के बीच शरीअत के विशिष्ठ आदेश व मसाइल पर बहस और उस अन्तर की उन हिक्मतों का बयान है जो उनमें मौजूद हैं और उन हिक्मतों और लाभों ही की वजह से इस्लाम की शिक्षाएं, अन्य धर्मों से भिन्न और प्रमुख हैं। इस प्रकार के 15 मसाइल हैं जो इस किताब में शामिल हैं, ये सब वे मसाइल हैं जिनमें शरीअते इस्लामी ने मर्द और औरत के बीच विभेद किया है। इन मसाइल में यह विभेद क्यों है? इनमें क्या हिक्मतें हैं? यही इस किताब का विषय है।

पश्चिमी साम्राज्य का इस समय जो सियासी दबदबा और वैचारिक परिभाषा है, उसकी वजह से उसकी खोखली और नंगी सभ्यता का प्रभाव भी इस्लामी जगत में फैला है, यद्यपि इस पश्चिमी सभ्यता का इस्लामी सभ्यता से क़दम क़दम पर टकराव होता है, लेकिन दुर्भाग्य से इस्लामी देशों पर जो लीडरशिप मौजूद है चाहे वह फ़ौजी हो या सियासी उनकी सोच व नज़र के स्रोत पश्चिमी हैं, उनका मन मस्तिष्क पश्चिम का ढला हुआ है और वह पश्चिम की नंगी सभ्यता में डूबे हुए हैं। इसलिए उन्होंने वही शिक्षा प्रणाली, स्कूलों, कालिजों और यूनीवर्सिटियों में थोप रखी है जो मुसलमानों को मुसलमान न रहने देने के लिए उनके एक विचारक लार्ड मैकाले ने पाक व हिन्द के लोगों के लिए प्रस्तावित की थी। उसका नतीजा है कि मुसलमानों की नई नस्ल दीन और उसकी अत्यन्त बेहतरीन शिक्षाओं से नफ़रत करने वाली और विरक्त और पश्चिमी सभ्यता की फ़ैन है।

औरतों के इन विशिष्ठ मसाइल व नियमों पर भी यह वर्ग आपत्ति करता, नाक भौं चढ़ाता और उंगली उठाता रहता है। अतः ज़रूरत महसूस हुई कि इस्लाम की उल्लिखित प्रमुख शिक्षाओं के विशिष्ठ और उनकी ख़ूबियां और हिक्मतों को स्पष्ट किया जाए और उन आपत्तियों का जायज़ा लिया जाए जो पश्चिमी जादूगरों के जादू के शिकार और यूरेप की चमक दमक के ग़ुलाम लोगों की तरफ़ से उन शिक्षाओं पर की जाती हैं, ताकि स्पष्ट हो जाए कि यह औरत के ख़िलाफ़ विशिष्ठ मसाइल नहीं, बल्कि मुसलमान औरत की प्रमुख पहचान भी उन्हीं शिक्षाओं की वजह से है और उसके सम्मान की ज़मानत भी यही शिक्षाएं हैं :

वही देरीना बीमारी, वही नामुहक्मी दिल की
इलाज इसका वही आबे निशात अंगेज़ है साक़ी

(बाले जिबरील)

अल्लाह तआला का इर्शाद

وَقَرْنَ فِيْ بُيُوْتِكُنَّ وَلَا تَبَرَّجْنَ تَبَرُّجَ
الْجَاهِلِيَّةِ الْاُوْلٰى وَاَقِمْنَ الصَّلٰوةَ
وَاٰتِيْنَ الزَّكٰوةَ وَاَطِعْنَ اللّٰهَ وَرَسُوْلَهٗ

"और अपने घरों में (मान व सम्मान से) रहो, पहले अज्ञानता के ज़माने की तरह अपनी शोभा की नुमाइश न करती फिरो, नमाज़ क़ायम करो, ज़कात अदा करो, अल्लाह और उसके रसूल की आज्ञा का पालन करो।" (अहज़ाब : 33)

إِنَّ الْمُسْلِمِينَ وَالْمُسْلِمَاتِ وَالْمُؤْمِنِينَ وَالْمُؤْمِنَاتِ وَالْقَانِتِينَ وَالْقَانِتَاتِ وَالصَّادِقِينَ وَالصَّادِقَاتِ وَالصَّابِرِينَ وَالصَّابِرَاتِ وَالْخَاشِعِينَ وَالْخَاشِعَاتِ وَالْمُتَصَدِّقِينَ وَالْمُتَصَدِّقَاتِ وَالصَّائِمِينَ وَالصَّائِمَاتِ وَالْحَافِظِينَ فُرُوجَهُمْ وَالْحَافِظَاتِ وَالذَّاكِرِينَ اللَّهَ كَثِيرًا وَالذَّاكِرَاتِ أَعَدَّ اللَّهُ لَهُم مَّغْفِرَةً وَأَجْرًا عَظِيمًا ○

"निश्चय ही मुसलमान मर्द और मुसलमान औरतें, ईमानदार मर्द और ईमानदार औरतें, आज्ञा पालक मर्द और आज्ञा पालक औरतें, सच बोलने वाले मर्द और सच बोलने वाली औरतें, सब्र करने वाले मर्द और सब्र करने वाली औरतें, विनम्रता प्रकट करने वाले मर्द और विनम्रता प्रकट करने वाली औरतें, दान करने वाले मर्द और दान करने वाली औरतें, रोज़ा रखने वाले मर्द और रोज़ा रखने वाली औरतें, अपने नफ़्स की हिफ़ाज़त करने वाले मर्द और अपने नफ़्स की हिफ़ाज़त करने वाली औरतें, अधिकता से अल्लाह का गुण गान करने वाले मर्द और अल्लाह का गुण गान करने वालियां, इन सबके लिए अल्लाह ने बड़ी भारी माफ़ी और बहुत बड़ा सवाब तैयार कर रखा है।" (अहज़ाब : 35)

Scanned by CamScanner

भूमिका

इस्लाम से पहले औरत की जो हालत थी, बताने योग्य नहीं। विद्वान इससे पूरी तरह ख़बरदार हैं। इस्लाम ने इसे पतन की गहराई से निकाला और मान सम्मान के स्थान पर पहुंचा दिया। वह विरासत से महरूम थी, उसे विरासत में हिस्सेदार बनाया। निकाह व तलाक़ में उसकी पसन्दीदगी व नापसन्ददगी का कोई दख़ल न था, इस्लाम ने निकाह व तलाक़ में इसे ख़ास अधिकार प्रदान किए। इसी तरह उसे वे सारे सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकार प्रदान किए जो मर्दों को हासिल थे। औरत के बारे में इस्लामी शिक्षाओं का सारांश निम्न है :

औरत के मान सम्मान की सुरक्षा के लिए इस्लामी शिक्षाओं का सारांश

1. इंसान की हैसियत से औरत भी मर्द ही की तरह इंसानी गौरव व सम्मान की हक़दार है। इस दृष्टि से मर्द व औरत के बीच कोई फ़र्क़ नहीं। क़ुरआन करीम ने इस हक़ीक़त की : "तुम सबको एक जान से पैदा किया।" (निसा : 4/1) के शब्दों से संज्ञा दी है और नबी अकरम सल्ल० ने फ़रमाया :

«إِنَّمَا النِّسَاءُ شَقَائِقُ الرِّجَالِ» (سنن أبي داود، الطهارة، باب في الرجل يجد البلة في منامه: ١/ ١٦٢، ح: ٢٣٦ مع شرحه معالم السنن للخطابي طبع مصر)

"औरतें मर्दों ही की शक़ीक़ा (हमजिन्स) हैं।"

"शक़ीक़ा" का मतलब है "पैदाइश और स्वभाव में समान होना।" अतएव इमाम ख़त्ताबी लिखते हैं :

«أَيْ نَظَائِرُهُمْ وَأَمْثَالُهُمْ فِي الْخَلْقِ وَالطِّبَاعِ فَكَأَنَّهُنَّ شُقِقْنَ مِنَ الرِّجَالِ» (المرجع المذكور)

"औरतें पैदाइश और भौतिक गुणों में मर्दों ही की तरह हैं, मानो कि वे मर्दों ही से निकली हुई हैं।"

यूं इस्लाम ने औरत के बारे में इस अवधारणा को कि औरत मर्द के मुक़ाबले में अपमानित व तुच्छ सृष्टि है, असत्य क़रार दिया और स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि मनुष्य के सम्मान और मानवता के गौरव के हिसाब से मर्द व औरत में फ़र्क़ नहीं रखना चाहिए।

2. इसी बुनियाद पर, इस्लाम में प्रतिष्ठा और हीनता का कारण यह नहीं है कि फ़लां मर्द है, इसलिए श्रेष्ठ है और फ़लां औरत है, इसलिए हीन है, बल्कि प्रतिष्ठा का पैमाना ईमान व तक़्वा है।

﴿إِنَّ أَكْرَمَكُمْ عِندَ اللَّهِ أَتْقَاكُمْ﴾ (الحجرات٤٩/١٣)

"अल्लाह के निकट तुममें सबसे सम्मानित वह है, जो तुममें सबसे अधिक अल्लाह से डरने वाला और परहेज़गार है।"
(हुजुरात-13)

इस नुकते को क़ुरआन करीम ने खोलकर बयान फ़रमाया :

﴿مَنْ عَمِلَ صَالِحًا مِّن ذَكَرٍ أَوْ أُنثَىٰ وَهُوَ مُؤْمِنٌ فَلَنُحْيِيَنَّهُ حَيَاةً طَيِّبَةً وَلَنَجْزِيَنَّهُمْ أَجْرَهُم بِأَحْسَنِ مَا كَانُوا يَعْمَلُونَ ﴿٩٧﴾﴾ (النحل١٦/٩٧)

"जिस किसी ने भी, चाहे वह मर्द हो या औरत, सद कर्म किया और वह मोमिन है तो हम उसको पवित्र ज़िंदगी प्रदान करेंगे और उनके बेहतरीन कर्मों का ज़रूर बदला देंगे।" (नहल : 98)

एक और स्थान पर फ़रमाया :

﴿أَنِّي لَا أُضِيعُ عَمَلَ عَامِلٍ مِّنكُم مِّن ذَكَرٍ أَوْ أُنثَىٰ﴾ (آل عمران٣/١٩٥)

"मैं तुममें से किसी का कर्म अकारथ नहीं करूंगा (बल्कि बेहतरीन बदला दूंगा) चाहे वह मर्द हो या औरत।"
(आले इमरान : 195)

और इस भाव को सूरह अहज़ाब में विस्तार से बयान किया फ़रमाया :

﴿إِنَّ الْمُسْلِمِينَ وَالْمُسْلِمَاتِ وَالْمُؤْمِنِينَ وَالْمُؤْمِنَاتِ وَالْقَانِتِينَ
وَالْقَانِتَاتِ وَالصَّادِقِينَ وَالصَّادِقَاتِ وَالصَّابِرِينَ وَالصَّابِرَاتِ وَالْخَاشِعِينَ
وَالْخَاشِعَاتِ وَالْمُتَصَدِّقِينَ وَالْمُتَصَدِّقَاتِ وَالصَّائِمِينَ وَالصَّائِمَاتِ
وَالْحَافِظِينَ فُرُوجَهُمْ وَالْحَافِظَاتِ وَالذَّاكِرِينَ اللَّهَ كَثِيرًا
وَالذَّاكِرَاتِ أَعَدَّ اللَّهُ لَهُمْ مَغْفِرَةً وَأَجْرًا عَظِيمًا ﴿٣٥﴾ (الاحزاب ٣٣/٣٥)

"निःसन्देह मुसलमान मर्द और मुसलमान औरतें, मोमिन मर्द और मोमिन औरतें, आज्ञा पालक मर्द और आज्ञा पालक औरतें, सच्चे मर्द और सच्ची औरतें, धैर्यवान मर्द और धैर्यवान औरतें, विनम्रता प्रकट करने वाले मर्द और विनम्रता प्रकट करने वाली औरतें, सदक़ा करने वाले मर्द और सदक़ा करने वाली औरतें, रोज़ेदार मर्द और रोज़ेदार औरतें, शर्मगाहों की हिफ़ाज़त करने वाले मर्द और हिफ़ाज़त करने वाली औरतें, अल्लाह को बहुत याद करने वाले मर्द और अल्लाह को बहुत याद करने वाली औरतें, अल्लाह तआला ने इन सबके लिए क्षमा और बड़ा भारी सवाब तैयार किया है।" (अहज़ाब : 35)

मतलब यह कि ईमान और सदकर्म, जो सर्वकालिक सफ़लता द ज़ामिन हैं, उनमें मर्द व औरत के बीच कोई फ़र्क़ नहीं। जो भी अप चरित्र व आचरण को इस सांचे में ढाल लेगा, वह अल्लाह के दरबार सफ़ल होगा और जो इस ईमान व सदकर्म से वंचित होगा, वह यातना व हक़दार होगा। इस बात के फलस्वरूप कि उसका संबंध औरत से है र मर्द से।

इस्लाम से पहले लड़की की पैदाइश को अशुभ समझा जाता था य तक कि कुछ दरिन्दा स्वभाव लड़की को ज़िंदा दफ़न तक कर देते थे

अज्ञानता काल के लोगों के इस रवैये को क़ुरआन ने यूं बयान किया है :

﴿ وَإِذَا بُشِّرَ أَحَدُهُم بِالْأُنثَىٰ ظَلَّ وَجْهُهُ مُسْوَدًّا وَهُوَ كَظِيمٌ ﴿٥٨﴾ يَتَوَارَىٰ مِنَ الْقَوْمِ مِن سُوءِ مَا بُشِّرَ بِهِ أَيُمْسِكُهُ عَلَىٰ هُونٍ أَمْ يَدُسُّهُ فِي التُّرَابِ ﴾

(النحل/١٦: ٥٨، ٥٩)

"जब उनमें से किसी को लड़की की ख़बर सुनाई जाती है, तो उसका चेहरा (मारे दुख और अफ़सोस के) सियाह हो जाता है और दिल में वह घुट रहा होता है वह उस ख़बर को बुरा समझते हुए लोगों से छिपता फिरता है और सोचता है कि इस हीनता को सहन करे या उसको मिट्टी में दबा दे।" (नहल : 58-59)

3. इस्लाम ने उनके इस रवैये की सख़्त निंदा की और बच्चियों को इस तरह ज़िंदा दफ़न करने से यह कहकर मना फ़रमाया कि अगर किसी ने इस बुरे कार्य को किया तो उससे अल्लाह के यहां पूछताछ होगी।

﴿ وَإِذَا الْمَوْءُودَةُ سُئِلَتْ ﴿٨﴾ بِأَيِّ ذَنبٍ قُتِلَتْ ﴿٩﴾ ﴾ (التكوير/٨١: ٨، ٩)

नबी अकरम सल्ल० ने भी लड़के के मुक़ाबले में लड़की को तुच्छ समझने और उसे ज़िंदा दफ़न करने की निंदा बयान की और बच्चियों के लालन पालन और उनकी शिक्षा व दीक्षा के लाभ बयान फ़रमाए। फ़रमाया :

«مَنْ كَانَتْ لَهُ أُنْثَى فَلَمْ يَئِدْهَا وَلَمْ يُهِنْهَا وَلَمْ يُؤْثِرْ وَلَدَهُ عَلَيْهَا قَالَ: يَعْنِي الذُّكُورَ - أَدْخَلَهُ اللهُ الْجَنَّةَ» (سنن أبي داود، الأدب، باب فضل من عال يتامى، ح: ٥١٤٦)

"जिसके यहां लड़की हुई उसने उसे ज़िंदा दफ़न नहीं किया, न उसे तुच्छ समझा और न लड़के को उस पर वरीयता दी तो अल्लाह तआला उसे जन्नत में दाख़िल फ़रमाएगा।"

और फ़रमाया :

«مَنْ عَالَ ثَلَاثَ بَنَاتٍ، فَأَدَّبَهُنَّ وَزَوَّجَهُنَّ، وَأَحْسَنَ إِلَيْهِنَّ، فَلَهُ الْجَنَّةُ»(سنن أبي داود، الأدب، باب في فضل من عال يتامى، ح:٥١٤٧)

"जिसने तीन लड़कियों को पाला पोसा, उनकी शिक्षा दीक्षा की, उनकी शादियां कीं और उनके साथ सद व्यवहार किया तो उसके लिए जन्नत है।"

एक और रिवायत में ये शब्द इस तरह हैं :

«ثَلَاثُ أَخَوَاتٍ أَوْ ثَلَاثُ بَنَاتٍ، أَوِ ابْنَتَانِ أَوْ أُخْتَانِ»(سنن أبي داود، الأدب، باب في فضل من عال يتامى، ح:٥١٤٨)

"जिसने तीन बहनों या तीन लड़कियों या दो लड़कियों या दो बहनों को पाला पोसा, उसके लिए जन्नत है।"

इस भाव की अनेक रिवायात हदीस की किताबों में मौजूद हैं। जिनमें लड़कियों के लालन पालन और शिक्षा दीक्षा की बड़ी श्रेष्ठता बयान की गई है। इस्लाम की इन्हीं शिक्षाओं का नतीजा है कि बहुत से घरानों में यद्यपि अज्ञानता की वजह से लड़कियों की पैदाइश पर नापसन्दीदगी व्यक्त की जाती है, लेकिन जहां तक उनके लालन पालन और शिक्षा दीक्षा का संबंध है, किसी भी मुस्लिम घराने में उसमें कमी नहीं की जाती और बच्चियों को शहज़ादियों की तरह पाला और रखा जाता है।

इस्लामी समाज में औरत की चार हैसियतें हैं। वह किसी की बेटी, है, किसी की बहन है, किसी की पत्नी और किसी की मां है। इस्लाम ने इन चारों हैसियतों में उसकी इज़्ज़त व सम्मान की हिदायत की है। बेटी और बहन की हैसियत से उसकी शिक्षा दीक्षा का संक्षिप्त ज़िक्र तो गुज़र चुका है। पत्नी की हैसियत से उसके लिए जो शिक्षा दी गई है, वह निम्न आयतों व हदीसों से स्पष्ट है। अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿وَمِنْ آيَاتِهِ أَنْ خَلَقَ لَكُمْ مِنْ أَنْفُسِكُمْ أَزْوَاجًا لِتَسْكُنُوا إِلَيْهَا وَجَعَلَ بَيْنَكُمْ مَوَدَّةً وَرَحْمَةً﴾ (الروم ٣٠/ ٢١)

"और उसकी निशानियों में से है कि उसने तुम्हारे लिए तुम्हीं में से जोड़े पैदा किए ताकि तुम उनसे सुख हासिल करो और उसने तुम्हारे बीच मुहब्बत व रहमत पैदा कर दी।" (रूम : 21)

इस आयत में एक तो औरत को मर्द के लिए सुख का कारण बतलाया, जिससे उसका महत्व स्पष्ट है। दूसरे, दोनों जिन्सों के संबंध की क़िस्म को स्पष्ट किया कि उनके बीच कशमकश और तनाव की बजाए प्यार व मुहब्बत और स्नेह व रहमत का रिश्ता क़ायम होना और रहना चाहिए। एक दूसरे स्थान पर औरत के साथ सद व्यवहार की ताकीद इस तरह की :

﴿وَعَاشِرُوهُنَّ بِالْمَعْرُوفِ فَإِنْ كَرِهْتُمُوهُنَّ فَعَسَىٰ أَنْ تَكْرَهُوا شَيْئًا وَيَجْعَلَ اللَّهُ فِيهِ خَيْرًا كَثِيرًا﴾ (النساء/١٩)

"औरतों के साथ अच्छा बर्ताव करो, अगर वे तुम्हें नापसन्द हों (तब भी उनसे निर्वाह करो) हो सकता है कि जिसको तुम नापसन्द करते हो, उसमें अल्लाह तआला अधिक भलाई पैदा कर दे।" (निसा : 19)

एक और स्थान पर औरत के अधिकारों का इन शब्दों में उल्लेख किया :

﴿وَلَهُنَّ مِثْلُ الَّذِي عَلَيْهِنَّ بِالْمَعْرُوفِ﴾ (البقرة/٢٢٨)

"उन औरतों के लिए (मर्दों पर) भले तरीक़े के अनुसार वही (अधिकार) हैं जो औरतों पर (मर्दों के लिए) लागू होते हैं।" (बक़रा : 228)

हदीसों में नबी करीम सल्ल० ने भी अपनी उम्मत को बड़ी ताकीद की है। फ़रमाया :

«إِنَّ مِنْ أَكْمَلِ الْمُؤْمِنِينَ إِيمَانًا أَحْسَنُهُمْ خُلُقًا وَأَلْطَفُهُمْ بِأَهْلِهِ»

(الترمذي، الإيمان، باب في استكمال الإيمان والزيادة والنقصان، ح:٢٦١٢)

"पूर्ण मोमिन वह है जो आचरण में सबसे बेहतर और अपने पत्नी बच्चों पर सबसे ज़्यादा कृपालू हो।"

और फ़रमाया :

«خَيْرُكُمْ خَيْرُكُمْ لِأَهْلِهِ، وَأَنَا خَيْرُكُمْ لِأَهْلِي» (سنن ابن ماجة، النكاح، باب حسن معاشرة النساء، ح:١٩٧٧)

"तुममें सबसे बेहतर वह है, जो अपनी पत्नी के लिए सबसे बेहतर है और मैं अपने घर वालों के लिए सबसे बेहतर हूं।"

एक और रिवायत में इसको यूं बयान फ़रमया :

«خِيَارُكُمْ خِيَارُكُمْ لِنِسَائِهِمْ» (حواله مذكور، ح:١٩٧٨)

"तुममें सबसे बेहतर वह है जो अपनी औरतों के हक़ में बेहतर है।"

हज्जतुल विदाअ के मौक़े पर नबी सल्ल० ने जो अहम बातें अपनी उम्मत को इरशाद फ़रमाई, उनमें एक यह भी थी :

«اسْتَوْصُوا بِالنِّسَاءِ خَيْرًا فَإِنَّهُنَّ عِنْدَكُمْ عَوَانٍ» (سنن ابن ماجة، النكاح، باب حق المرأة على الزوج، ح:١٨٥١)

"औरतों के साथ अच्छा व्यवहार करना, वे तुम्हारे पास असीर (क़ैदी) हैं।"

एक मौक़े पर कुछ औरतों ने नबी सल्ल० की सेवा में हाज़िर होकर अपने पतियों की शिकायतें कीं तो आपने ऐसे मर्दों के बारे में फ़रमाया :

«فَلَا تَجِدُونَ أُولٰئِكَ خِيَارَكُمْ» (سنن ابن ماجه، النكاح، باب ضرب النساء، ح:١٩٨٥)

"उन लोगों को तुम अपने में बेहतर नहीं पाओगे।"

एक और हदीस में औरत को बेहतरीन हसती क़रार दिया गया है :

«خَيْرُ مَتَاعِ الدُّنْيَا الْمَرْأَةُ الصَّالِحَةُ»(صحيح مسلم، النكاح، باب خير متاع الدنيا المرأة الصالحة، ح:١٤٦٩)

मां की हैसियत से इस्लाम में औरत का दर्जा बहुत ऊंचा है। अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿ وَوَصَّيْنَا ٱلْإِنسَٰنَ بِوَٰلِدَيْهِ حَمَلَتْهُ أُمُّهُۥ وَهْنًا عَلَىٰ وَهْنٍ وَفِصَٰلُهُۥ فِى عَامَيْنِ أَنِ ٱشْكُرْ لِى وَلِوَٰلِدَيْكَ ﴾ (لقمان٣١/١٤)

"हमने इंसान को उसके मां बाप के बारे में (सद व्यवहार की) बड़ी तकीद की है। उसकी मां ने कमज़ोरी पर कमज़ोरी सहन करते हुए गर्भ की मुद्दत पूरी की और उसका दूध छुड़ाना दो साल में है (यह इसलिए) कि वह मेरा और अपने मां बाप का शुक्र अदा करे।" (लुक़मान : 14)

दूसरी जगह फ़रमाया :

﴿ وَوَصَّيْنَا ٱلْإِنسَٰنَ بِوَٰلِدَيْهِ إِحْسَٰنًا حَمَلَتْهُ أُمُّهُۥ كُرْهًا وَوَضَعَتْهُ كُرْهًا ﴾

(الأحقاف٤٦/١٥)

"हमने इंसान को मां बाप के साथ सद व्यवहार की ताकीद की है, उसकी मां ने उसे परेशानी के साथ गर्भ में रखा और कष्ट व तकलीफ़ के साथ उसको जना।" (अहक़ाफ़ : 15)

इन दोनों आयात में यद्यपि मां बाप के साथ सद व्यवहार का हुक्म और उसकी ताकीद की गई है, लेकिन मां का ज़िक्र जिस अंदाज़ में हुआ है और गर्भ व पैदाइश की तकलीफ़ का विशेष रूप से जिस तरह ज़िक्र किया गया है, उससे मालूम होता है कि मां का हक़ बाप से कई गुना ज़्यादा है और हदीस से भी इसकी पुष्टि होती है, अतएव हज़रत अबू हुरैरह रज़ि० से मरवी है कि एक व्यक्ति नबी करीम सल्ल० की सेवा में हाज़िर हुआ और पूछा :

«مَنْ أَحَقُّ النَّاسِ بِحُسْنِ صَحَابَتِي؟ قَالَ: أُمُّكَ، قَالَ: ثُمَّ مَنْ؟ قَالَ: ثُمَّ أُمُّكَ، قَالَ: ثُمَّ مَنْ؟ قَالَ: ثُمَّ أُمُّكَ، قَالَ: ثُمَّ مَنْ؟ قَالَ: ثُمَّ أَبُوكَ»(صحيح البخاري، الأدب، باب من أحق الناس بحسن الصحبة، ح:٥٩٧١ وصحيح مسلم، البر والصلة والأدب، باب بر الوالدين وأيهما أحق به، ح:٢٥٤٨ واللفظ له)

"मेरे सद व्यवहार का सबसे ज़्यादा हक़दार कौन है? आपने फ़रमाया : तुम्हारी मां। उसने पूछा : फिर कौन? आपने फ़रमाया : तुम्हारी मां। उसने फिर पूछा : फिर कौन? आपने फ़रमाया : तुम्हारी मां। उसने कहा, फिर कौन? आपने जवाब में फ़रमाया : तुम्हारा बाप।" (सहीह बुख़ारी, सहीह मुस्लिम)

इस हदीस में तीन बार मां के साथ सद व्यवहार करने की ताकीद करने के बाद चौथी बार बाप के साथ सद व्यवहार का हुक्म दिया गया है। उसकी वजह उलमा ने यह लिखी है कि तीन तकलीफ़ें ऐसी हैं जो केवल मां बर्दाश्त करती है, बच्चे के बाप का उसमें हिस्सा नहीं। एक गर्भ की तकलीफ़, जो नौ महीने औरत सहन करती है। दूसरी बच्चा होने (ज़चगी) की तकलीफ़, जो औरत के लिए मौत व ज़िन्दगी की कशमकश का एक ख़तरनाक चरण होता है। तीसरी रज़ाअत (दूध पिलाने) की तकलीफ़, जो दो साल तक रहती है। बच्चे के दूध पिलाने का यह ज़माना ऐसा होता है कि मां रातों को जाग कर भी बच्चे की हिफ़ाज़त व देख भाल का मुश्किल काम करती है। इस दौरान बच्चा बोलकर न अपनी ज़रूरत बतला सकता है, न अपनी कोई तकलीफ़ व्यक्त ही कर सकता है। केवल मां की ममता और उसकी बेपनाह शफ़क़त और प्यार ही उसका एक मात्र सहारा होता है। औरत यह तकलीफ़ भी हँसी ख़ुशी सहन करती है।

ये तीन अवसर ऐसे हैं कि केवल औरत ही इसमें अपना महान रोल

अदा करती है और मर्द का इसमें हिस्सा नहीं। इन्हीं तकलीफ़ों का आभास करते हुए शरीअत ने बाप के मुक़ाबले में मां के साथ सद व्यवहार की ज़्यादा ताकीद की है।

शादी के पहले और शादी के बाद

शादी से पहले उसकी शिक्षा व देखभाल की श्रेष्ठता और शादी के बाद औरत से अच्छा मामला करने की ताकीद विस्तार से बयान हो चुकी है, लेकिन औरत के लिए दो चरण उसकी ज़िंदगी में बड़े अहम मोड़ की हैसियत रखते हैं। एक चरण शादी से पहले पति पत्नी के रिश्ते में बंधने में उसकी पसन्द और नापसन्द का मसला है और दूसरा चरण वह है कि शादी के बाद अगर पति सही चरित्र का साबित न हो, तो उससे छुटकारे की क्या सूरत है? इन दोनों चरणों के लिए भी इस्लाम ने औरत की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए ऐसे उचित निर्देश दिए हैं कि औरत पर किसी तरह से अत्याचार व ज़ुल्म न हो सके।

1. निकाह में औरत की पसन्द और उसकी मर्ज़ी के मसले में आम तौर पर बड़ी गड़बड़ी पाई जाती है। कहीं तो औरत को बिल्कुल विवश बना दिया गया है, उसकी पसन्द व नापसन्द की कोई परवाह नहीं की जाती और कहीं ऐसी छूट दे दी गई है कि मां बाप और उसके संरक्षकों की राय और मशवरे का कोई महत्व बाक़ी नहीं रहता। इस्लाम ने इस समस्या के मुक़ाबले में यह सन्तुलित रास्ता अपनाया कि एक तरफ़ वली (संरक्षक) की संरक्षकता और इजाज़त को ज़रूरी क़रार दिया और फ़रमाया :

«لاَ نِكَاحَ إِلاَّ بِوَلِيٍّ» (سنن أبي داود، النكاح، باب في الولي، ح:٢٠٨٥)

"वली के बिना निकाह सही नहीं।"[1]

इस हदीस की रौशनी में अधिकांश इमामों के निकट ऐसा निकाह

---

1. विस्तृत जानकारी के लिए देखें, फ़त्हुलबारी, नीलुल अवतार, भाग-6/252-256।

आयोजित ही नहीं होता, लेकिन फ़ुक़्हा का एक गिरोह इस हदीस के अर्थापन की वजह से निकाह हो जाने का तो क़ाइल है, लेकिन इसके नापसन्दीदा होने में उसे भी कलाम नहीं और कुछ शक्लों में संरक्षकों को ऐसा निकाह ख़त्म कराने का हक़ रहता है।

(फ़तुहुल क़दीर इब्ने हुमाम, 3/255)

दूसरी तरफ़ औरत की रज़ामन्दी और उसकी इजाज़त भी ज़रूरी क़रार दी गई है और फ़रमाया :

«لاَ تُنْكَحُ الأَيِّمُ حَتَّى تُسْتَأْمَرَ» (صحيح البخاري، النكاح، باب لا ينكح الأب وغيره البكر والثيب إلا برضاهما، ح:٥١٣٦)

"विधवा औरत का निकाह उसके मशवरे के बिना न किया जाए।" और

«لاَ تُنْكَحُ الْبِكْرُ حَتَّى تُسْتَأْذَنَ» (حواله مذكور)

"कुंवारी लड़की का निकाह उसकी इजाज़त के बिना न किया जाए।"

कुंवारी औरत के अंदर शर्म व हया ज़्यादा होती है, इसलिए उससे इजाज़त लेने का मसला मुश्किल था, इसे भी शरीअत ने इस तरह हल फ़रमा दिया कि "बाकरा" की ख़ामोशी ही उसकी इजाज़त और रज़ामन्दी है।"

औरत की रज़ामन्दी और उसकी इजाज़त का शरीअत में कितना महत्व है, इसका अंदाज़ा रिसालत दौर की एक घटना से आसानी से लगाया जा सकता है कि एक महिला, ख़नसा बिन्ते ख़िज़ाम अंसारिया, का निकाह उनके बाप ने उनकी इजाज़त के बिना कर दिया। उन्हें यह रिश्ता नापसन्द था। उन्होंने आकर नबी सल्ल० की सेवा में बाप की शिकायत की, तो आपने उसको नापसन्द फ़रमाया और निकाह को रद्द कर दिया अर्थात तुड़वा दिया। (सहीह बुख़ारी, निकाह, हदीस 5138)

दूसरा चरण : शादी के बाद अगर पति औरत के निकट नापसन्दीदा

हो, तो उससे छुटकारा हासिल करने के लिए उसी तरह औरत को ख़ुलअ का हक़ दिया गया है, जिस तरह मर्द को नापसन्दीदा पत्नी से छुटकारा हासिल करने के लिए तलाक़ का हक़ हासिल है। कुछ लोग समझते हैं कि मर्द को तो तलाक़ का हक़ है, लेकिन उसके मुक़ाबले में औरत मजबूर है। वह अगर पति को नापसन्द करती है तो उसके लिए उससे निजात हासिल करने की कोई सूरत नहीं। यह अवधारणा सही नहीं। औरत को मर्द के तलाक़ के हक़ के मुक़ाबले में इस्लाम ने ख़ुलअ का हक़ प्रदान किया है, अलबत्ता उसने मर्द व औरत दोनों को यह ताकीद की है कि दोनों अपना यह हक़ अत्यन्त सख़्त ज़रूरी हालात ही में इस्तेमाल करें। मात्र ज़ायक़ा बदलने के लिए इस्तेमाल न करें। अगर कोई ऐसा करेगा, तो सख़्त गुनाहगार होगा।

इसी तरह शरीअते इस्लामिया ने मर्द को तलाक़ देने के बाद रुजूअ (पलटने) का हक़ दिया है इसमें औरत पर ज़ुल्म की सूरत हो सकती थी कि तलाक़ देने के बाद इद्दत के अंदर बार बार मर्द रुजूअ कर ले और यूं औरत को न आबाद करे न पूरी तरह आज़ाद करे और वह बीच में लटकी रहे, जिस तरह अज्ञानता काल में औरत को इस तरह तंग किया जाता था कि न उसको तलाक़ देते थे न आज़ाद करते थे, तलाक़ देते और इद्दत गुज़रने से पहले ही रुजूअ कर लेते, फिर तलाक़ देते और फिर इद्दत गुज़रने से पहले रुजूअ कर लेते और यह सिलसिला सालों तक इस तरह विलम्बित रहता। शरीअत ने इस ज़ुल्म के निवारण के लिए तलाक़ के हक़ को सीमित कर दिया कि मर्द दो बार तो तलाक़ देने के बाद रुजूअ कर सकता है, लेकिन तीसरी बार तलाक़ देने के बाद रुजूअ का बिल्कुल हक़ नहीं रहता। फिर मसला 'हत्ता तनकि-ह ज़वजन ग़ैरहू' (यहां तक कि वह दूसरे पति से निकाह करे) वाला आ जाता है।

ये कुछ संक्षिप्त इशारे हैं जिनसे स्पष्ट है कि इस्लाम ने औरत को इज़्ज़त व सम्मान का वह स्थान प्रदान किया है जो किसी भी धर्म और व्यवस्था ने नहीं दिया।

मर्द और औरत के कार्यक्षेत्र का मतभेद

इसी तरह इस्लाम की एक विशिष्ठ विशेषता यह भी है कि उसने मर्द और औरत दोनों के कार्यक्षेत्र को भी निर्धारित कर दिया है। इस बात में तो मतभेद की कोई छोटी सी गुंजाइश भी नहीं कि अल्लाह ने मर्द और औरत दोनों को अलग अलग उद्देश्यों के लिए पैदा किया है। इसलिए समझदारी का तक़ाज़ा यह है कि दोनों जिन्सों की मानसिक व व्यवहारिक क्षमताओं में प्राकृतिक फ़र्क़ को भी माना जाए और इस फ़र्क़ की बुनियाद पर दोनों के कार्यक्षेत्र के मतभेद को भी। यद्यपि दोनों अपने अपने क्षेत्र में इंसानी ज़िंदगी के लिए अत्यन्त आवश्यक और एक दूसरे के लिए पूरक की हैसियत रखते हैं। औरत मर्द से बेनियाज़ नहीं रह सकती और मर्द औरत को नज़रअंदाज़ करके ज़िंदगी की राह पर एक क़दम भी नहीं चल सकता, लेकिन दोनों की मानसिक क्षमताओं में फ़र्क़ है, दोनों की रचना का उद्देश्य अलग अलग है और दोनों के कार्यक्षेत्र एक दूसरे से भिन्न और अलग अलग हैं।

इसके अलावा शरीअते इस्लामिया ने मानसिक व व्यवहारिक फ़र्क़ व दूरी और कार्यक्षेत्र के मतभेद की वजह से बहुत सी चीज़ों में मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ रखा है और कुछ ज़िम्मेदारियां केवल मर्दों पर लागू की हैं, औरतों को उनसे अपवाद रखा है। इसी तरह कुछ रियायतों से औरतों को नवाज़ा है, मर्दों को उनसे वंचित रखा है, लेकिन उन प्राकृतिक क्षमताओं के फ़र्क़ व विभेद का मतलब किसी जिन्स की श्रेष्ठता और दूसरी जिन्स की तुच्छता नहीं है। मिसाल के तौर पर मर्द के अंदर अल्लाह तआला ने क्षमता रखी है कि वह औरत को प्रभावित कर सकता है, लेकिन स्वयं प्रभावित नहीं हो सकता, उसके विपरीत औरत के अंदर क्षमता रखी है कि वह प्रभावित हो सकती है, लेकिन वह प्रभावित कर नहीं सकती। मानो मर्द के अंदर रचना व अविष्कार का जोहर रखा गया है, तो औरत को उस रचना व अविष्कार के फल व नतीजे संभालने का ढंग और हुनर

प्रदान किया गया है। इसी तरह अगर मर्द को हुकूमत करने का हौसला प्रदान किया गया है, तो औरत को घर बसाने की योग्यता प्रदान की गई है। मर्द के अंदर शक्ति व ताक़त के गुण रखे गए हैं, तो औरत को दिलकशी व दिल मोहने की सुन्दरता प्रदान की गई है और इस संसार की शोभा किसी एक ही जिन्स के गुणों से नहीं है, बल्कि दोनों क़िस्म के गुणों से है और दोनों ही इंसानी समाज के अहम सदस्य हैं।

इंसानी समाज का वजूद, उसकी मौजूदगी और उसका क़ायम रहना उन दोनों में से किसी एक ही पर निर्भर नहीं है कि सारा महत्व बस उसी को दे दिया जाए और दूसरे की एक तरफ़ से अवहेलना कर दी जाए, बल्कि इस पहलू से दोनों समान हैसियत रखते हैं। अलबत्ता गुण और क्षमता दोनों अलग अलग लेकर आए हैं। इसलिए मर्द जो काम कर सकते हैं, औरतें वे सारे काम नहीं कर सकतीं, लेकिन ऐसे मर्दाना काम न कर सकना, औरत की तुच्छता नहीं है। इसी तरह औरत के कुछ काम मर्द नहीं कर सकते, तो उसमें उनके लिए तुच्छता का कोई पहलू नहीं। दोनों अपनी अपनी क्षमताओं के अनुसार कर्मों के पाबन्द हैं। इसलिए इस्लाम इसी बात को पसन्द करता है कि दोनों जिन्स अपने अपने क्षेत्र में काम करके क़ुदरत की मन्शा की पूर्ति करें। एक दूसरे के कामों में हस्तक्षेप करके बिगाड़ का कारण न बनें। वे एक दूसरे के मददगार हों, मुक़ाबिल न हों। साथी हों, दुश्मन न हों। जो भी इंसानी समाज इस स्वभाविक उसूल से मुंह मोड़ेगा, शान्ति व सुकून से वंचित हो जाएगा।

इसलिए इस्लाम ने इंसानी समाज को बिगाड़ से बचाने के लिए मर्द व औरत दोनों के कार्यक्षेत्र को इनकी स्वभाविक क्षमताओं के अनुसार निर्धारित कर दिया है। मर्द का कार्यक्षेत्र घर से बाहर है और औरत का असल कार्यक्षेत्र घर की चार दीवारी और उसी बुनियाद पर उसने मर्द और औरत के बीच बहुत से मामलों में फ़र्क़ किया है, जिसकी संक्षिप्त जानकारी निम्न है।

आर्थिक देख रेख का ज़िम्मेदार और पति का मुखिया होना

इस्लाम ने औरत को कमाने (नौकरी करने या तिजारत व कारोबार करने) से अलग रखा है और भरण पोषण की सारी ज़िम्मेदारी मर्द पर डाली है, अतएव औरत जब तक, वह अविवाहित है, मां, बाप या भाई या दूसरी सूरत में चचा आदि उसके कफ़ील होंगे और शादी के बाद उसका पति। इसी हिसाब से मर्द को औरतों का संरक्षक (सरबराह, हाकिम और निगरां) कहा गया है।

﴿الرِّجَالُ قَوَّامُونَ عَلَى النِّسَاءِ بِمَا فَضَّلَ اللَّهُ بَعْضَهُمْ عَلَى بَعْضٍ وَبِمَا أَنْفَقُوا مِنْ أَمْوَالِهِمْ﴾ (النساء/٣٤)

"मर्द औरतों पर संरक्षक हैं, क्योंकि अल्लाह ने कुछ को कुछ पर श्रेष्ठता दी और इस कारण वे मर्द अपने मालों से ख़र्च करते हैं।" (निसा : 34)

मर्द की जिंस श्रेष्ठता का यहां उल्लेख किया गया है वह यही है कि चूंकि परिवार का कफ़ील वह है और तिजारत व कारोबार इसी की ज़िम्मेदारी है। इसको इसी प्रकार की योग्यताओं से नवाज़ा गया है और वही यह बोझ उठाने के क़ाबिल भी है। इसलिए उसकी ज़िम्मेदारी को देखते हुए उसका हक़ भी ज़्यादा है और वह हक़ यह है कि ख़ानदान का मुखिया भी वह है। मर्द की इस श्रेष्ठता और उच्चता को दूसरी आयत में यूं बयान किया गया है :

﴿وَلِلرِّجَالِ عَلَيْهِنَّ دَرَجَةٌ﴾ (البقرة/٢٢٨)

"मर्दों को औरतों पर एक दर्जा (अधिक) हासिल है।"

(बक़रा : 228)

औरत के लिए परदे का हुक्म

इस्लाम ने औरत को चूंकि घर से बाहर की ज़िम्मेदारियों से अलग

रखा है, इसलिए उसने औरतों के लिए यह ताकीद की है कि वह अपना समय घर के अंदर गुज़ारें।

﴿وَقَرْنَ فِي بُيُوتِكُنَّ وَلَا تَبَرَّجْنَ تَبَرُّجَ الْجَاهِلِيَّةِ الْأُولَى﴾ (الاحزاب: ٣٣/٣٣)

"अपने घरों में बैठी रहो और पहले अज्ञानता काल की तरह बनाव श्रृंगार न करती फिरो।" (अहज़ाब : 33)

इस आयत से यही मालूम होता है कि औरत का काम यह बिल्कुल नहीं है कि वह बाज़ार की व्यापारी, दफ़्तर की क्लर्क, अदालत की जज, फ़ौज की सिपाही, किसी अफ़सर की सेक्रेटरी, किसी दुकान में मॉडल गर्ल या एयर होस्टेस बने, बल्कि उसके काम का वास्तविक मैदान उसका घर ही है, अतएव इमाम जुसास रह० इस आयत की व्याख्या में फ़रमाते हैं :

«وَفِيهِ الدَّلَالَةُ عَلَى أَنَّ النِّسَاءَ مَأْمُورَاتٌ بِلُزُومِ الْبَيْتِ مَنْهِيَّاتٌ عَنِ الْخُرُوجِ»

"यह आयत इस बात पर दलील है कि औरतें अपने घरों में टिक कर रहने की पाबन्द हैं और बाहर निकलना उनके लिए वर्जित है।"

यह आयत पाक पत्नियों के बारे में अवतरित हुई थी, लेकिन उसमें जो आदेश दिए गए हैं वे तमाम मुसलमान औरतों के लिए सामान्य हैं, अतएव यही इमाम जुसास रह० लिखते हैं :

«فَهٰذِهِ الْأُمُورُ كُلُّهَا مِمَّا أَدَّبَ اللّٰهُ تَعَالَى بِهِ نِسَاءَ النَّبِيِّ ﷺ صِيَانَةً لَهُنَّ وَسَائِرُ نِسَاءِ الْمُؤْمِنِينَ مُرَادَاتٌ بِهَا» (احكام القرآن: ٣/٤٤٣)

"ये तमाम काम वे हैं जिनके द्वारा अल्लाह तआला ने पाक पत्नियों को उनकी इज़्ज़त व असमत की हिफ़ाज़त के लिए शिष्टाचार सिखलाए और तात्पर्य उनसे तमाम मोमिन औरतें हैं।"

अलबत्ता ज़रूरत के समय वे घर से बाहर निकल सकती हैं, लेकिन पर्दे की पाबन्दी के साथ, जिसका हुक्म भी क़ुरआन मजीद में मौजूद है और हदीसों में भी विस्तार से बयान किया गया है।

शरीअत की निगाह में औरत के लिए घर के काम का जितना महत्व है, उसका अंदाज़ा इससे आसानी से लगाया जा सकता है कि उपासना हों या अन्य चीज़ें उनको औरत पर सामूहिक शक्ल में फ़र्ज़ ही नहीं किया गया है। नमाज़ जो सबसे अहम उपासना है। मर्द पर तो जमाअत से फ़र्ज़ है और बिना जमाअत के पढ़ने पर सख़्त चेतावनी बयान की गई हैं, लेकिन औरत पर नमाज़ तो ज़रूर फ़र्ज़ है, लेकिन उसके लिए जमाअत ज़रूरी नहीं है। यद्यपि उसे यह इजाज़त तो हासिल है कि अगर वह मस्जिद में आकर जमाअत से नमाज़ पढ़ना चाहती है, तो पर्दे के आयोजन में आकर अदा कर सकती है लेकिन उसे प्रलोभन यह दिया गया है कि उसके लिए ज़्यादा बेहतर घर के अंदर ही नमाज़ पढ़ना है, बल्कि घर के अंदर भी वह हिस्सा या कोना ज़्यादा बेहतर है जो घर का ज़्यादा से ज़्यादा अंदरूनी हिस्सा हो। अतएव फ़रमाया :

«خَيْرُ مَسَاجِدِ النِّسَاءِ قَعْرُ بُيُوتِهِنَّ» (مسند احمد: ٦/٢٩٧، ح: ٢٧٠٧٧)

"औरतों के लिए बेहतरीन मसाजिद (उपासना स्थल) उनके घरों के सबसे अंदरूनी हिस्से हैं।"

मशहूर सहाबी हज़रत अबू हुमैद साअदी रज़ि० की पत्नी हज़रत उम्मे हुमैद रज़ि० रसूलुल्लाह सल्ल० की सेवा में हाज़िर हुईं और अर्ज़ किया, "मैं आपके साथ नमाज़ पढ़ना पसन्द करती हूं।" तो आपने फ़रमाया : "मुझे यक़ीन है कि तुम्हारी इच्छा यही है, लेकिन तुम्हें मालूम होना चाहिए कि तुम्हारा अपने मकान की किसी तंग कोठरी में नमाज़ पढ़ना तुम्हारे लिए खुले कमरे में नमाज़ पढ़ने से बेहतर है और तुम्हारी बीच मकान में पढ़ी जाने वाली नमाज़ उस नमाज़ से श्रेष्ठ है जो तुम अपने मौहल्ले की किसी मस्जिद में पढ़ो। इसी तरह तुम्हारी जो नमाज़

अपने मौहल्ले की किसी मस्जिद में अदा हो वह तुम्हारे हक़ में मेरी मस्जिद (मस्जिद नबवी) में पढ़ी जाने वाली नमाज़ से बेहतर है।"

इस हदीस के रावी हज़रत अब्दुल्लाह बिन सुवैद रह० बयान करते हैं (जो हज़रत उम्मे हुमैद रज़ि० के भतीजे हैं) कि उनकी फूफी ने अपने लिए मकान का सबसे अंदरूनी और अंधेरा हिस्सा नमाज़ के लिए पसन्द कर लिया था और वहीं सारी उम्र नमाज़ पढ़ती रहीं।

(मुसनद अहमद : 6/371)

जुमा भी सामूहिक उपासना का एक अहम प्रदर्शन है। इसमें भी औरतें यद्यपि शिरकत कर सकती हैं लेकिन यह सामूहिक उपासना भी औरत पर फ़र्ज़ नहीं है। नबी सल्ल० का फ़रमान है :

«اَلْجُمُعَةُ حَقٌّ وَاجِبٌ عَلٰى كُلِّ مُسْلِمٍ فِي جَمَاعَةٍ إِلَّا أَرْبَعَةً: عَبْدٌ مَمْلُوكٌ أَوِ امْرَأَةٌ أَوْ صَبِيٌّ أَوْ مَرِيضٌ»(سنن أبي داود، الصلاة، باب الجمعة للمملوك والمرأة، ح:١٠٦٧)

"जुमा हर मुसलमान पर जमाअत से पढ़ना वाजिब है। अलबत्ता गुलाम, औरत, बच्चा और रोगी इस (जुमा की अदाएगी) से अपवाद हैं।"

शरीअत ने मुसलमानों को अपने मरने वाले मुसलमान भाइयों की नमाज़े जनाज़ा पढ़ने की बड़ी ताकीद की और उसकी विशेष श्रेष्ठता बयान की है, लेकिन औरतों के लिए इसको ज़रूरी नहीं समझा, बल्कि उनको जनाज़ों में शिरकत से मना कर दिया गया। हज़रत उम्मे अतिया रज़ि० रिवायत करती हैं :

«نُهِينَا عَنِ اتِّبَاعِ الْجَنَائِزِ وَلَمْ يُعْزَمْ عَلَيْنَا»(صحيح البخاري، الجنائز، باب اتباع النساء الجنازة، ح:١٢٧٨)

"हम (औरतों) को जनाज़े की पाबन्दी करने से मना कर दिया गया है लेकिन इसमें ज़्यादा सख़्ती नहीं की गई।"

और इसी हदीस के तहत हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० इब्ने मुनीर रह० के हवाले से लिखते हैं :

«فَصَلَ الْمُصَنِّفُ بَيْنَ هٰذِهِ التَّرْجَمَةِ وَبَيْنَ فَضْلِ اتِّبَاعِ الْجَنَائِزِ بِتَرَاجِمَ كَثِيرَةٍ تُشْعِرُ بِالتَّفْرِقَةِ بَيْنَ النِّسَاءِ وَالرِّجَالِ، وَأَنَّ الْفَضْلَ الثَّابِتَ فِي ذٰلِكَ يَخْتَصُّ بِالرِّجَالِ دُونَ النِّسَاءِ لأَنَّ النَّهْيَ يَقْتَضِي التَّحْرِيمَ أَوِ الْكَرَاهَةَ، وَالْفَضْلُ يَدُلُّ عَلَى الاِسْتِحْبَابِ، وَلاَ يَجْتَمِعَانِ وَأُطْلِقَ الْحُكْمُ هُنَا لِمَا يَتَطَرَّقُ إِلَيْهِ مِنَ الاِحْتِمَالِ، وَمِنْ ثَمَّ اخْتَلَفَ الْعُلَمَاءُ فِي ذٰلِكَ وَلاَ يَخْفٰى أَنَّ مَحَلَّ النِّزَاعِ إِنَّمَا هُوَ حَيْثُ تُؤْمَنُ الْمَفْسَدَةُ» (فتح الباري، الجنائز، باب اتباع النساء الجنائز: ٣/ ١٨٥)

"इमाम बुख़ारी ने अध्याय "इत्तिबाइन्निसाइल जनाइज़" और अध्याय "फ़ज़्लु इत्तिबाइल जनाइज़" के बीच अनेक अध्यायों के साथ फ़ासला कर दिया है, जिससे यह मालूम होता है कि इस मसले में मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ है और जनाज़े में शिरकत की जो श्रेष्ठता है, वह केवल मर्दों के साथ ख़ास है। औरतें इसकी सम्बोधित नहीं। इसलिए कि औरतों को जनाज़े में शिरकत से मना किया गया है। यह मनाही तहरीम या कराहत की ज़रूरत से है। जबकि श्रेष्ठता इस्तहबाब पर विवेचन करती है और तहरीम या कराहत फ़ज़्ल से के साथ जमा नहीं हो सकते और यहां (इत्तिबाइन्निसाइल जनाइज़) में हुक्म को स्वतंत्र रखा गया, क्योंकि उसमें (दूसरी) शंकाएं (श्रेष्ठता का न होना) की भी संभावना है, इसी वजह से उसमें उलमा के बीच मतभेद हुआ और छुपा न रहे कि असल विवाद का कारण वह सूरत है जिसमें किसी बिगाड़ का ख़तरा न रहे (और जिस जगह बिगाड़ का डर हो वह सर्व सहमति से नाजाइज़ होगी)"

जिहाद भी इस्लाम का एक अहम फ़रीज़ा है, लेकिन इसे भी मर्दों ही पर फ़र्ज़ किया गया है, औरतों पर नहीं। हज़रत आइशा रज़ि० ने रसूलुल्लाह सल्ल० से पूछा :

«عَلَى النِّسَاءِ جِهَادٌ؟»

"क्या औरतों पर भी जिहाद फ़र्ज़ है?"

आपने फ़रमाया :

«نَعَمْ عَلَيْهِنَّ جِهَادٌ لَا قِتَالَ فِيهِ: اَلْحَجُّ وَالْعُمْرَةُ»(سنن ابن ماجه، المناسك، باب الحج جهاد النساء، ح:٢٩٠١)

"हां! इन पर भी जिहाद फ़र्ज़ है, लेकिन लड़ाई वाला जिहाद नहीं, इनका जिहाद हज और उमरा है।"

ग़ज़वा बदर के अवसर पर हज़रत उम्मे वरक़ा बिन्ते नोफ़िल रज़ि० ने नबी करीम सल्ल० की सेवा में अर्ज़ किया :

«ائْذَنْ لِي فِي الْغَزْوِ مَعَكَ أُمَرِّضُ مَرْضَاكُمْ لَعَلَّ اللّٰهَ أَنْ يَرْزُقَنِي شَهَادَةً»

"मुझे भी इजाज़त दीजिए कि आपके साथ जंग में चलूं और घायलों और बीमारों की देखभाल का काम करूं, शायद इस तरीक़े से अल्लाह तआला मुझे भी शहादत का दर्जा प्रदान कर दे।"

आपने फ़रमाया :

«قَرِّي فِي بَيْتِكِ، فَإِنَّ اللّٰهَ عَزَّوَجَلَّ يَرْزُقُكِ الشَّهَادَةَ»

"तुम अपने घर ही में टिक कर रहो, तुम्हें अल्लाह तआला (ऐसे ही) शहादत का दर्जा प्रदान कर देगा।"

रावी का बयान है :

«فَكَانَتْ تُسَمَّى الشَّهِيدَةَ»(سنن أبي داود، الصلاة، باب إمامة النساء، ح:٥٩١)

"उनका नाम ही "शहीदा" पड़ गया था।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ जंगों में औरतों ने भी हिस्सा लिया है, लेकिन वह मात्र गिनती की कुछ औरतें थीं और उन्होंने भी वहां जाकर मर्दों के कांधे से कांधा मिलाकर मोर्चे नहीं संभाले थे न तोप व तलवार से वह सशस्त्र थीं, बल्कि केवल पीछे रहकर फ़ौजियों की ख़ूराक और मरहम पट्टी का काम करती रही थीं। जिस तरह हज़रत उम्मते अतिया अंसारी रज़ि० ने स्पष्टीकरण किया है :

«غَزَوْتُ مَعَ رَسُولِ اللهِ ﷺ سَبْعَ غَزَوَاتٍ، أَخْلُفُهُمْ فِي رِحَالِهِمْ، فَأَصْنَعُ لَهُمُ الطَّعَامَ، وَأُدَاوِي الْجَرْحَى، وَأَقُومُ عَلَى الْمَرْضَى»

(صحيح مسلم، الجهاد، باب النساء الغازيات... الخ، ح:١٨١٢ وسنن ابن ماجه، الجهاد، باب العبيد والنساء يشهدون مع المسلمين، ح:٢٨٥٦)

"मैंने रसूलुल्लाह सल्ल० के साथ सात जंगों में शिरकत की मैं उनके ख़ैमों में पीछे रहतीं, उनके लिए खाना तैयार करती, घायलों की मरहम पट्टी करती और बीमारों की देखभाल करती।"

इन अहादीस से स्पष्ट है कि जुमा, जमाअत, जनाज़ा और जिहाद आदि फ़राइज़ में औरतों की शिरकत को ज़रूरी क़रार नहीं दिया गया है, बल्कि उनके साथ यह विशेष रियायत रखी गई है कि घर बैठे ही उनको इन फ़राइज़ का सवाब मर्दों ही की तरह मिल जाएगा बशर्ते कि वे घरेलू काम पूरी ज़िम्मेदारी से अदा करें।

विरासत में औरत का आधा हिस्सा

विरासत में भी मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ है। "मर्द के लिए दो औरतों के जितना है" (निसा : 11)। और इसकी वजह भी वही मर्द व औरत के कार्यक्षेत्र का मतभेद है। इस्लाम में चूंकि भरण पोषण का

ज़िम्मेदार मर्द को बनाया गया है, औरत को नहीं, इसलिए मर्द की ज़िम्मेदारियों के बोझ के हिसाब से उसे विरासत में हिस्सा भी दो गुना दिया गया है। अगर ऐसा न किया जाता तो मर्द पर ज़ुल्म होता इसको एक मिसाल से यूं समझा जा सकता है।

एक व्यक्ति मर जाता है, उसके वारिस में एक लड़का और एक लड़की है। उसकी जायदाद में से "मर्द के लिए दो औरतों के जितना है" के तहत लड़के को एक लाख की रक़म मिलती है और लड़की को पचास हज़ार रुपये। लड़की के यह पचास हज़ार रुपये न केवल महफ़ूज़ रहेंगे, बल्कि उनमें वृद्धि होगी, अगर वह उसको किसी कारोबार में लगा दे तो लाभ मिले। इसके अलावा शादी पर उसे पति की तरफ़ से मेहर मिलेगा, जिससे उसकी आर्थिक स्थिति में वृद्धि ही होगी, जबकि उसके विपरीत लड़के को अपनी शादी पर भी ख़र्च करना पड़ेगा और आने वाली पत्नी को मेहर भी अदा करेगा, उसके खान पान का भी ज़िम्मेदार होगा और शायद अपनी बहन की शादी का ख़र्च भी उसे ही सहन करना पड़े। मकान अगर नहीं है तो पत्नी बच्चों के लिए मकान का भी प्रबन्ध करेगा। जबकि उसकी बहन इन तमाम झमेलों और खखेड़ों से महफ़ूज़ है। इससे अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इस्लाम की विरासत की व्यवस्था किस तरह हिक्मत से भरी और न्याय के ठीक अनुसार है।

मर्द को एक से ज़्यादा चार तक शादी करने की इजाज़त

इस्लाम में मर्द को ज़रूरत पड़ने पर एक से ज़्यादा (चार तक) पत्नियां करने का हक़ हासिल है और पश्चिम से प्रभावित वर्ग इस पर कितना भी नाक भौं चढ़ाएं, लेकिन सही बात यह है कि इस्लाम ने मर्द को यह हकीमाना इजाज़त देकर इंसानी समाज को बहुत सी ख़राबियों से बचाने का प्रबन्ध किया है जिसे अब पश्चिम के वे बुद्धिजीवी भी स्वीकार कर रहे हैं जिनके यहां क़ानूनी तौर पर तो एक से ज़्यादा पत्नी नहीं रखी

जा सकती, लेकिन रखैल रखने और आपसी रज़ामन्दी से बदकारी करने की खुली छूट है।

औरत को यह इजाज़त नहीं है कि वह एक साथ कई पतियों की पत्नी बनकर रहे और उसमें हिक्मत यही है कि एक तो रचना के तौर पर औरत मर्द के मुक़ाबले में कमज़ोर है। वह ज़्यादा मर्दों की सहनशील हो ही नहीं सकती। दूसरा सबसे अहम मसला वंश की हिफ़ाज़त का है। औरतों को भी मर्दों की तरह एक से ज़्यादा पतियों की इजाज़त होती तो होने वाला बच्चा भिन्न भिन्न वंशों वाला रहता। आख़िर किस की तरफ़ विश्वास के साथ उसे मंसूब किया जाता? इसके अलावा इसकी अनेक हिक्मतें हैं, जिसकी कुछ जानकारी आगे आएगी।

मर्द का तलाक़ का हक़ और उसकी हिक्मत

तलाक़ का हक़ भी वह हक़ है जो इस्लाम ने मर्द को तो दिया है, औरत को नहीं दिया। इसकी वजह यह है कि औरत मर्द के मुक़ाबले में कमज़ोर, उत्तेजित और जल्दबाज़ी में भावुकता से फ़ैसला करने वाली है, और अक्ल और सूझ बूझ में कमज़ोर है। औरत को भी अधिकार दिए जाने की सूरत में, यह अहम रिश्ता जो ख़ानदान की मज़बूती और उसकी हिफ़ाज़त के लिए बड़ा ज़रूरी है, मकड़ी के तार से ज़्यादा मज़बूत साबित न होता। मनोवैज्ञानिक और भौतिक विज्ञान के माहिर भी इस हक़ीक़त को मानते हैं। अतएव अल्लामा फ़रीद वजदी लिखते हैं :

"औरत की शारीरिक बनावट बच्चों की शारीरिक तर्कीब से निकट होती है, इसलिए आम तौर पर देखा जाता है कि वह बच्चों ही की तरह जल्द प्रभावित हो जाती है। खुशी व दुख, भय व प्रसन्नता के आभास जल्द ही उस पर सवार हो जाते हैं और चूंकि उसमें बौद्धिक सोच और सूझ बूझ की शक्ति को ज़्यादा दख़ल नहीं होता, इसलिए जल्द ही यह मनुभाव उससे ख़त्म भी

हो जाते हैं और प्रायः अधिक समय तक साबित नहीं रहते। इस कारण औरत परिवर्तनशील और स्थाई स्वभाव की होती है।"

एक और साम्यवादी दार्शनिक के हवाले से वह लिखते हैं :

"औरत का अन्तर्ज्ञान मर्द के अन्तर्ज्ञान से कमज़ोर होता है, जितनी कि उसकी अक़्ल मर्द की अक़्ल से कम होती है, उसके नैतिक पैमाने भी मर्द से भिन्न होते हैं। इसलिए बिल्कुल ज़रूरी नहीं कि जिसको वह अच्छा या बुरा बताए, वास्तव में वह अच्छा या बुरा ही हो।" (दायरा मआरिफ़ (अरबी) फ़रीद वजदी, 8/596, बहवाला "मुआशरती मसाइल दीन फ़ितरत की रौशनी में" मुअल्लिफ़ मौलाना बुरहानुद्दीन संभली, शाया करदा मक्तबा हसन, लाहौर)

«جَعْلَهُ بِيَدِ الرِّجَالِ دُونَ النِّسَاءِ لِاخْتِصَاصِهِنَّ بِنُقْصَانِ الْعَقْلِ وَغَلَبَةِ الْهَوٰى وَمِنْ ذٰلِكَ سَاءَ اخْتِيَارُهُنَّ وَسُرْعَ اغْتِرَارِهِنَّ وَنُقْصَانِ الدِّينِ وَمِنْهُ كَانَ اَكْثَرُ شُغْلِهِنَّ بِالدُّنْيَا وَتَرْتِيبِ الْمَكَائِدِ وَاِفْشَاءِ سِرِّ الْاَزْوَاجِ وَغَيْرِ ذٰلِكَ» (فتح القدير، الطلاق: ٣/٤١٥)

"तलाक़ का अधिकार केवल मर्द के हाथ में देने के कारणों में से कुछ यह हैं : औरतें नासमझ (कम अक़्ल) और भावुक होने की वजह से अधिकार का ग़लत तौर पर इस्तेमाल करने लगती हैं और जल्द धोखे का शिकार हो जाती हैं और दीनी हैसियत से कमज़ोर (दीनी हानि) होने की वजह से दुनिया के कामों (बनाव श्रृंगार, ग़ीबत और चुग़ली आदि) में ज़्यादा व्यस्त रहती हैं, मक्र के जाल बुनती रहती हैं और पतियों के भेदों को खोल देती हैं और उसी तरह की और चीज़ें हैं।"

इसलिए शरीअत इस्लामिया ने तलाक़ का हक़ भी केवल मर्द को दिया है जो अक़्ल व सूझबूझ, हिक्मत, दूरअंदेशी और हौसला व इरादा में

औरत से उच्च है। हर समझदार तलाक़ देने से पहले बहुत कुछ सोचता है और आख़िर में यह तलाक़ का हक़ इस्तेमाल करता है जिस तरह कि शरीअत ने भी इसे आख़िर ही में इस्तेमाल करने की ताकीद की है। औरत की इस कमज़ोरी का ज़िक्र हदीस में इस तरह किया गया है। फ़रमाया :

«اسْتَوْصُوا بِالنِّسَاءِ، فَإِنَّ الْمَرْأَةَ خُلِقَتْ مِنْ ضِلَعٍ، وَإِنَّ أَعْوَجَ شَيْءٍ فِي الضِّلَعِ أَعْلَاهُ، فَإِنْ ذَهَبْتَ تُقِيمُهُ كَسَرْتَهُ وَإِنْ تَرَكْتَهُ لَمْ يَزَلْ أَعْوَجَ فَاسْتَوْصُوا بِالنِّسَاءِ» (صحيح البخاري، أحاديث الأنبياء، باب خلق آدم وذريته، ح:٣٣٣١)

"औरतों के साथ अच्छा बर्ताव करने की वसीयत मानो! औरत पस्ली से पैदा की गई है और सबसे ज़्यादा टेढ़ ऊपर की पस्ली में होती है। तो अगर तुम सीधा करने लगोगे, तो तोड़ दोगे और यूं ही छोड़ दोगे तो टेढ़ बाक़ी रहेगी। तो औरतों के साथ अच्छा बर्ताव करने की वसीयत क़ुबूल करो।"

हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० लिखते हैं :

«وَفِيهِ سِيَاسَةُ النِّسَاءِ بِأَخْذِ الْعَفْوِ مِنْهُنَّ وَالصَّبْرِ عَلَى عِوَجِهِنَّ، وَأَنَّ مَنْ رَامَ تَقْوِيمَهُنَّ فَاتَهُ الِانْتِفَاعُ بِهِنَّ مَعَ أَنَّهُ لَا غِنَى لِلْإِنْسَانِ عَنِ امْرَأَةٍ يَسْكُنُ إِلَيْهَا وَيَسْتَعِينُ بِهَا عَلَى مَعَاشِهِ، فَكَأَنَّهُ قَالَ: الِاسْتِمْتَاعُ بِهَا لَا يَتِمُّ إِلَّا بِالصَّبْرِ عَلَيْهَا» (فتح الباري، النكاح: ٣١٥/٩)

"मतलब इसका यह है कि औरत के स्वभाव में थोड़ी सी टेढ़ है (जो ज़िद आदि की शक्ल में आम तौर पर प्रकट होती रहती है) तो इस कमज़ोरी में उसे विवश समझो, क्योंकि यह पैदाइशी है। इसे सब्र व हौसले के साथ सहन करो और उनसे क्षमा याचना का मामला करो अगर तुम उन्हें सीधा करने की कोशिश करोगे ता उनसे फ़ायदा नहीं उठा सकोगे या यह कि

उनका अस्तित्व इंसान के सुख के लिए ज़रूरी है और जीवन के सुख के लिए उनका सहयोग आवश्यक है, इसलिए सब्र के बिना उनसे निबाह असंभव है।"

एक दूसरी हदीस में औरत के क्रोध में आने और ज़रा सी बात मर्ज़ी के विरुद्ध पेश आ जाने पर एक दम सारे उपकार व भलाइयां भुला देने की प्रकृति को इस तरह बयान किया गया है :

«لَوْ أَحْسَنْتَ إِلَى إِحْدَاهُنَّ الدَّهْرَ ثُمَّ رَأَتْ مِنْكَ شَيْئًا قَالَتْ: مَا رَأَيْتُ مِنْكَ خَيْرًا قَطُّ» (صحيح البخاري، النكاح، باب كفران العشير وهو الزوج وهو الخليط من المعاشرة، ح:٥١٩٧)

"तुम एक औरत के साथ उम्र भर उपकार करते रहो, लेकिन अगर वह किसी समय तुमसे कोई मामूली बात भी (स्वभाव के विरुद्ध) देख लेगी, तो तुरन्त कह उठेगी, मैंने तो तेरे यहां कभी सुख देखा ही नहीं।"

औरतों की गवाही का मसला और मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ व मतभेद की तीन सूरतें :

इन बातों से स्पष्ट है कि बहुत से मामलों में मर्द व औरत के बीच उनकी प्राकृतिक क्षमताओं के हिसाब से और कार्यक्षेत्र के मतभेद की वजह से फ़र्क़ किया गया है। इस फ़र्क़ व मतभेद की सामान्यता तीन सूरते हैं :

1. कुछ काम तो ऐसे हैं जिन्हें केवल मर्द ही कर सकते हैं, औरतें नहीं कर सकतीं और कुछ काम औरतें कर सकती हैं, मर्द नहीं कर सकते। दुनिया की कोई ताक़त उनमें परिवर्तन करने पर समर्थ नहीं। जैसे मर्द का प्रभावित करना और औरत का गर्भवति और दूध पिलाने वाली होना।

2. और बहुत से काम ऐसे हैं कि जिन्हें यद्यपि मर्दों की तरह औरतें भी कर सकती हैं, लेकिन उन कामों को औरतों पर फ़र्ज़ नहीं किया गया है, ताकि औरत का असल कार्यक्षेत्र (घरेलू ज़िंदगी) प्रभावित न हो और मर्दों के साथ आम मेल जोल न हो यह इस्लाम के नज़दीक सख़्त नापसन्दीदा है। जमाअत के साथ नमाज़, जुमा, जनाज़े की नमाज़ और जिहाद में शिरकत से औरतों का अपवाद इसी उसूल पर आधारित है और कमाने के बोझ से भी उसे इसी बुनियाद पर अलग रखा गया है।

इस्लाम के निकट औरत का अपने आपको केवल घरेलू कामों तक सीमित रखना, उस सम्मान व गौरव के वजूद के लिए भी ज़रूरी है जो उसने औरत को प्रदान किया है। ख़ानदान की हिफ़ाज़त का भी यही तक़ाज़ा है और इंसानी समाज को दिल व निगाह की ख़राबी से बचाने के दृष्टिकोण से भी एक आवश्यक कारण है।

3. बहुत से मामले ऐसे हैं कि औरत अपनी प्राकृतिक कमज़ोरी की वजह से उनको इस तरह अंजाम नहीं दे सकती जिस तरह मर्द अपनी ईश्वर प्रदत्त क्षमताओं की वजह से उन पर समर्थ है। अल्लाह ने जिस तरह मर्द को शारीरिक ताक़त औरत से ज़्यादा प्रदान की है, उसी तरह मानसिक क्षमताओं में भी वह औरत से उच्च है। इस प्राकृतिक कमज़ोरी, या प्राकृतिक गुणों की वजह से किसी को तुच्छ समझना और किसी को उच्च होने का दर्जा दे देना निःसन्देह सही नहीं है। क़ुदरत ने जिससे जो काम लेना था, उसके अनुसार उसको वह योग्यताएं प्रदान की हैं। इन योग्यताओं का इंसानी गौरव से कोई संबंध नहीं है, इस हिसाब से मर्द व औरत दोनों समान हैं। योग्यताओं के फ़र्क़ का मतलब, गौरव में फ़र्क़ नहीं है। लेकिन योग्यताओं में फ़र्क़ को झुठलाना भी सूरज को झुठलाने के समान है।

इस तीसरी क़िस्म में औरतों की गवाही का मसला भी है। जब यह हक़ीक़त इन्कार योग्य नहीं है कि औरत कुछ बातों में मर्द से भिन्न और

प्रमुख है। जैसे :

▶ इसमें शर्म व हया का तत्व ज़्यादा है।

▶ वह मर्द की तरह फ़सीह व बलीग़ नहीं है।

▶ वह मानसिक योग्यताओं में कुछ कमज़ोर है। जिसकी वजह से वह स्मरण शक्ति, भूल और ग़लती का ज़्यादा शिकार होती है। जिसे हदीस में बुद्धि की हानि और क़ुरआन करीम में "अन तज़िल-ल इहदाहुमा फ़-तुज़क्कि-र इहदाहुमल उख़्रा" (बक़रा : 282) की संज्ञा दी गई है।

▶ इस्लाम ने औरत का मर्दों के साथ मेल जोल और घर से ज़्यादा बाहर निकलने को नापसन्द किया है।

अगर ये सारी बातें माने बिना चारा नहीं तो फिर इस बात के मानने में संकोच क्यों है कि शहादत के मसले में भी शरीअत ने मर्द को वरीयता और प्रमुखता दी है और औरत की गवाही को ज़रूरत पड़ने पर ही माना है। आम हालात में या मर्दों की मौजूदगी में उसके गवाह बनने को पसन्दीदगी की नज़र से नहीं देखा है, क्योंकि गवाही के तक़ाज़ों को औरतें मर्दों की तरह निभाने पर प्राकृतिक तौर पर समर्थ नहीं हैं। (इसकी और अधिक जानकारी किताब के आख़िर में देखें)

औरत की विशिष्ट विशेषताओं के बारे में ये कुछ इशारे हैं। अगले पन्नों में इनका विवरण है और उन सन्देहों का निवारण भी, जो इस बारे में पेश किए जाते हैं।

हाफ़िज़ सलाहुद्दीन यूसुफ़ हिफ़ज़ुल्लाम

(1)

औरत, घरेलू मामलों और औलाद के लालन पालन की ज़िम्मेदार

औलाद के प्रशिक्षण में औरत का रोल :

अल्लाह तआला ने औरत की उत्पत्ति का उद्देश्य यह बयान फ़रमाया है कि यह मर्द की जीवन साथी है। इसी लिए अल्लाह तआला ने मर्द और औरत के बीच प्यार व मुहब्बत का ऐसा रिश्ता क़ायम कर दिया है जो अटूट और अमर है और इंसानी ज़िंदगी इन्हीं दोनों के साथ रहने व मुहब्बत का नाम है।

इस संबंध का साधन अल्लाह ने निकाह को बनाया है। जानवरों की तरह मात्र जिन्सी इच्छा पूरी करके अलग हो जाना और किसी बात का ज़िम्मेदार न बनना, इस्लाम ने इसे सख़्त नापसन्दीदा क़रार दिया है। इसलिए वह मर्द और औरत को उस समय तक एक दूसरे के क़रीब होने की इजाज़त नहीं देता, जब तक वे दोनों निकाह के द्वारा एक रिश्ते में नहीं बंध जाते और एक दूसरे के दुख दर्द में शरीक और जीवन साथी होने का इक़रार नहीं कर लेते।

इस अक़्द निकाह या साथ रहने की सन्धि के बाद जब एक मर्द और औरत के बीच पति पत्नी का रिश्ता क़ायम होता है तो उससे एक नए ख़ानदान की बुनियाद पड़ती है। ये दो से तीन, चार, यहां तक कि दर्जन या उससे कम व ज़्यादा भी हो जाते हैं। इस बढ़ते हुए ख़ानदान का लालन पालन व प्रशिक्षण भी उन दोनों ही की ज़िम्मेदारी होती है, जो आपस में तो पति पत्नी होते हैं लेकिन नए व्यक्ति ख़ानदान के मां बाप कहलाते हैं।

मां को अल्लाह तआला ने कमाने की ज़िम्मेदारियों से अलग रखा है। यह ज़िम्मेदारी पूरी तरह बाप के हवाले की गई है कि वह घर से बाहर जाकर कारोबार करे, नौकरी, या मेहनत मज़दूरी करे, या खेती बाड़ी करे, कमाने के लिए जो भी सूरत वह अपनाए, अपनी योग्यता और पसन्द के अनुसार वह अपना सकता है। वह अपने लिए और पत्नी बच्चों के लिए कमाए, उनके लिए मकान, आहार व लिबास, इलाज और अन्य जीवन सामग्री उपलब्ध करे। मां घर की चार दीवारी के अंदर रहकर घर के क़ामों के साथ साथ पति की सेवा और बच्चों की देखभाल का काम करे ताकि बच्चों का बाप एकाग्रता और बेफ़िक्री के साथ काम धंधे के लिए मेहनत और संघर्ष करता रहे। घर से निकलने के बाद उसे यह चिंता न हो कि घर की हिफ़ाज़त कौन करेगा। उसके मासूम बच्चों को कौन संभालेगा? और हांडी रोटी पकाने का काम कौन अंजाम देगा?

मानो अल्लाह तआला ने मर्द और औरत दोनों का कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिया है, ताकि ज़िंदगी की गाड़ी, जिसके दो पहिय्ये हैं, जीवन पथ पर चलें और आगे बढ़ते रहे। मर्द का कार्यक्षेत्र, घर के बाहर है, और औरत का कार्यक्षेत्र घर के अन्दर, अर्थात घर की चार दीवारी है। मर्द अपने दायरे में मेहनत और जद्दोजहद करे और अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करे और औरत अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करे और उसमें कोताही न करे, क्योंकि दोनों ही की समान कोशिशों से यह बाग़ फलदार होगा जिनके बूटों को उन्होंने अपने ख़ूने जिगर से सींचा है, यह ख़ानदान परवान चढ़ेगा जो उन दोनों के मिलाप से वजूद में आया है और ये बच्चे समाज के बेहतरीन जन बनेंगे जो उनके भविष्य की उम्मीदों का केन्द्र और हसीन तमन्नाओं की मंज़िल हैं।

इस हिसाब से औलाद के प्रशिक्षण में मां का रोल बुनियादी महत्व रखता है। पहले तो इसलिए कि गोद ही बच्चे का वह पहला घर है जहां वह आंखें खोलता है। इसकी कुल कायनात मां की ममता व मुहब्बत ही

होती है। मां की मुहब्बत भरी मुस्कुराहट और प्यार भरा हाथ ही उसका सहारा होता है और मां की छाती से उसे वह मीठा आहार मिलता है जिससे उसका शारीरिक विकास होता है। दूसरे, जब वह चलने फिरने लगता है और कुछ बोल उसकी ज़बान से निकलने शुरू होते हैं, तो बाप तो बाहर कमाने में लगा होता है, मां की गोद ही उसका पहला मदरसा बनता है, जहां से उसकी शिक्षा का आरंभ होता है। यह शिक्षा अत्यन्त बुनियादी महत्व वाली होती है। उस समय बच्चे का ज़ेहन स्लेट या ब्लैक बोर्ड की तरह बिल्कुल साफ़ होता है। इस पर जो भी लिख दिया जाए, अर्थात उसे याद कराया जाए, वह उसके दिल व दिमाग़ में बैठ जाता है इसी बात को नबी करीम सल्ल० ने इस तरह बयान फ़रमाया है :

«كُلُّ مَوْلُودٍ يُولَدُ عَلَى الْفِطْرَةِ فَأَبَوَاهُ يُهَوِّدَانِهِ أَوْ يُنَصِّرَانِهِ أَوْ يُمَجِّسَانِهِ» (صحيح البخاري، الجنائز، باب ما قيل في أولاد المشركين، ح:١٣٨٥)

"हर बच्चा प्रकृति पर पैदा होता है, फिर उसके मां बाप उसे यहूदी या ईसाई या मजूसी बना देते हैं।"

अर्थात उसके मस्तिष्क के काले बोर्ड पर जिस धर्म की भी तहरीर लिख दी जाए वह 'अन्नक़शु कल ह-ज-रि' की तरह उसके दिल पर अंकित हो जाती है। इस हिसाब से देखा जाए तो माएं अगर सही मुसलमान होंगी, इस्लामी शिक्षा दीक्षा के ज़ेवर से सजी धजी होंगी और इस्लामी भावनाएं व आभास से सरशार होंगी, तो उनकी गोदों में पलने वाले बच्चे भी सही मुसलमान होंगे, उनकी शिक्षा दीक्षा से इस्लाम की सत्यता का नक़्श उनके दिल व दिमाग़ में छप जाएगा और इस्लाम की शिक्षाओं को अपनाने की सच्ची भावना उनके अंदर पैदा होगी।

इसलिए एक औरत को इस्लामी शिक्षा के ज़ेवर से सजाने का मतलब है, एक पूरे ख़ानदान को इस्लामी सांचे में ढाल देने की बुनियाद रख दी गई है। यह इस्लामी समाज को सुधारने का एक प्राकृतिक तरीक़ा

है। क्योंकि ख़ानदानों ही से क़बीले और बिरादरियां बनती हैं और क़बीले और बिरादरियां ही फैलकर समाज बनता है। अगर उल्लिखित प्राकृतिक तरीक़े के अनुसार हर ख़ानदान के मुखिया मां और बाप अपने अपने अधीन ख़ानदानों के सही प्रशिक्षण का आयोजन करें, तो सामाजिक सुधार का आरंभ हो सकता है, बशर्ते कि मां एक अध्यापिका, प्रचारिका और आवाहक का रोल अदा करे।

अनुभवों ने स्पष्ट किया है कि चुनाव के द्वारा, राजनीति के द्वारा, शासकों या सत्ता दलों के परिवर्तनों से समाज सुधार नहीं होगा, बल्कि उनसे बिगाड़ और फ़साद में अधिक वृद्धि ही होगी, जैसा कि हो रहा है। सुधार करना है तो उसका आरंभ मां की गोद से किया जाए और यहां से आरंभ करने का मतलब है कि इस प्रारंभिक स्कूल को आवारा, बेपर्दा और अपने कार्यक्षेत्र से बाहर आने से रोका जाए और उसके अंदर इस्लामी आभास व चेतना जगाकर उससे बच्चों की इस्लामी शिक्षा व दीक्षा का काम लिया जाए।

(2)

परदे के आदेश

परदे का हुक्म और मर्दों से मेल जोल की मनाही : मुसलमान औरत के लिए परदे का हुक्म भी उन ख़ास बातों में से है जिसमें वह मर्दों से प्रमुख और उसकी वजह से इस्लाम दूसरे धर्मों से अलग है, और उद्देश्य उससे मुसलमान औरत की सुरक्षा है। मुसलमान औरत की इज़्ज़त व सम्मान और उसकी पाक दामनी की हिफ़ाज़त और उसकी सन्देहों से बचाने के लिए अल्लाह तआला ने एक तो मर्द और औरत के आपसी मेल जोल (मिलकर पढ़ने, मिलकर काम करने, मिलकर खुले तौर पर बातचीत करने और स्वतंत्र मुलाक़ात) से रोक दिया है और दूसरे, औरत के लिए हिजाब (परदे) की पाबन्दी को ज़रूरी क़रार दिया है। तो औरत के लिए परदा ऐसे पेड़ की हैसियत रखता है जिसकी छाया में वह सुकून महसूस करती और उसके दामन में पनाह हासिल करती है।

पर्दा, कोई क़ैद और सज़ा नहीं जिससे घुटन महसूस की जाए, कोई बोझ नहीं जिससे छुटकारा हासिल करने की तदबीर की जाए और कोई बेजा पाबन्दी नहीं जिसके विरुद्ध विरोध की आवाज़ बुलन्द की जाए, जैसा कि इस्लाम दुश्मन तत्व, अधर्मी क़िस्म के लोग और पश्चिम की नंगी सभ्यता के दास कहते रहते हैं, बल्कि परदे का हुक्म इस बात की दलील है कि इस्लाम ने औरत को एक अत्यन्त बहुमूल्य वस्तु क़रार दिया है, इसी लिए उसकी हिफ़ाज़त का विशेष आयोजन किया है, क्योंकि हर क़ीमती चीज़ को छुपाकर रखा जाता और उसकी हिफ़ाज़त का आयोजन किया जाता है।

इसलिए दुश्मनों के मकर व कैद को समझना और उनके हसीन जालों से बचना और उनकी साज़िशों को नाकाम बनाना ज़रूरी है।

इसी के साथ हर मुसलमान औरत पर्दे के शरई तक़ाज़ों की पाबन्दी करके अपने ईमान की भी हिफ़ाज़त करे और इस्लाम दुश्मनों के घिनौने और अप्रिय इरादों को भी ख़ाक में मिला दे।

परदे के महत्व और उसके लाभों व ज़रूरत पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और मार्कीट में इस विषय पर बहुत मैटर मौजूद है, इसलिए यहां केवल शरई परदे के शिष्टाचार व शर्तों और मेल जोल की मनाही के ज़रूरी मसाइल बयान किए जाते हैं, ताकि हर मुसलमान औरत उनको सामने रखे और उनकी पाबन्दी करे। मर्दों की भी ज़िम्मेदारी है कि वे अपनी जवान बच्चियों, बहनों, मांओं और पत्नियों को नसीहत करें कि वे हर जगह...घर के अंदर हों या घर से बाहर...इन पाबन्दियों का आयोजन करें।

परदे का हुक्म और उसके शिष्टाचार

औरत को परदे का जो हुक्म दिया गया है, उसके तक़ाज़ों की अदाएगी के लिए उलमा ने उसके आठ शिष्टाचार बयान किए हैं, ताकि सही मायनों में परदा हो सके, उन शिष्टाचार व शर्तों के बिना शरई पर्दा नहीं होता, ये शिष्टाचार निम्न हैं :

- ✔ चादर या बुरक़ा ऐसा हो जो सर से लेकर पैरों तक पूरे जिस्म को ढांप ले, चेहरा नज़र आए न बाज़ू, छाती नज़र आए न गुद्दी, यहां तक कि हाथ और पैर भी नज़र न आएं।
- ✔ चादर या बुरक़ा भी बजाए स्वयं शोभानीय अर्थात आकर्षक न हो, जैसे उस पर कढ़ाई का काम किया गया हो, या शानदार रंग वाला हो या इतना ख़ूबसूरत और बढ़िया हो कि आप से आप मर्दों की नज़रें औरत की तरफ़ उठ जाएं। मानो उल्लिखित क़िस्म की चादर या बुरक़े से भी परदे की ज़रूरत ख़त्म हो जाती है।
- ✔ हिजाब, ऐसे बारीक और साफ़ कपड़े का न हो जिसमें औरत का

जिस्म छलके, मानो चादर या बुरक़े का कपड़ा सादा होने के साथ साथ मोटा भी हो।

- ✔ हिजाब ढीला ढाला हो। इस तरह तंग न हो कि जिस्म का अंग अंग उससे नज़र आता हो, या फ़ितने में ढालने वाली जगहें स्पष्ट हों या उससे शारीरिक बनावट और उसके हाव भाव की नुमाइश होती हो।
- ✔ उसके कपड़े सेंट या ख़ुश्बू से सुगन्धित न हों।
- ✔ मर्दों के से लिबास की तरह न हों।
- ✔ इसी तरह काफ़िर औरतों के लिबास की तरह न हों, जैसे मिनी स्कर्ट, या साड़ी, लहंगा आदि। इसलिए कि काफ़िरों की समानता भी मना है। "और जो जिसकी समानता अपनाएगा वह उन्हीं में से होगा।" (अबू दाऊद, लिबास, अध्याय फ़ी लब्स शरह, हदीस : 4031)
- ✔ शोहरत व नाम वाला लिबास न हो। इसलिए कि नबी सल्ल० ने फ़रमाया : जिसने शोहरत का लिबास पहना, अल्लाह तआला उसे क़यामत के दिन उस जैसा ही लिबास पहनाएगा, फिर उसमें जहन्नम की आग को भड़काया जाएगा।" (अबू दाऊद, हदीस : 4029)

किन किन लोगों से परदा ज़रूरी और मेल जोल मना है

लोग समझते हैं कि औरत के लिए परदा इसी समय ज़रूरी है जब वह घर से बाहर निकले और उसी तरह मेल जोल भी केवल उन्हीं से मना है जो बेगाने हैं, वर्ना घर में वह अपने रिश्तेदारों के साथ जिस तरह चाहे रहे, परदे के विरुद्ध नहीं। इसी तरह अपने रिश्तेदारों के साथ जिस तरह चाहे, मेल जोल रखे, उनसे हँसी मज़ाक़ करे और उनसे एकान्त में खुलकर बातचीत करे, इसमें कोई हरज नहीं, ये दोनों ही बातें ग़लत हैं।

ऐसे घरों में जहां पति के दूसरे भाई भी रहते हों, औरत को ढीले ढाले

और सातिर लिबास में रहना चाहिए, जिससे औरत के बाज़ू नज़र आएं न छाती और गुद्दी आदि। इसी तरह औरत के लिए देवरों और जेठों से परदा करना भी ज़रूरी है और यह परदा इस तरह बड़ी आसानी से संभव है कि एक तो उल्लिखित अंदाज़ में ढीला ढाला लिबास पहने जिससे उसकी शोभा व्यक्त न हो और फ़ितने वाली जगहें न खुलें। दूसरे, देवर और जेठ आदि के सामने आने पर घूंघट निकाल ले, इसके अलावा उनसे खुले तौर पर बातचीत न करे, बल्कि ज़रूरत में कम बात करे और उनके साथ एकान्त में बिल्कुल न रहे।

निम्न रिश्तेदारों और लोगों से मेल जोल मना है

बहरहाल शरअी हिदायात की रौशनी में जिन जिन रिश्तेदारों से परदा करना ज़रूरी और उनसे मिलना जुलना मना है, उनका विस्तृत बयान, उलमा के स्पष्टीकरण की रौशनी में, निम्न है :

चचाज़ाद, मामूंज़ाद, ख़ालाज़ाद भाई और अपनी चचाज़ाद, मामूंज़ाद, ख़ालाज़ाद और फूफीज़ाद बहन से मेल जोल।

औरत का अपने देवर, जेठ, बहनोई से मेल जोल।

औरत के दूध शरीक भाई का अपनी दूध शरीक बहन की बहनों से मेल जोल।

उल्लिखित तमाम मेल जोल मना हैं। मेल जोल का मतलब, उनसे बेपरदा होकर बिला तकल्लुफ़ बातचीत और हंसी मज़ाक़ करना और एकान्त में भी उनसे मुलाक़ात करना है।

- ✔ मंगेतर का अपनी मंगेतर से मेल जोल भी मना है, अलबत्ता निकाह से पहले वली की मौजूदगी में उसे एक नज़र देख लेना सही है।
- ✔ शादी ब्याह और अन्य प्रोग्रामों में बैरों या नवजवान लड़कों का औरतों की सेवा पर नियुक्त होना।

- ✔ निकाह के बाद दुल्हा दुल्हन का अपने रिश्तेदारों के साथ लोगों के सामने ग्रुप की सूरत में बैठना और तस्वीरें उतरवाना, आदि।
- ✔ इसी तरह दुल्हा दुल्हन के रिश्तेदारों का औरतों के सामने ग्रुप बनाकर बैठना, आदि।
- ✔ बूढ़ी औरतों का अजनबी मर्दों के साथ अकेले में रहना।
- ✔ औरत का अजनबी मर्दों के साथ मेल जोल, यह समझते हुए कि यह तो हमारे ही क़बीले या बिरादरी के लोग हैं।
- ✔ या इस नुक़ता नज़र से मर्दों से मेल जोल, कि असल परदा तो दिल का परदा है, अर्थात दिल साफ़ हों, आंख में शर्म हो, तो यही परदा है। जिस्मानी परदा ज़रूरी नहीं।
- ✔ उन बच्चियों के साथ मेल जोल में लापरवाही जो व्यस्क के निकट हों, यह समझते हुए कि यह तो अभी बच्चियां हैं।
- ✔ टैक्सी, रिक्शे में अकेली औरत का सफ़र करना, जबकि ड्राइवर अजनबी हो।
- ✔ बिना मेहरम के औरत का हज के सफ़र पर जाना।
- ✔ कालिजों और यूनीवर्सिटियों में लड़कियों का लड़कों के साथ मिलकर पढ़ना और इसी तरह जमाअत की अन्य गतिविधियों में उनका आपसी मिलना जुलना।
- ✔ कालेजों, यूनीवर्सिटियों और अन्य मदारिस में औरतों का मर्दों को पढ़ाना या मर्दों का औरतों को पढ़ाना।
- ✔ यहां तक कि प्राइमरी क्लासों में भी औरतों का बच्चों को पढ़ाना, धीरे धीरे मेल मिलाप की राह तैयार करना है।
- ✔ लड़कियों को उच्च शिक्षा की प्राप्ती के नाम पर पश्चिम की यूनीवर्सिटियों में भेजना, उनको पश्चिमी विचारों और उनकी निर्लज्ज

सभ्यता का शिकार बनाना है।

- उच्च शिक्षा के इदारों में व्यवहारिक प्रशिक्षण के नाम पर लड़के लड़कियों का मेल जोल।
- यूनीवर्सिटियों में एम.ए. और पी.एच.डी. आदि के लेखों की तैयारी में बतौर रहनुमा और निगरां के मर्दों का औरतों के साथ एकान्त (तंहाई) में मेल मुलाक़ात।
- ज्ञानात्मक सभाओं, कान्फ्रेंसों, मुशायरों और अन्य इस प्रकार के प्रोग्रामों में मर्द व औरत का साथ साथ बैठना।
- नर्सों और महिला डाक्टर का ग़ैर मर्दों यहां तक कि डाक्टरों और हस्पताल के अन्य मर्द काम करने वालों के साथ मेल जोल।
- डाक्टर का नर्स या लेडी डाक्टर के साथ एकान्त में मिलना।
- डाक्टर की ग़ैर मेहरम रोगी के साथ अकेले में मुलाक़ात।
- बिना ज़रूरत के, या लेडी डाक्टर की मौजूदगी में, औरत का मर्द डाक्टर के सामने चेहरा आदि नंगा करना।
- रिसेपशन या अलविदाऔी आदि मज्लिसों में औरतों का मर्दों के साथ घुलना मिलना।
- तिब्बी प्रयोगशालाओं में व्यवहारिक प्रशिक्षण के नाम पर मर्दों और औरतों का मेल जोल।
- खेल कूद के मैदानों और मौक़ों पर औरतों का मर्दों से मेल जोल।
- होटलों या खाने पीने के अन्य प्रोग्रामों में औरतों और मर्दों का मेल जोल।
- दुकान या शोरूम आदि में औरत का मर्दों से मेल जोल या एकान्त में मिलना।
- मार्किटों में औरतों का मर्दों से मेल जोल।

- ✔ ग़ैर मेहरम के साथ औरत का बस, रेल या हवाई जहाज़ में सफ़र करना।
- औरतों का फोटोग्राफ़रों से तस्वीरें खिंचवाना।
- ✔ बिदअतों पर आधारित प्रोग्राम (जैसे मीलाद, महफ़िल शबे मेराज आदि) और इसी तरह तब्लीग़ी जलसों में मर्दों और औरतों का जमा होना।
- ✔ मर्द ट्यूटर का किसी भी उम्र की बच्चियों को पढ़ाना या औरत ट्यूटर का लड़कों को पढ़ाना।

मेल जोल की उपरोक्त तमाम सूरतें और इस प्रकार की नक़्क़ालों में बेपरदगी महामारी की शक्ल इख़्तियार कर गई है, जिसकी वजह से अब मर्द व औरत के मेल जोल में लोग कोई बुराई महसूस नहीं करते। इसलिए बेपरदगी के साथ साथ मेल मिलाप का फ़ितना भी बढ़ता जा रहा है। यद्यपि जब बेपरदगी ही जाइज़ नहीं, तो फिर घुलने मिलने का औचित्य क्योंकर संभव है? यह तो ज़मीन पर बिगाड़ की खुली सूरत है।

इसी के साथ मुसलमान औरतों को मेल जोल की उपरोक्त सूरतों से अपने को बचाने की कोशिश करनी चाहिए। मर्दों को भी चाहिए कि वह अपनी बीवियों, माओं, बहनों और बेटियों को परदे के महत्व व ज़रूरत से भी अवगत करें और बेपरदगी और मर्दों से मेल जोल के बिगाड़ व ख़तरों से भी उन्हें ख़बरदार करें, ताकि वह उनसे बचने का आयोजन करें।

मलहूज़ा : औरत का जिन मर्दों से मेल जोल मना और उनसे परदा ज़रूरी है, उनसे तात्पर्य अजनबी मर्द हैं और अजनबी मर्द कौन हैं? तो याद रखिए, पति और महरम के अलावा जितने भी लोग हैं वे सब शरीअत की रू से अजनबी हैं और महरम कौन कौन हैं जिनसे परदा करना ज़रूरी नहीं, वे निम्न हैं :

नस्बी : बाप, दादा, बेटा, पोता, पड़पोता, चचा, मामूं, भांजा और भतीजा।

सुसराली : सुसर, दामाद, पति का बेटा।

दूध शरीक : दूध से साबित होने वाले उल्लिखित रिश्ते, क्योंकि हदीस में है, "रज़ाअत से भी वे तमाम रिश्ते हराम हो जाते हैं जो नसब से होते हैं।" (सहीह मुस्लिम, अर्रज़ाअ, हदीस : 1444)

इन उपरोक्त रिश्तों में से किसी के साथ औरत का निकाह नहीं हो सकता। इसेलिए ये सब औरत के मेहरम हैं, इनसे परदा करना ज़रूरी नहीं। इनके अलावा जितने भी लोग हैं, सब ग़ैर मेहरम हैं, उनसे परदा करना ज़रूरी है।

आदर्श मुसलमान औरत की विशेषताएं

ऐ मुसलमान बहन! अपनी हैसियत और उस इज़्ज़त व सम्मान पर सोच विचार कर जिससे अल्लाह ने तुझे नवाज़ा है। हर क़ीमती चीज़ का, अगर वह टूट जाए या नष्ट या चोरी हो जाए, बदल संभव है। लेकिन अगर तेरी इज़्ज़त दाग़दार हो जाए, तेरी इज़्ज़त व सतीत्व को बट्टा लग जाए और तेरी शराफ़त व असमत बहस का शीर्षक बन जाए, तो उसका कोई बदल नहीं हो सकता। इसलिए तेरा सबसे क़ीमती जोहर, तेरी इज़्ज़त व अस्मत है जो लुट जाए तो कोई उसका बदला नहीं दे सकता।

यह तेरी पवित्र इज़्ज़त है जो तार तार हो जाए, तो उसका निवारण नहीं हो सकता।

तेरी इज़्ज़त मोती है जो टूट जाए, तो कोई उसे जोड़ नहीं सकता।

तो तेरी इज़्ज़त इसी में है कि तू अपने सतीत्व की, अपने सम्मान की चादर की और अपने इज़्ज़त के मोती की हिफ़ाज़त कर। यह हिफ़ाज़त किस तरह संभव है? यह इस तरह संभव है कि तू कुछ चीज़ों को अपना और कुछ चीज़ों से बचा कर।

अपनाने वाले अहम काम

मुसलमान औरत के लिए जिन चीज़ों को अपनाना अनिवार्य है, वे निम्न हैं :

- ✔ तुझे मुहब्बत हो, केवल अल्लाह से, अल्लाह के रसूल से और उन लोगों से जो अल्लाह के दीन के पाबन्द हैं।
- ✔ तेरा एकान्त हो, आख़िरत की यादादिहानी और ऐसे कर्मों पर सोच विचार करने के लिए जो तेरी क़ब्र से अंधेरों को दूर करने का कारण और क़ब्र की तन्गियों को व्यापकता में बदलने का साधन हों।
- ✔ तेरी सहेलियां केवल वे हों, जो मुसलमान और मोमिन हों, अल्लाह के दीन की पूरी तरह पाबन्द हों।
- ✔ तेरे दुश्मन हों, हर क़िस्म के गाने और बजाने के संयत्र (रेडियो, टी. वी., फ़िल्में, वी.सी.आर. और वीडियो आदि) संगीत के संयत्र, तमाम वे पत्र-पत्रिकाएं जो अशलीलता पर आधारित लेख, तस्वीरें और पथ भ्रष्ट करने वाले विचार प्रकाशित करते हैं। बेपरदा और खुले आम अपनी शोभा व्यक्त करने वाली हर औरत और हर वह व्यक्ति जो पालनहार की नाराज़ी पर आधारित काम करने वाला हो।
- ✔ तुझे नफ़रत हो, यहूद व ईसाई से कपटियों से, अधर्मियों से और औरत की आज़ादी के धोखा देने वाले नारे लगाकर औरतों को गुमराह करने वालों से।
- ✔ तुझे लालच हो सच्ची तौबा का, उसके शिष्टाचार व शर्तों के साथ, न कि मात्र ज़बान से झूठी तौबा का।
- ✔ तेरा जीवन उद्देश्य हो, अल्लाह की उपासना, उसके दरबार में इस्तग़फ़ार, आख़िरत की तैयारी और उसकी प्रसन्नता की प्राप्ती।
- ✔ तेरी शादी ब्याह के प्रोग्राम, पाक हों अज्ञानता की रस्मों से, बैण्ड

बाजों से, पटाख़ों और आतिशबाज़ी के ख़तरनाक तमाशों से, संगीत की धुनों से, नाच गानों की महफ़िलों और शराब की मस्तियों से, वीडियो से, ज़ेवरात और कपड़ों की नुमाइश और मैकअप के साधनों से पैदा होने वाले भड़कीले तूफ़ान से, दहेज़ और बरी की बेजा रस्मों से, बेपरदगी और मर्दों के मेल जोल से।

- ✔ तेरी इच्छा और कोशिश हो, एक मुसलमान ख़ानदान की बुनियाद डालने की, अपनी नस्ल की इस्लामी रेखाओं पर प्रशिक्षण करने की और उसमें इस्लामी रूह व भावना पैदा करने की।

वे काम, जिनसे बचना ज़रूरी है

और मुसलमान औरत को जिन चीज़ों से बचना ज़रूरी है, वे निम्न हैं :

- ✔ दीनी मूल्यों व परम्पराओं का उपहास उड़ाने वालों से बचना।
- ✔ दीन में बिदआत ईजाद करने और बिदआत में हिस्सा लेने से बचना।
- ✔ नमाज़ के छोड़ देने या उसमें ग़फ़लत व लापरवाही करने या अकारण उसमें देरी करने से बचना।
- ✔ ग़ैर मर्दों के सामने शोभा व्यक्त करने और बेपरदगी से बचना।
- ✔ ग़ीबत, लान तान और चुगलख़ोरी से बचना।
- ✔ काफ़िर और पश्चिम की निर्लज्ज औरतों की नक़्क़ाली से, उनकी मुहब्बत और उनको अच्छा समझने से बचना।
- ✔ बिना ज़रूरत के घर से निकलने से बचना।
- ✔ आख़िरत को भूलने से और पति की नाशुक्री करने से बचना।
- ✔ पति और मां बाप की अवज्ञा से बचना।
- ✔ अशलील बनाने वाले समाचार पत्रों, रिसालों और इसी प्रकार के अन्य संयत्रों से बचना।

✔ उपरोक्त तमाम बातों से बचना, आदर्श मुसलमान औरत बनने के लिए ज़रूरी है।

ये कुछ ज़रूरी निर्देश हैं जिनकी मुख़ातिब हर मुसलमान मां, बहन, बेटी, छात्रा और अध्यापिका और जवान और बूढ़ी है। इनमें दीन व दुनिया की भलाइयां हैं। इन पर अमल करके उन भलाइयों को अपने दामन में समेट लें और सफ़लता को अपना भाग्य बना लें।

(3)

औरत और शिक्षा?

आजकल औरत का शिक्षा प्राप्त करने करने का बड़ा शोर है, ठीक है। इस्लाम में भी ज्ञान की प्राप्ती हर मुसलमान मर्द और औरत पर फ़र्ज़ है इसलिए शिक्षा के महत्व, लाभ और ज़रूरत से इंकार नहीं है, लेकिन सवाल यह है कि वह कौन सी शिक्षा है जो औरत को दिलाई जाए। साइंस की, अर्थशास्त्र की, राजनीति और इतिहास की, गणित और दर्शन शास्त्र की, साहित्य व पत्रकारिता की, पोलीटैक्निक और इंजीनियरिंग की? नहीं नहीं इनमें से कोई भी शिक्षा औरत के लिए ज़रूरी नहीं है, बल्कि ये सब विभाग उसके वजूद के उद्देश्य और उसकी प्राकृतिक योग्यताओं के ख़िलाफ़ हैं इसलिए इनमें से किसी भी विभाग में इसको शिक्षा दिलाना, इस्लाम के उद्देश्य व मंशा के ख़िलाफ़ है। शिक्षा से तात्पर्य केवल दीनी शिक्षा है। औरत को दीनी शिक्षा व प्रशिक्षण से सजाया जाए, ताकि वह बच्चों की दीनी लाइन पर शिक्षा व प्रशिक्षण का आयोजन कर सके, या उन औरतों को स्कूलों में प्राइमरी की हद तक बच्चों को पढ़ाने पर नियुक्त कर दिया जाए, जो औरतें उसके लिए समय निकाल सकें।

इसके अलावा औरतें मेडिकल की शिक्षा हासिल कर सकती हैं, बशर्ते कि ऐसे मेडिकल कालेज हों जहां पढ़ाने वाली केवल औरतें ही हों इस तरह मेडिकल शिक्षा हासिल करके औरतों का इलाज करें, क्योंकि इस विभाग में वह पर्दे की पाबन्दियों के साथ औरतों की सेवा कर सकती हैं। पर्दे की पाबन्दियों को छोड़कर औरतों को मर्दों वाली शिक्षा दिलाना, न केवल यह कि निरुद्देश्य है बल्कि दीन के लिए सख़्त ख़तरनाक है। इस्लामी देशों में मिली जुली शिक्षा का फ़ितना भी इसी लिए प्रगति पर है कि मुसलमान अपनी बच्चियों को, सोचे समझे बिना और अपने मज़हब

की शिक्षाओं पर सोच विचार किए बिना कालेजों और यूनिवर्सिटियों के हवाले कर रहे हैं और वे वहां वही पाठ्य पढ़ती हैं जो लड़के पढ़ते हैं और आम तौर पर जो केवल लड़कों ही के लिए है और कोई लड़की उसे पढ़कर लड़का बने बिना, उसके तक़ाज़ों की पूर्ति नहीं कर सकती।

इसलिए ज़रूरी है कि औरत के कार्यक्षेत्र को अगर बढ़ाना है तो इस्लामी शिक्षाओं की रोशनी में उसके लिए सरगर्मियों का निर्धारण और कुछ विशेष विभागों का चयन किया जाए और फिर उसके अनुसार पाठ्य तैयार किया और पढ़ाया जाए, ताकि मुसलमान औरत अपने पैदा होने के उद्देश्य और इस्लाम की मन्शा के अनुसार लज्जा व पर्दे की पाबन्दी के साथ, अपने दायरे में, देश व क़ौम की ख़िदमत करना चाहे तो कर सके। वर्ना वह जो सेवा पहले से ही करती आ रही है उस पर सब्र किया जाए, क्योंकि वह भी बहुत बड़ी सेवा है उसकी इस सेवा को तुच्छ समझा जाए न उसकी वजह से उसकी हैसियत को कमतर ख़्याल किया जाए, क्योंकि ये दोनों ही बातें हक़ीक़त के विरुद्ध हैं। औरत भी मर्द की तरह महान और मर्द ही की तरह इज़्ज़त व सम्मान की हक़दार है।

लाखों बेरोज़गार मर्दों की मौजूदगी में औरतों की नौकरियों का कोई औचित्य नहीं

इसके अलावा एक ऐसे देश में, जहां हज़ारों नहीं बल्कि लाखों की संख्या में मर्द बेरोज़गार हैं, उनके पास डिग्रियां मौजूद हैं, लेकिन सरकारी और ग़ैर सरकारी संस्थानों में उनके लिए काम करने की गुंजाइश नहीं है। वे डिग्रियां लिए दर-ब-दर की ठोकरें खा रहे हैं। वहां औरतों को भी बिना सोचे वही शिक्षा देने और वही डिग्रियां जारी करने का क्या लाभ हो सकता है। पहले तमाम शिक्षित डिग्री होल्डरों के रोज़गार और नौकरियां की व्यवस्था कीजिए। उनकी खपत के बावजूद भी सदस्यों, हुनरमन्दों और शिक्षितों की ज़रूरत हो तो फिर भी मर्दों के मैदान और कार्य क्षेत्र में

औरतों की नौकरी का कोई औचित्य समझ में आ सकता है और उनके समान शिक्षा पाठ्य का मसला चल सकता है। लेकिन वर्त्तमान हालात में दोनों बातों का कदापि कोई औचित्य नहीं है।

लाखों शिक्षित बेरोज़गार मर्दों की मौजूदगी में, जीवन के हर स्थल में औरतों को नौकरियां उपलब्ध करने की पॉलिसी पश्चिम की अंधा धुंध नक़्क़ाली के सिवा कुछ नहीं। इससे देश प्रगति नहीं करेगा, पतन ग्रस्त होगा और नैतिक कठिनाइयों का जो तूफ़ान खड़ा होगा वह इससे अलग एक समस्या। पश्चिम की इस पॉलिसी से कारख़ानों और दफ़्तरों में कुछ "रौनक़" ज़रूर हो गई है और मर्दों की वासना की पूर्ति का कुछ सामान निश्चय ही हो गया है लेकिन इस पॉलिसी ने उनके ख़ानदानी निज़ाम का तिया पांचा करके रख दिया है। वहां औलाद मां बाप से विरक्त और मां बाप औलाद से विरक्त हैं। पति पत्नी से नाराज़ और पत्नी पति से नाराज़। विशेषकर बूढ़े मां बाप का कोई हाल पूछने वाला नहीं। वे अपना बुढ़ापा, हुकूमत के बनाए हुए "ओल्ड होमों" में गुज़ारने पर मजबूर हैं। उसके मुक़ाबले में इस्लाम में ख़ानदान एक इकाई की हैसियत रखते हैं। जवान औलाद को ताकीद है कि वे मां बाप की सेवा व आज्ञापालन करें, विशेषकर उनके बुढ़ापे में उनको औलाद की ज़्यादा ज़रूरत है। इसलिए औलाद बुढ़ापे में उनका ज़्यादा ध्यान रखे, उनकी भावनाओं को ज़रा सी भी ठेस न पहुंचाए और उनके आदर व सत्कार में कोई कमी न करे।

जब भौतिकवाद का इतना दबाव हो जाए कि घर का हर व्यक्ति चाहे वह औरत हो या मर्द, जवान हो या बूढ़ा, कमाने की मशीन का पुर्ज़ा ज़रूर बने, वर्ना उसके लिए घर में रहने की कोई जगह नहीं होगी, तो फिर रिटायर्ड और बूढ़े व कमज़ोर मां बाप को कौन अपने घर पर रखकर उनको भरण पोषण और जीवन सामग्री देने पर आमादा होगा?

भौतिकता के इस बोझ में "जीवन स्तर" बुलन्द करने के नारे का भी बड़ा दख़ल है। जीवन स्तर बुलन्द करने का मतलब यह लिया और

फैलाया जा रहा है कि अत्यन्त शानदार बंगला, कोठी या मकान हो, जिसमें दुनिया भर की सजावट हों। अतएव उन सजावटों की पूर्ति के लिए मर्द व औरत के भेदभाव के बिना घर का हर व्यक्ति कमाई करता है, ताकि वह अपना जीवन स्तर बुलन्द करने में किसी से पीछे न रह जाए। इस नारे ने भी बड़ी क़यामत ढाई है और लोगों ने हलाल व हराम और जाइज़ व नाजाइज़ के बीच भेद करना ही छोड़ दिया है। प्रथम तो यह नारा ही ग़लत और अनुचित है। इसकी जगह नैतिक स्तर बुलन्द करने का नारा क़ौम को दिया जाना चाहिए कि असल सुकून व राहत, सुख वैभव की अधिकता से नहीं। अच्छे आचरण और नैतिकता की बुलन्दी ही से हासिल होता है। इसी तरह यह ज़रूरी है कि हर व्यक्ति नबी अकरम सल्ल० के इस आदेश को सामने रखे जिसमें आपने फ़रमाया है कि तुम हमेशा ऐसे लोगों को देखो जो सांसारिक सामग्री और आसानियों में तुमसे कमतर हों, इसी तरह तुम अल्लाह की नेमतों की क़द्र और उसका शुक्र अदा कर सकोगे। उसके विपरीत अपने से उच्च पर नज़र रखोगे तो अल्लाह की नेमतों की नाक़दरी भी करोगे और उसकी नाशुक्री भी। (सहीह मुस्लिम, ज़ुहद, अध्याय अद्दुन्या सिजनुल मोमिनि व जन्नतुल काफ़िर हदीस : 2963)

इससे यह बात साबित होती है कि दीन के मामले में ऐसे लोगों को देखना चाहिए जो दीन की पाबन्दी और संयम व तक़्वा में तुमसे ज़्यादा हों, ताकि तुम भी संयम व तक़्वा में ऊंचा स्थान हासिल करने की कोशिश करो। दुनिया के मुक़ाबले में दीन को और दुनिया के सुखों के मुक़ाबले में आख़िरत की ज़िंदगी को वरीयता देने के लिए नबी सल्ल० का यह नुस्ख़ा हमारे लिए बेहतरीन मार्गदर्शन है और इसी से इंसान को शान्ति व सुख नसीब हो सकता है। "अला बिज़िकरिल्लाहि ततमइन्नुल क़ुलूब" (राअद : 28)

(4)

औरत और नौकरियां?

पिछले पृष्ठों से स्पष्ट है कि औलाद के प्रशिक्षण में औरत का किरदार बड़े बुनियादी महत्व वाला है, क्योंकि मां की गोद ही सबसे पहला स्कूल है। उसकी पहली अध्यापिका उसकी मां है और उसका पहला सबक़ वह लोरी है जो मां अपने बच्चे को दूध पीने के दिनों में देती है। यह स्कूल जितना साथ सुथरा होगा, उसकी अध्यापिका (मां) जितनी अच्छे चरित्र, पवित्र आदतों और इस्लामी भावनाओं वाली होगी और उसकी लोरी (सबक़) में जिस हिसाब से निष्ठा और भलाई होगी, उसी हिसाब से बच्चे का मानसिक विकास और उसके चरित्र का प्रशिक्षण होगा। इसलिए ज़रूरी है कि उस पहली अध्यापक की सही शिक्षा दीक्षा हो उसके मन मस्तिष्क की प्रगति हो और उसके दिमाग़ की सफ़ाई व सुथराई हो, ताकि उसकी गोद में पलने वाला बच्चा भी सही हो, उसका मन व मस्तिष्क मुसलमान हो और उसे एक सही माहौल और सही सांचा मिल जाए जिसमें वह अपने आचरण को ढाल सके और मन व मस्तिष्क का सुधार कर सके।

मुसलमानों में यह पहला मदरसा जब तक सही, चुस्त और प्रभावी रहा, उपरोक्त उद्देश्य हासिल होता रहा और उनके बच्चे इस्लामी शिक्षा एवं प्रशिक्षण से ठीक ठाक होते रहे और उन्होंने अपने अमल व किरदार के अनमिट नक़ूश हस्ती के पन्नों पर अंकित किए और अपनी ईमानी शक्ति और सद व्यवहार के हथियार से एक दुनिया को वशीभूत कर लिया और सारे जगत में इस्लामी सभ्यता का झंडा लहरा दिया। केवल बाहर ही विजयों के झंडे नहीं गाड़े, बल्कि अंदर भी मुसलमान अपनी रियासत में एक शरीर की तरह एक दूसरे के हमदर्द व हितैषी रहे। इस हदीस नबवी

की तरह :

«الْمُسْلِمُ مَنْ سَلِمَ الْمُسْلِمُونَ مِنْ لِسَانِهِ وَيَدِهِ»(صحيح البخاري، الرقاق، باب الانتهاء عن المعاصي، ح:٦٤٨٤)

"मुसलमान वह है जिसकी ज़बान और हाथ से किसी दूसरे मुसलमान को कष्ट न पहुंचे।"

और :

«الْمُؤْمِنُ لِلْمُؤْمِنِ كَالْبُنْيَانِ يَشُدُّ بَعْضُهُ بَعْضًا»(صحيح البخاري، الأدب، باب تعاون المؤمنين بعضهم بعضا، ح:٦٠٢٦)

"मोमिन दूसरे मोमिन के लिए एक इमारत या दीवार की तरह है, जिसका एक हिस्सा दूसरे हिस्से की मज़बूती का सबब है।"

लेकिन अब दुर्भाग्य से यह ख़ानदानी घेराव, जो मुसलमानों की शक्ति व दृढ़ता और एकता व भाईचारे का द्योतक था, टूट फूट का शिकार है, उस स्कूल को उजाड़ा जा रहा है और उसकी अध्यापिका को शैक्षणिक व प्रशिक्षणिक चरित्र निभाने के बजाए, आर्थिक झमेलों में उलझाया जा रहा है। उसे घर की बजाए, दफ़्तरों और कारख़ानों की शोभा और उस घर के चराग़ को महफ़िल की शमा बनाने पर आग्रह किया जा रहा है, ताकि वह अपने असल किरदार से महरूम हो जाए।

इस साज़िश के लिए बड़े हसीन जाल बिछाए गए हैं, उसे ख़ुशनुमा शीर्षक से सजाया गया है और दिल फ़रेब वायदों का सपना दिखाया जा रहा है। कहा जा रहा है कि औरत आबादी का आधा हिस्सा है, वह जब तक मर्दों के कांधे से कांधा मिलाकर प्रगति में हिस्सा नहीं लेगी, देश प्रगति नहीं कर सकता। उसे घरों में बेकार नहीं छोड़ा जा सकता, अतएव उसे घर से बाहर धकेला जा रहा है ताकि वह भी हर वह काम करे जो मर्द कर रहा है। यद्यपि मर्द व औरत की समानता का यह पश्चिमी दृष्टिकोण इस्लाम की शिक्षाओं के बिल्कुल ख़िलाफ़ है। इस्लाम कहता है कि मर्द

और औरत निश्चय ही इंसानी ज़िंदगी के दो पहिये हैं जो एक दूसरे के लिए अत्यन्त ज़रूरी हैं और उन दोनों के सारे कामों व चरित्र का नाम ही ज़िंदगी है। न मर्द, औरत से दूर हो सकता है और न औरत मर्द से बेपरवाह। दोनों एक दूसरे की ज़रूरत और एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं, लेकिन इसके साथ वह इस हक़ीक़त को भी स्पष्ट करता है कि अल्लाह तआला ने दोनों को अलग अलग मक़सद के लिए पैदा किया है। इसलिए दोनों की क्षमताएं भी एक दूसरे से भिन्न और अलग अलग दी गई हैं। जो क्षमताएं अल्लाह ने औरत के अंदर रखी हैं, मर्द उनसे महरूम हैं। और मर्दों वाली विशेषताओं से औरत महरूम है। इंसानी ज़िंदगी का यह निज़ाम सही तरीक़े से चलाने के लिए ज़रूरी है कि दोनों अपने अपने पैदा होने के उद्देश्य के अनुसार अपनी अपनी क्षमताओं को काम में लाएं। मर्द को जो क्षमताएं और शक्तियां दी गई हैं, उसके हिसाब से उसका कार्यक्षेत्र घर से बाहर का मैदान है। कारोबार व तिजारत है, खेती बाड़ी व बाग़बानी है, फ़ैक्टरी और कारख़ाने हैं और राजनीति व समाज हैं, जबकि औरत का कार्यक्षेत्र उसकी प्राकृतिक क्षमताओं के अनुसार, घर की चार दीवारी है, वह घर के अंदर रहकर घर का काम काज करे, बच्चों की देखभाल और उनकी शिक्षा दीक्षा और पति की सेवा करे। यूं औरत मर्द को घरेलू मामलों और ज़िम्मेदारियों से अलग रखे, ताकि वह एकाग्रता से, घर से बाहर, कमाने के लिए कोशिश करता रहे और मर्द, औरत को कमाने के बखेड़ों से बचाकर रखे, ताकि वह एकाग्रता से घरेलू काम पूरे कर सके। मुसलमान समाज में सदियां से मर्द और औरत इसी अंदाज़ से अपने अपने क्षेत्र में काम करते आ रहे हैं, कभी किसी ने यह नहीं कहा कि औरत बेकार है और घर में उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है, क्योंकि वस्तुतः औरत घर में बेकार नहीं रहती, बल्कि मर्द ही की तरह सारा दिन व्यस्त रहती है। घर की चार दीवारी के अंदर घरेलू काम अंजाम देने वाली औरत को बेकार कहना या क़रार देना वास्तविकता के विरुद्ध बात, बहुत बड़ा

झूठ और एक बड़ा आरोप है। वह घरेलू औरत, देश की प्रगति में मर्द के बराबर हिस्सा ले रही है, अगर यह मर्द को वह सुख शान्ति और निश्चिन्तता उपलब्ध न करे जो घर की तरफ़ से, उसे औरत अपने घरेलू किरदार की वजह से उपलब्ध करती है, तो मर्द अपने मैदान में प्रभावी और भरपूर किरदार अदा करने के क़ाबिल ही नहीं हो सकता। मर्द की इस मेहनत व कोशिश में, जो वह घर से बाहर करता है, निश्चय ही औरत का हिस्सा भी शामिल है। जो वह घर के अंदर रहकर बड़ी ख़ामोशी से उसमें डालती है।

इसलिए मुसलमान औरत को इस हसीन जाल में फंसने से बचना चाहिए और क़ुरआन के हुक्म "अपने घरों में टिक कर रहो" (अहज़ाब : 33) पर अमल करते हुए अपनी सरगर्मियों को घर तक ही सीमित रखना चाहिए। यही हमारे मज़हब की शिक्षा है, यही मुसलमान औरत का इतिहास है और यही हमारी सभ्यता है। इस शिक्षा, इस इतिहास और इस सभ्यता से मुंह मोड़ना "ख़ुदकुशी" है, तबाही व बर्बादी है और औरत पर ज़ुल्म है।

मर्दों के कांधे से कांधा मिलाकर काम करने वाला नारा असल में औरत को उसके औरतपन की शान से महरूम करना और उसे मर्द बनाना है, जो औरत पर एक बहुत बड़ा ज़ुल्म है, क्योंकि औरत की उत्पत्ति का असल उद्देश्य यह है कि वह नई नस्ल की मां बने। यह उद्देश्य उसे हर सूरत में पूरा करना है, जिसके लिए वह नौ महीने निरंतर गर्भ की तकलीफ़ सहन करती है और उसके बाद गर्भ पूरा होने का समय भी, जो उसके लिए मौत व ज़िन्दगी की कशमकश का चरण होता है, वह भी सहन करती है, फिर वह दो साल तक रज़ाअत (दूध पिलाने) की तकलीफ़ भी सहन करती है, उसके लिए उसे रातों को जागना पड़ता है, तो जागती है, अपने आराम व सुख को क़ुरबान करती है और अपनी जान व स्वास्थ्य को भी घुलाती है। इन तमाम तकलीफ़ों की वजह से ही इस्लाम ने कमाने या

सारा बोझ मर्द पर डाला है और औरत को इस ज़िम्मेदारी से पूरी तरह अलग रखा है। लेकिन उपरोक्त नारे का मतलब है कि गर्भ, पैदाइश और दूध पिलाने आदि की तमाम तकलीफ़ों के साथ, औरत कमाकर भी लाए, उसके लिए सड़कों की ख़ाक छाने, दफ़्तरों और कारख़ानों की नौकरानी करे और हर जगह मर्दों की हवसनाक निगाहों का निशाना बनकर अपने सतीत्व व तक़दीस की चादर को भी दाग़दार या तार तार करवाए। यह औरत पर ज़ुल्म नहीं तो क्या है? यह दोहरी ज़िम्मेदारी औरत पर क्या अल्लाह ने डाली है? नहीं, कदापि नहीं। यह औरत पर एक ज़ुल्म है, बहुत बड़ा ज़ुल्म। अल्लाह तआला इस ज़ुल्म से मुक्त है। (वमा रब्बु-क बिज़ल्लामिन लिल-अबीद) "तेरा पालनहार बन्दों पर ज़ुल्म करने वाला नहीं है।" (हा०मीम० सजदा : 146)

इस्लाम ने औरत को घर की मलिका बनाया है। उसे बच्चों की और घर की हिफ़ाज़त के अलावा केवल अपने पति की सेवा व आज्ञा पालन की ताकीद है। एक हदीस में नबी सल्ल० ने फ़रमाया :

«وَالَّذِي نَفْسُ مُحَمَّدٍ بِيَدِهِ لَا تُؤَدِّي الْمَرْأَةُ حَقَّ رَبِّهَا حَتَّى تُؤَدِّيَ حَقَّ زَوْجِهَا وَلَوْ سَأَلَهَا نَفْسَهَا، وَهِيَ عَلَى قَتَبٍ، لَمْ تَمْنَعْهُ» (سنن ابن ماجة، النكاح، باب حق الزوج على المرأة، ح: ۱۸۵۳)

"क़सम है उस ज़ात की जिसके हाथ में मुहम्मद (सल्ल०) की जान है, औरत उस समय तक अपने पालनहार का हक़ अदा नहीं कर सकती जब तक वह अपने पति का हक़ अदा नहीं करती, पति अगर उसे ऐसी हालत में बुलाए कि वह ऊंट पर (सफ़र के लिए) बैठी हो, तब भी वह उसके पास आने से इंकार न करे।"

यह है इस्लाम की सदाचारी औरत। इस्लाम ने कमाई करने वाली औरत को, टाइपिस्ट, क्लर्क और स्टीनोग्राफ़र क़िस्म की औरत को या

पायलेट, एयर होस्टेस या राजनीति के फड़े में टांग अड़ाने वाली औरत को ''अलगिरअतुस्सालिहा'' नहीं कहा, बल्कि केवल घर की चार दीवारी के अंदर रहकर घरेलू काम करने वाली औरत को ''सदाचारी औरत'' कहा है। इसी तरह पैगम्बरे इस्लाम ने फ़रमया है :

«تَزَوَّجُوا الْوَدُودَ الْوَلُودَ»(سنن أبي داود، النكاح، باب النهي عن تزويج من لم يلد من النساء، ح:٢٠٥٠)

''तुम ज़्यादा बच्चे जनने वाली और ज़्यादा मुहब्बत करने वाली औरत से शादी करो।''

अगर इस्लाम में औरत को भी सर्विस, नौकरी और कमाने व तिजारत करने का हुक्म होता तो ज़्यादा कमाऊ औरत को बेहतरीन औरत क़रार दिया जाता। इसी तरह उसे यह हुक्म न दिया जाता कि ''घर में टिक कर रहो'' न परदे की इतनी ताकीद की जाती, जितनी कि उसकी ताकीद है, क्योंकि परदे की पाबन्दी के साथ कमाने की जद्दोजहद में हिस्सा लेना बड़ा मुश्किल है। न औरत के लिए बच्चे जनने को सराहनीय क़रार दिया जाता, क्योंकि बच्चे भी नौकरी और कमाई की राह के भारी पत्थर हैं। (इसी संबंध में डाक्टर सय्यद अब्दुल्लाह मरहूम के दो बड़े महत्वपूर्ण लेख देखिए)

औरतों की शिक्षा और नौकरियों का मसला

डाक्टर सय्यद अब्दुल्लाह (स्वर्गीय)

इमाम ग़ज़ाली और अल्लामा इक़बाल रह० के बारे में कहा जाता है कि वे औरतों की उच्च शिक्षा को ज़रूरी नहीं समझते थे। यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि वे ख़ुदा न करे औरतों की शिक्षा के विरोधी थे। वे विरोधी नहीं थे वे बस यह चाहते थे कि औरतें केवल वह शिक्षा हासिल करें जो उनकी प्रकृति, उत्पत्ति और विशेष कामों के अनुसार ज़िंदगी में उनके और ख़ानदान के काम आए और सही यह है कि अल्लाह ने औरत के लिए अलग कार्यक्षेत्र निश्चित किया है जिसकी व्याख्या की यहां ज़रूरत नहीं, क्योंकि यह बात हर व्यक्ति को मालूम है कि असंख्य काम ऐसे हैं जो मर्द नहीं कर सकते और असंख्य काम ऐसे हैं जो औरतों की ताक़त से बाहर हैं, अतः हर गिरोह को उनके कामों की निस्बत से शिक्षा देनी चाहिए। यह उच्च और सामान्य शिक्षा का मामला नहीं, बल्कि हर किसी को उसके स्वभाव और प्राकृतिक तक़ाज़ों के अनुसार मुनासिब शिक्षा देने का मसला है और ये विचार केवल ग़ज़ाली और इक़बाल ही के नहीं स्वयं सर सय्यद अहमद ख़ां के भी हैं जो पश्चिमी अंदाज़ के हमारे यहां पहले बड़े अलम्बरदार थे। सर सय्यद अहमद ख़ां की यह कहानी देखनी हो तो उनका सफ़रनामा पंजाब सम्पादित सय्यद इक़बाल अली पढ़िए।

और जहां तक मिली जुली शिक्षा का संबंध है, तो उपरोक्त बुज़ुर्ग और दूसरे हज़ारों बुद्धिजीवी इसे ख़तरनाक समझते थे, क्योंकि उसका उन सामाजिक व नैतिक आदेशों से टकराव है, जो क़ुरआन मजीद में मौजूद हैं, या जिनका ऊपर ज़िक्र आया। यह बात औरतों पर पाबन्दी या सख़्ती के बारे में नहीं आती, इसमें औरतों के लिए बरकतें और हिक्मतें हैं उनमें सबसे बड़ी हिक्मत औरतों की सामाजिक सुरक्षा, उनकी इज़्ज़त की सुरक्षा और ख़ानदानी ज़िंदगी की दृढ़ता है।

औरतों को हर सतह तक शिक्षा दी जा सकती है बशर्ते कि उपरोक्त ज़रूरतों और हिक्मतों को कष्ट न पहुंचे और यह सब औरतों के फ़ायदे की ख़ातिर है उन पर ज़्यादती नहीं।

मिली जुली और समान पाठ्य पर बहस की ज़रूरत नहीं, उसका लाभ हानि सबको मालूम है लेकिन अगर शिक्षा मिली जुली न हो तो औरतों को छूट दी जाए कि वह हर शिक्षा स्थल में जिसे वह अपने लिए लाभकारी समझती हैं, दाख़िला ले लें अर्थात उन सब स्थलों में जो उन्हें अपने लिए लाभकारी नज़र आएं या समाज के लिए लाभकारी हों, लेकिन मिली जुली नौकरियों का मसला अलग है मिली जुली नौकरियों के सिलसिले में जो कठिनाइयां हैं वे हर किसी को मालूम हैं।

साफ़ बात है कि औरतें अपने लिए जिन लेखों को लाभकारी समझेंगी उनमें अधिकतर ऐसे होंगे जो मर्दों के लिए बेगाना और अजनबी होंगे इसलिए अगर औरतों की शिक्षा का निज़ाम पूरी तरह अलग होगा। तब जाकर उन्हें लाभ होगा। उसका एक मात्र इलाज औरतों के लिए सामान्यता अलग पाठ्य और एक अलग महिला यूनीवर्सिटी की स्थापना है मर्दों और औरतों के लिए समान पाठ्य का फ़लसफ़ा अप्राकृतिक और अनुचित है यह बात और है कि आज की दुनिया में इस अनुचित फ़लसफ़े को अपनाया जा रहा है यद्यपि उसमें औरतों को बहुत हानि पहुंच रही है, लेकिन आम रिवाज का प्रभुत्व ज़बरदस्त चीज़ है इसके सामने हर कोई दब जाता है। इस रिवाज को तब्दील करने के लिए एक सामाजिक क्रान्ति की ज़रूरत है मगर ऐसी क्रान्ति कोई आसान काम नहीं, सबसे पहले वैचारिक परिवर्तन की ज़रूरत है और यह परिवर्तन पश्चिमी सामाजिक फ़लसफ़ों पर निरंतर व संगठित रूप से आलोचना करते रहने से और व्यवहारिक अनुभवों के हवाले से उनके ख़तरों से अवगत करते रहने से संभव होगा जब तक हमारे यहां पश्चिमी सामाजिक फ़लसफ़ा छाया हुआ है हमारी सब दलीलें बेकार व निष्काम होंगी, अतः अल्लामा इक़बाल के

कथनानुसार पश्चिमी सामाजिक हिक्मत पर भरपूर हमला (इल्मी हथियार में) अनिवार्य है।

नौकरियों में औरतों की शिरकत, एक अहम और नाज़ुक सामाजिक विचारों के अधीन दृष्टिकोण के बदल जाने का नतीजा है अगर हम इस मामले में इस्लाम की सामाजिक हिक्मतों से निर्देश लें, तो हमें इस शिरकत में असंख्य परेशानियां नज़र आएंगी बल्कि आज कल के हालात में नौकरियां बड़ी हद तक अनैतिक और अनुचित नज़र आएंगी, क्योंकि इस्लाम की सामाजिक हिक्मत में औरतों का फ़र्ज़ बच्चों का पालना और घरदारी है और उसके बदले मर्दों का फ़र्ज़ औरतों (पत्नियों) का ख़र्च उठाना है, ताकि वह निश्चिन्त होकर अपने दायरे में ख़ानदान की सेवा कर सकें। यह सेवा एक बहुत बड़ा काम है और जैसा कि कुछ रौशन ख़्याल लोग बताते हैं, यह कोई कमतर काम नहीं, बल्कि असल मानवता का निर्माण इसी काम में छुपा है और इसकी पूर्ति में मर्द का काम (अगर इन परिभाषाओं में सोचें तो) सेवक का है जो मानव जाति की इस रचनाकार (बीवी) को उसके अहम कार्य की अदाएगी के क़ाबिल बनाता है। इस अमल या दो तरफ़ा अमल में औरत का दर्जा ऊंचा ही ऊंचा है, पति का दर्जा दूसरे नम्बर पर आता है मगर पश्चिमी सामाजिक अवधारणा ने इस चीज़ को बदल कर मामला कुछ से कुछ कर दिया है।

यह तो था उसूली अक़ीदा एक मुसलमान की हैसियत से लेकिन सवाल आज कल के हालात का है इसलिए मौजूदा हालात में औरतों की नौकरी के औचित्य या अऔचित्य पर बातचीत करने की ज़रूरत है।

पहले इस सवाल का जवाब चाहिए कि औरतें नौकरियों की शौक़ीन या तलबगार क्यों हैं? पश्चिमी माहौल में तो उनका नौकरी का शौक़ इसलिए है कि वहां ख़ानदान और घर की अवधारणा एक पुराना काम है। औरतें न केवल बराबर होने का दावा करके घरेलू आज़ादी की तलबगार हैं, बल्कि आर्थिक तौर से आज़ाद होकर उन तमाम पाबन्दियों से भी

आज़ाद हो जाना चाहती हैं जो ख़ानदानी ज़िंदगी में उन पर लागू होती हैं, वह स्वयं कमाकर इस तरह से आज़ाद शहरी बनना चाहती हैं उसमें उन्हें हज़ार मुश्किलात भी पेश आती हैं, लेकिन वे पूर्ण आज़ादी के लिए हर मुश्किल को सहन करती हैं।

लेकिन इसमें उन्हें एक आसानी भी है और वह यह कि उपरोक्त समाज इस मसले में उनका साथ देता है और यह कि उसमें वे सारी बुराइयां और दोष पाए जाते हैं, लेकिन वह समाज इन बुरी बातों को कोई महत्व नहीं देता, लेकिन हमारे देश में एक मुस्लिम महिला की मुश्किल यह है कि हमारे मुस्लिम समाज के नज़दीक नौकरी, ग़ैर मर्दों से मेल जोल, हर हाल में नापसन्दीदा समझा जाता है।

दूसरा सवाल यह है कि एक मुसलमान औरत नौकरी की तरफ़ क्यों झुकती होती है? इसके कई कारण हैं जिनमें से कुछ वास्तव में ध्यान देने योग्य हैं यद्यपि आम रवैया मात्र पश्चिम की नक़्क़ाली से उभरा है। पश्चिम के अनुसरण में हमारी चरम सीमा वाली महिलाएं, औरतों की पूर्ण आज़ादी की मतवाली, मर्दों की हर प्रकार की बलादस्ती की विरोधी और उनकी हर प्रकार की मोहताज होने से परेशान हैं। यह पश्चिमी शिक्षा और नक़्क़ाली का नतीजा है और तसल्ली का पहलू केवल यह है कि यह अभी पूंजीपति, साम्यवादी और बुद्धिजीवी वर्ग तक सीमित है और समाज में उन वर्गों के ख़िलाफ़ एक तरह का पक्षपात भी मौजूद है।

इसी लिए औरतों में नौकरियों का झुकाव बढ़ रहा है और उसके कई कारण हैं, जिनमें औरतें हक़ पर मालूम होती हैं और ये कारण अवलोकन योग्य हैं।

एक बड़ा कारण औरतों का यह हक़ है कि मालूम नहीं कि शादी के बाद मर्द किस समय उनसे बेवफ़ाई पर उतर आएं और दूसरी शादी करके पहली पत्नी को बेसहारा छोड़ दें और सच यह है कि मर्दों का यह रवैया और औरतों का यह डर पश्चिमी सभ्यता के कारण हैं। बहुपत्नी विवाह

पहले भी था मगर मर्दों की रविश किफ़ालत के मामले में ग़ैर ज़िम्मेदाराना नहीं थी। सारा ख़ानदान उसके बावजूद ठीक ठाक चलता था। शादी एक पवित्र इक़रार था जिसको निभाया जाता था और उसको निभाने में ख़ानदानों का बड़ा हिस्सा था पहली पत्नियां बेसहारा न रहती थीं। उनको ख़ानदान परवरिश करते थे, लेकिन पश्चिमी सोच में पला हुआ मर्द व्यक्तिगत और अकेले का क़ाइल है और आज़ाद ज़िंदगी का इच्छुक है। बुरा मानने की बात नहीं, औरतों के साथ अभद्र व्यवहार भी अधिकतर शिक्षित लोग ही करते हैं जिसके कारण औरतें सामान्यता भयभीत हैं और उन्हें अपनी आर्थिक किफ़ालत की आज़ाद व्यवस्था ज़रूरी मालूम होती है निश्चय ही इसमें कुछ भ्रम और कुछ पश्चिमी प्रोपगडे का असर भी है, लेकिन वास्तविक भय भी है और इसमें ज़िम्मेदारी मर्दों की ज़्यादा है।

जब तक यह भय और भ्रम है और इस पश्चिमी रिवाज को क़ुबूल किया जाता रहेगा जिसे अब हमारे देश के शिक्षित वर्ग ने सुदृढ़ कर दिया है, औरतें ज़रूरत में या बिना ज़रूरत नौकरियों की तलबगार रहेंगी ख़ासकर जबकि औरतों में उच्च शिक्षा की दर मर्दों के बराबर बल्कि ज़्यादा होती जाती है वर्ना औरतों की उच्च शिक्षा की कोशिश और उसका उद्देश्य कोई नहीं। उनमें से अधिकतर घरेलू ज़िंदगी को बोझ समझती हैं और जब से कांधों से कांधा मिलाकर चलने का अफ़साना चला है नौकरियों का प्रलोभन और भी ज़्यादा हो गया है और हैरत है कि सदियों से प्रचलित घरेलू ज़िंदगी में औरतों की ओर से सेवा और घर के काम काज को बेकारी का नाम दिया जा रहा है यद्यपि मौजूदा रास्ता हक़ीक़त में बेकारी के बराबर है, क्योंकि उससे घर और ख़ानदान वीरान हो रहे हैं।

अगले ज़माने की औरतें ख़ानदान (घर) की ज़िंदगी का बड़ा बोझ उठाती थीं, उसे बेकार कहना मूर्खता व जिहालत से कम नहीं। एक सोच यह भी चल निकली है कि नौकरियों के द्वारा घर की आमदनी में वृद्धि होती है। यह तथ्य है क्योंकि औरतों की घर से ग़ैर मौजूदगी की वजह से नौकर रखने पड़ते हैं जो आम ख़ानदानों के बस की बात नहीं।

''क़ौम की आधी आबादी बेकार''... अफ़साना या हक़ीक़त

(डाक्टर सय्यद मुहम्मद अब्दुल्लाह स्वर्गीय)

लेख का शीर्षक मैंने निकट अतीत में होने वाली महिला कांफ्रेंस की एक सम्मानित महिला वक्ता से लिया है। उन्होंने फ़रमाया कि हमारी क़ौम की आबादी का आधा हिस्सा बेकार है, उसे राष्ट्रीय निर्माण में पूरी हिस्सेदार बनाना चाहिए।

आदरर्णीय महिला के इरशाद का दूसरा हिस्सा बिल्कुल सही है लेकिन पहले हिस्से को नहीं माना जा सकता, बल्कि उस पर आपत्ति की जा सकती है इस बुनियाद पर कि उन्होंने मुस्लिम समाज को बदनाम करने में पश्चिम वालों की भ्रम पैदा करने वाली मुहिम में जान बूझकर शिरकत की है। मैंने इसे बदनाम करने वाली मुहिम इसलिए कहा है कि क़ौम के आधे हिस्से को बेकार कहना हक़ीक़त के ख़िलाफ़ है शायद आदर्णीय महिला कहना यह चाहती हैं कि महिलाओं की अधिसंख्या मौजूदा शिक्षा से नाराज़ और ग़ैर नौकरी पेशा है और इस हद तक बात ग़लत नहीं, सही है। मगर यह कहना कि मुसलमान औरतों की अधिसंख्या बेकार है और हाथ पर हाथ धरे बैठी रहती है। पूरी तरह आरोप और बोहतान है। बिल्कुल फ़ारिग होने की बात अगर सही है तो केवल उन घरानों के बारे में जो सम्पन्न, पूंजीपति और जागीरदार या हर प्रकार के सुख वैभव भरी ज़िंदगी वाले हैं। ऐसे घरानों में नौकर चाकर अधिकता से होते हैं और औरतें तो क्या स्वयं मर्दों के पास कोई ख़ास पैदावारी काम नहीं होता मगर देहातों में बसने वाली करोड़ों और शहरों की ग़रीब मध्य स्तर औरतों का यह हाल नहीं। वह क़ौमी ज़िंदगी (ख़ानदान के निर्मांण और घर) को आबाद रखने में बड़े निर्णायक और सराहनीय काम अंजाम

देती हैं। अतः उन्हें बेकार कहना उन पर सख़्त ज़्यादती है।

मैं औरतों की शिक्षा और उनकी नौकरियां दोनों का समर्थक हूं, बल्कि यूं कहो तो बेहतर होगा कि उनकी उचित शिक्षा को फ़र्ज़ ऐन और ज़रूरत पड़ने पर उनके लिए नौकरी को एक मजबूरी समझता हूं जिसकी ज़िम्मेदारी इस भय पर है जो औरतों के दिलों में मर्दों (पतियों) के बारे में पैदा कर दिया गया है या होना है उसके बावजूद मैं यह नहीं मान सकता कि घर और घरदारी की व्यस्तता मामूली, तुच्छ और बेकारी के जैसा है। मेरे विचार में यह कहना कि क़ौम का आधा हिस्सा बेकार है आरोप भी है और अफ़साना भी। आरोप इसलिए कि क़ौम का वास्तविक स्तर (बच्चों का लालन पालन करने वाली) आबादी के ख़िलाफ़ यह शर्मनाक व्यंग है जिसमें तुच्छता का पहलू पाया जाता है और अफ़साना इसलिए है कि यह हक़ीक़त के ख़िलाफ़ है। वे करोड़ों औरतें जो देहात में रहती हैं। बच्चों के प्रशिक्षण और घरदारी के अलावा भी मर्दों के आर्थिक कामों में शरीक होती हैं, अतः हमारी आख़िरी जन गणना में इस प्रकार का सहयोग साठ और सत्तर प्रतिशत के बराबर क़रार दिया गया है। तो क्या हम ऐसी दृढ़ संकल्प देहाती औरतों को "बेकार" के तुच्छ शब्दों से याद कर सकते हैं। कदापि नहीं। यह असल में पूंजीवादी ज़ेहन और क़ौम के पूंजीपति वर्ग का अपनी बेकारी को छुपाने का परदा है, या फिर पश्चिम के साम्यवाद वर्ग की अनुसरण करने वाली आवाज़ है जो हमारे देश में सामाजिक छूट पैदा करना चाहता है। तुच्छ समझने का यह अंदाज़ प्रत्यक्ष में इस दलील पर भी आधारित है कि यह शहरी औरतें अपनी देहाती बहनों को शिक्षा से अनभिज्ञ कहकर उन्हें अपने से कमतर समझती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षित होना शिक्षित न होने से बेहतर और उच्च है और हम औरतों की शिक्षा को फ़र्ज़ ऐन क़रार दे चुके हैं, लेकिन हम इस दलील को फ़िलहाल मानने के लिए तैयार नहीं कि शिक्षित औरतें

बेहतर घरदार वाली साबित होती हैं और हर कोई जानता है कि प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदारी का बोझ अशिक्षित औरतें सदियों से उठा रही हैं और उनके नतीजे में यही एक दलील काफ़ी है कि उन्हीं ऊंचे दर्जे वाली औरतों ने ग़ज़ाली, राज़ी, बू अली सीना और इक़बाल जैसे लोग पैदा किए और बड़ी भारी संख्या में महान व्यक्ति पैदा किए। पश्चिमी औरतों का एक हिस्सा भी बच्चे के लालन पालन को ज़रूरी समझता है मगर प्रत्यक्ष रूप से ज़िम्मेदारी को अब वहां बोझ समझा जाने लगा है अब लालन पालन व प्रशिक्षण के बनावटी और अप्राकृतिक तरीक़े निकल आए हैं और यह काम इदारों के हवाले होने लगा है "मादरी" ज़िम्मेदारियां अब अप्रिय हैं, लेकिन हमारी क़ौम की औरतों का अधिकांश हिस्सा (मुख्य रूप से अपूंजीपति वर्गों में) सीधे मादरी ज़िम्मेदारियों को पूरा करता है। उन्हें बेकार कहना क़ौम का अपमान है। यह सही है कि उन्हें शिक्षित होना चाहिए, लेकिन यह दोष शिक्षा की राष्ट्रीय व्यवस्था का है जो औरतों को क्या, बजाए स्वयं, मर्द की शिक्षा का भी सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं कर सकती, फिर उसकी ज़िम्मेदारी ग़रीबी और निर्धनता पर भी है और यह इस वजह से है कि क़ौमी आर्थिक व्यवस्था, पूंजीवाद के अन्यायी उसूलों पर आधारित है तो इस सूरत में देहाती औरतों का क्या दोष है?

अब रही बेकारी का दूसरा खंड अर्थात यह विचार कि घर का इंतिज़ाम आन्तरिक और घरदारी मानो कोई काम ही नहीं, बड़ी भारी अज्ञानता और बेख़बरी का दर्पण है हमारी राय में ये औरतें जो घरों का इंतिज़ाम करती हैं उच्च दर्जा और बुलन्द सीरत औरतें हैं जिनसे घरों में आराम और सुख व सनतोष क़ायम है। इसके अलावा सीधे रूप से ज़िम्मेदारी से ख़ानदानों में प्यार व मुहब्बत और क़ौम के मेहनत कश पैदावारी वर्ग (मर्दों) के लिए ज़िंदगी की राहत और ताक़त उपलब्ध होती है और वह मर्द ना शुक्रे हैं जो पत्नियों के इस महान रोल की क़द्र नहीं करते। ये औरतें क़ौम की उपकारी हैं वे औरतें जो इस बोझ को ख़ुशी से

सहन करती हैं जो प्रकृति ने और फिर इस्लाम ने उन पर [illegible] उनके उद्देश्य को आन्तरिक और बाहरी दो हिस्सों में बांट कर [illegible] गाड़ी को चलाए रखने में इंसानियत पर उपकार किया।

मसला यहां नौकरी का भी छेड़ा जा सकता है जिसे मैंने पूर्व बयानों में ज़रूरी व पसन्दीदा और कुछ सूरतों में मजबूरी क़रार दिया है[1] लेकिन यह घरदारी की ज़िंदगी से अलग मसला है और उसके बहुत पहलू हैं, लेकिन संकेत में यह ज़रूरी है कि यह भी एक व्यवस्था और संगठन का अभिलाषी है जिसकी बुनियाद घरदारी की बौद्धिक दलीलों और नैतिक ज़रूरतों पर रखनी पड़ेगी। नौकरी बेज़रूरत और मात्र नौकरी के लिए, आगे चलकर शिक्षित मर्दों और औरतों की बेरोज़गारी जैसे मसाइल और आपसी मुक़ाबला और नीचा दिखाने की भावना पैदा कर सकती है।

बहरहाल इस समय मुझे साबित यह करना था कि हमारी क़ौम का आधा हिस्सा इस सम्मानित महिला के विचारों के विपरीत है जिसने आधी आबादी को बेकार कहा था, बेकार नहीं। यह प्रोपगंडा और अफ़साना ही अफ़साना है। ("नवाए वक़्त" लाहौर, 3 नवम्बर 1981 ई०)

1. इस विषय पर डाक्टर साहब का एक महत्वपूर्ण लेख पिछले पृष्ठों में गुज़र चुका है।

(5)

औरत और राजनीति?

राजनीति और सामाजिक मामले (सोशल वर्क) में औरतों का हिस्सा लेना भी औरत का अपने कार्यक्षेत्र का उल्लंघन ही है। इसी लिए इस्लामी दृष्टिकोण से यह मैदान भी केवल मर्दों के लिए ख़ास है, औरतों का इस मैदान में आना और राजनीति और सामाजिक मामलों में कई सालों से असेम्बलियों में औरतों के प्रतिनिधित्व का मसला राजनीतिक, धार्मिक और ज्ञानात्मक क्षेत्रों में बहस का शीर्षक है। इस सिलसिले में अब तक विभिन्न रायें सामने आ चुकी हैं।

(1) एक राय तो वह है जो 1973 ई० के संविधान में अस्थाई तौर पर अपनाई गई थी, जो देश की विशेष सैद्धान्तिक और यथार्थ स्थिति की द्योतक बतलाई जाती है, अर्थात देश में औरत चूंकि सीधे चुनाव में हिस्सा लेने की पोज़ीशन में नहीं है, इसलिए असेम्बली के सदस्य अपने वोटों से कुछ औरतों का चयन कर लें ताकि असेम्बलियों में औरतों का प्रतिनिधित्व हो सके। संविधान में दिया गया यह ख़ास हक़ 1988 ई० में ख़त्म हो चुका है, इसके बाद उसमें अभी तक एक्सटेंशन नहीं हो सका है। पीपुल्ज़ पार्टी की हुकूमत इसके लिए वैधानिक संशोधन की इच्छुक रही ताकि एक तो देश में औरत के बारे में पश्चिम की धारणा आम हो, क्योंकि पश्चिमवाद का बढ़ावा इस पार्टी के ख़मीर और ज़मीर में शामिल है। दूसरे, असेम्बली में उसकी संख्या में वृद्धि हो। साफ़ सी बात है कि हुकूमत जिन औरतों को भी असेम्बलियों की शोभा बनाने के लिए चुनेगी, वे हुकूमत की आभारी होंगी, इसलिए वे ज़ालिम और भ्रष्ट हुकूमत की मज़बूती का कारण होंगी। यही वजह है कि मुस्लिम लीग (न) ने इस मामले में पीपुल्ज़ पार्टी की समर्थक होने के बावजूद, संविधान में

उल्लिखित संशोधन के लिए सहयोग नहीं दिया।

(2) इसी तरह मुहम्मद नवाज़ शरीफ़ ने एक नया प्रस्ताव कुछ समय पहले यह रखा था कि पूरे देश में औरतों के लिए चालीस हल्क़े क़ायम कर दिए जाएं और उन हल्क़ों से प्रत्यक्ष रूप से औरतों के वोटों से उन्हें चुना जाए और वे औरतें असेम्बलियों में औरतों का प्रतिनिधित्व करें।

(3) कुछ लोग कहते हैं कि दुनिया के किसी देश के संविधान में औरतों के लिए अलग सीट नहीं हैं। इसलिए पाकिस्तान में अलग सीटों की सूरत न अपनाई जाए, बल्कि जिस तरह पाकिस्तान के संविधान में औरतों को पहले से आम सीटों पर चुनाव लड़ने का हक़ हासिल है, यही काफ़ी है और इस तरीक़े से जितनी औरतें चुन कर असेम्बलियों में पहुंच जाएं, उसी पर बस किया जाए। एक अवसर पर नवाब ज़ादा नसरुल्लाह ख़ां ने भी यह प्रस्ताव रखा था।

(4) एक चौथी राय कुछ दीनी हल्क़ों की ओर से यह आई है कि औरतों का चुनाव तो आम चुनाव द्वारा ही किया जाए, लेकिन उसके लिए निम्न बातों का ध्यान रखा जाए :

- ✔ असेम्बली की सदस्यता के लिए औरत की उम्र की हद कम से कम चालीस साल निर्धारित कर दी जाए।
- ✔ असेम्बलियों में औरतों के लिए निर्धारित लिबास और अलग बैठने की जगह का आयोजन हो।
- ✔ इलेक्शन नियमों के तहत हर सियासी पार्टी को पाबन्द कर दिया जाए कि वह इलेक्शन के लिए पारित करदा टिकटों का 1/10 हिस्सा औरतों के लिए ख़ास करे। (माहनामा "अलशरीअत" गूजरांवाला, दिसम्बर 1993 ई०)

हमारे निकट इनमें से कोई राय भी सही नहीं है। हर एक में कोई न कोई ख़राबी ज़रूर पाई जाती है।

एक : इसलिए कि इन सबकी बुनियाद पश्चिमी सभ्यता की इस अवधारणा पर है जिसमें किसी भी मामले में मर्द और औरत के बीच फ़र्क़ करना जाइज़ नहीं है। ज़िंदगी के हर स्थल में औरत को मर्द के साथ साथ हिस्सा लेने का हक़ हासिल है और उसे हिस्सा लेना चाहिए और पश्चिम अपने ख़ास साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए इस मर्द व औरत में समानता के दृष्टिकोण को इस्लामी देशों में बढ़ावा दे रहा है, लेकिन इस्लाम पश्चिम के इस दृष्टिकोण को सही नहीं मानता। इस्लाम मर्द और औरत को ज़िंदगी के दो पहिये तो ज़रूर मानता है कि जिनके बिना इंसानी ज़िंदगी की गाड़ी चल नहीं सकती, लेकिन वह दोनों का कार्यक्षेत्र एक दूसरे से भिन्न प्रस्तावित करता है उसके निकट दोनों की प्राकृतिक क्षमताएं भी भिन्न हैं और दोनों का उत्पत्ति का उद्देश्य भी एक दूसरे से अलग। इसलिए वह दोनों को अलग अलग दायरे में रखकर अपने अपने निर्धारित कर्तव्य अदा करने की ताकीद करता है। राजनीति और सांसारिक मामलों के स्थल भी (कुछ और स्थलों की तरह) एक ऐसा विभाग है जिसे इस्लाम ने केवल मर्द ही के लिए ख़ास किया है वह औरत का राजनीति में हिस्सा लेने को कदापि पसन्द नहीं करता, जबकि उल्लिखित चारों प्रस्ताव औरत के राजनीति में हिस्सा लेने की धारणा पर आधारित हैं।

अतः ये चारों ही प्रस्ताव इस्लामी दृष्टिकोण से ग़लत हैं, क्योंकि इनमें से हर प्रस्ताव में इस्लामी उसूल व नियमों से विमुखता पाई जाती है और इस्लामी नियमों को खंडित किए बिना कोई भी प्रस्ताव अमल में नहीं लाया जा सकता।

दूसरा : असेम्बलियों में औरतों के प्रतिनिधित्व के लिए औरतों को असेम्बलियों के लिए मनोनीत करना, या वहां तक पहुंचने के लिए चुनाव में उनका हिस्सा लेने को ज़रूरी समझना भी हमारे लिए उलझावे की बात है। क्या असेम्बली के सदस्य पूरी क़ौम के प्रतिनिधि नहीं हैं? असेम्बली के सदस्य क़ौम के हर वर्ग के नुमाइंदे हैं। वे मज़दूरों के भी नुमाइंदे हैं,

उद्योग पतियों के भी नुमाइंदे हैं, ताजिरों और फड़ वालों के भी नुमाइंदे हैं, वे नौकरी करने वालों और किसानों के भी नुमाइंदे हैं। मतलब यह कि वे ज़िंदगी के हर स्थल से संबंध रखने वाले लोगों के नुमाइंदे हैं, सब की भलाई व कल्याण के लिए क़ानून बनाना और संसाधन जुटाना उनकी ज़िम्मेदारी है। जब वे हर वर्ग की भलाई व कल्याण के ज़िम्मेदार हैं तो क्या औरतों के मसाइल व मुश्किलात के हल के वे ज़िम्मेदार नहीं हैं? विशेषकर जबकि औरत उनकी मां भी है, उनकी बेटी भी है, उनकी पत्नी और उनकी बहन भी है। तो क्या वे इतने ही अवज्ञाकारी हैं कि ज़िंदगी के हर स्थल से संबंध रखने वाले मर्दों के मसाइल पर तो वे सोच विचार करेंगे उनकी भलाई के लिए योजना बनाएंगे और क़ानून बनाएंगे, लेकिन अपनी ही मां, अपनी ही पत्नी, अपनी ही बेटी और बहन के लिए वे कुछ नहीं करेंगे? उनके मसाइल व मुश्किलात पर ध्यान नहीं देंगे? आख़िर यह कैसे और क्यों कर संभव हो सकता है?

अगर कहा जाए कि औरतों का असेम्बलियों में पहुंचना मुश्किल है तो हम कहेंगे कि दूसरे वर्गों का पहुंचना कौन सा आसान है, बल्कि दूसरे वर्गों का तो असेम्बलियों में पहुंचना औरत की तुलना में बहुत ज़्यादा मुश्किल है। मालदार और जागीरदार ख़ानदानों की बेगमात तो फिर भी आसानी से चुनाव लड़कर असेम्बलियों में पहुंच सकती हैं जैसे हर बार के चुनाव में कुछ न कुछ औरतें कामयाब होकर असेम्बलियों में पहुंचती रही हैं और अक्टूबर 2002 ई० के चुनाव में काफ़ी संख्या में क़ौमी और सूबाई असेम्बलियों में औरतें पहुंची हैं। इसके अलावा 1973 ई० के संविधान के अनुसार इस बार औरतों को चुने हुए प्रतिनिधियों के वोटों से उचित प्रतिनिधित्व की बुनियाद पर भी चुना गया है, जिसके बाद क़ौमी असेम्बली ही में औरतों की संख्या 75 हो गई है और सूबाई असेम्बलियों में भी स्थिति यही है। जबकि मज़दूरों, हारियों, किसानों, बेरोज़गारों, कारीगरों और हुनरमन्दों, शैक्षिक संस्थानों के अध्यापकों, नौकरी करने

वाले व्यक्ति यहां तक कि मध्य स्तर परिवारों का भी कोई नुमाइंदा असेम्बलियों में पहुंच सका है? या आगे उनमें से किसी के पहुंचने की कल्पना की जा सकती है? इसी तरह विद्वानों और बुद्धिजीवियों का वर्ग है जिसमें ग़ैर सियासी उलमा, विभिन्न जीवन स्थलों के माहिर, लेखक और पढ़े लिखे लोग और अन्य बहुत से प्रमुख वर्ग हैं, लेकिन असेम्बलियों में वे प्रतिनिधित्व से वंचित चले आ रहे हैं और आगे भी उनकी महरूमी के निवारण की कोई सूरत नज़र नहीं आती।

औरतों से ज़्यादा क्या उन वर्गों का प्रतिनिधित्व ज़रूरी नहीं है? अगर औरतों के प्रतिनिधित्व के लिए ख़ास आसानियों का आयोजन ज़रूरी है तो उल्लिखित वर्गों के लिए भी उन आसानियों के आयोजन की ज़रूरत है, वर्ना यह एक भेदभाव का सुलूक होगा जिसका इन्कार यह सेक्युलर लोग बड़े ज़ोर शोर से करते हैं यहां तक कि यह अल्लाह तआला के क़ायम करदा मर्द व औरत के बीच कुछ प्राकृतिक फ़र्क़ को भी ख़त्म करने के लिए बेक़रार हैं।

औरतों के प्रतिनिधित्व के औचित्य के लिए एक दलील यह दी जा रही है कि ख़िलाफ़ते राशिदा में अनेक बार इन मामलों और सामूहिक मामलों में भी औरतों से राय ली गई.....इसलिए सामूहिक मामलों के हवाले से क़ौमी सतह पर मश्वरा और मार्गदर्शन की व्यवस्था के निज़ाम में शिरकत औरतों के लिए शरअन मना नहीं है। (शरीअत, मज़्कूरा पृ० : 42)

ठीक है, लेकिन सवाल यह है कि सलाह के लिए असेम्बलियों का सदस्य बनना या बनाना क्यों ज़रूरी है? क्या इसके बिना ज़रूरत पड़ने पर औरतों से मशवरा नहीं लिया जा सकता? बल्कि हम तो यह समझते हैं कि जो औरतें असेम्बलियों की मिम्बर बनेंगी या बनाई जाएंगी उनकी अधिसंख्या इस तरह की होंगी कि वे असेम्बली के सदस्यों की हवस और आंखें सेंकने का सामान तो शायद अवश्य जुटा दें, लेकिन औरतों के

वास्तविक मसाइल व परेशानियों से न वे अवगत ही होंगी न उनके प्रयासों से उनके हल की राहें ही खुलेंगी। इसके विपरीत अगर कुछ औरतों को सदस्य बनाए बिना, देश की समझदार, पढ़ी लिखी घरेलू और शैक्षिक इदारों से जुड़ी औरतों से विभिन्न सवाल नामों की शक्ल में राय हासिल की जाए तो ज़्यादा बेहतर तरीक़े से औरतों से सलाह व मश्वरे का आयोजन हो सकता है। ये औरतों के मिम्बर बनने या बनाने के भारी भरकम ख़र्चों के मुक़ाबले में, कि हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखा आए" का चरितार्थ भी होगा।

जैसा कि अक्टूबर 2002 ई० के चुनाव में जिस तरह बड़ी संख्या में औरतों को क़ौमी व क्षेत्रीय असेम्बलियों में प्रतिनिधित्व दिया गया है, उसके सालाना ख़र्चों का अनुमान 5 करोड़ 64 लाख रुपये लगाया गया है। (रोज़नामा "जंग" लाहौर-28 नवम्बर 2002 ई० पृष्ठ : 4 और 13)

बहरहाल जिस हिसाब से भी देखा जाए, असेम्बलियों में औरतों के प्रतिनिधित्व का मसला एक व्यर्थ का शौक़, बेजा ख़र्च और पश्चिमी मानसिकता के नतीजे से ज़्यादा कोई हैसियत नहीं रखता। इस मांग में कदापि कोई बेहतरी और लाभ नहीं है, यह अनुचित भी है और क़ौमी ख़ज़ाने पर एक बेजा बोझ भी और सबसे बढ़कर क़ुरआनी आदेश "व क़र-न फ़ी बुयूतिकुन-न" (अहज़ाब : 33) के विरुद्ध भी। इसलिए हम दीनी हल्क़ों और दीनी जमाअतों से कहेंगे कि वे इस मसले में क्षमा याचना का अंदाज़ छोड़कर ज़ोरदार अंदाज़ में इसके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाएं। अगर मर्द औरत के मसाइल हल करने पर समर्थ नहीं हैं तो असेम्बलियों में प्रतिनिधित्व के शीर्षक से पहुंचने वाली औरतें क्या तीर मार लेंगी?

जनपद सरकारों की नई व्यवस्था में औरतों का प्रतिनिधित्व?

इस विस्तार से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जनरल परवेज़ मुशर्रफ़ की मौजूदा सरकार ने जनपद सरकारों की जो नई व्यवस्था प्रस्तावित की

है, उसमें भी औरतों का 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व का आयोजन इस्लामी शिक्षाओं व मूल्यों के बिल्कुल ख़िलाफ़ है। इतनी संख्या में औरतों का प्रतिनिधित्व तो उन पश्चिमी देशों में भी नहीं है जो औरत व मर्द की समानता के दृष्टिकोण को मानते हैं। पाकिस्तान में, जिसकी बुनियाद इस्लाम पर है, उसका क्या औचित्य है?

पाकिस्तान सरकार का एक और बेकार का शौक़ और पश्चिमी मानसिकता का नतीजा

अगस्त 1995 ई० में पाकिस्तान सरकार के तत्वाधान में इस्लामी जगत की संसद सदस्य औरतों की एक कांफ्रेंस आयोजित हुई, जिसे पहली कांफ्रेंस क़रार दिया गया और इस संकल्प को व्यक्त किया गया कि हर साल इस कांफ्रेंस पर बेतहाशा लाखों नहीं, करोड़ों रुपये ख़र्च किया गया है। इसका एक उद्देश्य बेनज़ीर की अपनी पब्लिसिटी और अपने आपको उजागर करना था। दूसरा उद्देश्य इस्लामी देशों में पश्चिमी मानसिकता का बढ़ावा है। विशेषकर इसका मर्द व औरत के बीच समानता का दृष्टिकोण। क्योंकि औरत के शासक होने के औचित्य की बुनियाद भी पश्चिम का यही दृष्टिकोण है। वर्ना इस्लाम में तो औरत के शासक होने की कोई धारणा ही नहीं है और जैसा कि हमने पिछले पन्नों में कहा है कि औरतों का पार्लीमेंट का मिम्बर होना, या शहरी मजलिस पर कौंसलर होना या किसी और राजनीतिक व सामाजिक स्थान में सरगर्म होना इस्लामी शिक्षाओं से मेल नहीं खाता, बल्कि उसमें इस्लामी शिक्षाओं से विमुखता मौजूद है और इसी लिए हम यह भी कहते हैं कि इस्लामी जगत की उन औरतों का, जो क़ुरआनी आदेश से बग़ावत करने वाली हैं, इस्लामाबाद में हर साल मेला लगाने का भी कोई औचित्य नहीं है। यह एक बेकार की अय्याशी और क़ौमी संसाधनों की बर्बादी है। क्योंकि बेनज़ीर समेत ये तमाम औरतें ऐसी हैं कि उन्हें कदापि औरतों के मसाइल से कोई दिलचस्पी नहीं है। यह केवल इस्लामी देशों में पश्चिम की

निर्लज्ज सभ्यता फैलाना चाहती हैं। इसके अलावा उनका कोई उद्देश्य नहीं है।

मुसलमान औरतों के हल न होने वाले ज़रूरी मसाइल की एक सूची

अगर ये औरतें औरतों की हितैषी होतीं, उन्हें औरतों की मुश्किलात का एहसास व शऊर होता और ये उनके मसाइल के हल करने की भावना अपने अंदर रखतीं तो सबसे महत्वपूर्ण मसला उनके सामने यह होता :

(1) महिला यूनिवर्सिटियां क़ायम की जाएं ताकि मुसलमान औरत, मर्दों से अलग रहकर, सतर व पर्दे की पाबन्दी के साथ उच्च शिक्षा हासिल कर सके। क्या उन पश्चिम से प्रभावित औरतों ने इसका मुतालबा किया? या इस पर कोई सोच विचार किया? या आइंदा उनसे कोई आशा है?

(2) दूसरा मुतालबा उनकी तरफ़ से यह होना चाहिए था कि औरत का जिन्सी शोषण ख़त्म किया जाए, उसे शो पीस या तिजारती सामान के तौर पर इस्तेमाल न किया जाए। उसे हर विज्ञापन की शोभा बनाकर बाज़ार में अपमानित व नंगा न किया जाए। औरत का वजूद बड़ा पवित्र है, नाज़ुक मोती है, सीपी की गोद में पलने वाले मोती से ज़्यादा क़ीमती है। इसे बाज़ार की वस्तु बनाया जाए, न उसे अख़बारों और फ़िल्मों में नंगा करके, असमत बेचने वालों की तरह माल व दौलत की प्राप्ती का साधन बनाया जाए।

(3) इसी तरह मुतालबा किया जाता कि मिली जुली शिक्षा का ख़ात्मा किया जाए, ताकि औरत की पवित्रता को घायल होने और उसके सतीत्व को तार तार होने की संभावनाएं कम से कम हो जाएं। जबकि मिली जुली शिक्षा ने इन संभावनाओं को, दुर्घटनाओं में बदल रखा है।

(4) दहेज की प्रथा का ख़ात्मा और शादी ब्याह के बेजा ख़र्च और रिवाजों व रस्मों का निवारण किया जाए जिन्होंने शादी जैसे अहम कार्य को एक अज़ाब बना दिया है।

(5) चादर और चार दीवारी की सुरक्षा की जाए, ताकि औरत की इज़्ज़त भी बची रहे और उसका अम्न व सुकून भी बर्बाद न हो।

(6) पारिवारिक अदालतों को ज़्यादा प्रभावी और सरगर्म बनाया जाए, ताकि पीड़ित और सताई गई औरतें अदालतों से तत्काल इंसाफ़ हासिल कर सकें।

(7) अश्लीलता, नंगापन और बेपरदगी का ख़ात्मा किया जाए, ताकि औरतों के साथ होने वाले बलात्कार के बढ़ते हुए रुझान पर क़ाबू पाया जा सके।

(8) ऐयर होस्टेस औरतों की बजाए मर्दों को नियुक्त किया जाए, ताकि इस्लामी आदेशों का अनादर न हो।

(9) समाचार पत्र, टेलीविज़न और कमरशिल विज्ञापनों में औरत का इस्तेमाल वर्जित क़रार दिया जाए, क्योंकि इसमें उसका शोषण भी है और उसका अनादर भी।

(10) विधवाओं और ग़रीब औरतों की भलाई के लिए ज़्यादा से ज़्यादा सहायता केन्द्र और इदारे क़ायम किए जाएं, ताकि ऐसी औरतें इज़्ज़त के साथ अपनी ज़िन्दगी के दिन गुज़ार सकें।

(11) औरतों के लिए मर्दों से अलग शिक्षा पाठ्य तैयार किया जाए, ताकि वे अपने उद्देश्य की उत्पत्ति और प्राकृतिक क्षमताओं के अनुसार ज़्यादा बेहतर तरीक़े से देश व क़ौम की सेवा कर सकें।

(12) जिस तरह उनके शैक्षिक इदारे अलग हों, इसी तरह उनके लिए कुछ विभाग ख़ास कर दिए जाएं जिनमें वे शिक्षा एवं प्रशिक्षण भी हासिल करें और वहां वे मर्दों से अलग रहकर क़ौमी सेवा भी अंजाम दें।

जैसे शिक्षा का विभाग है, तिब्ब का विभाग है, इसी तरह और बहुत से विभाग ऐसे हो सकते हैं जहां वे सतर व हिजाब की पाबन्दी के साथ अनिवार्य काम अंजाम दें।

(13) औरत के बारे में इस्लामी शिक्षाओं और उसके साथ सद व्यवहार के ताकीदी आदेशों को रेडियो, टी.वी., समाचार पत्रों और अन्य साधनों से आम किया जाए, ताकि लोग अज्ञानता की वजह से औरतों पर जो ज़ुल्म करते हैं, उसका निवारण हो और औरत सही अर्थों में घर की मलिका का गौरव हासिल कर सके, जैसा कि इस्लाम चाहता है।

ये और इस प्रकार के और बहुत से मसाइल हैं जो सोच विचार और ध्यान देने के हक़दार हैं, लेकिन औरतों के नाम पर संगठन बनाने और उनके बलबूते पर अपनी लीडरी की दुकान चमकाने वाली औरतों को उल्लिखित मसाइल से, जो पाकिस्तानी मुसलमान औरतों के हक़ीक़ी मसाइल हैं, कोई दिलचस्पी नहीं। उन्हें दिलचस्पी है तो केवल ऐसे मसाइल से कि जिनके द्वारा पाकिस्तान का इस्लामी समाज, पश्चिम के बिगड़े हुए समाज में बदल जाए और पश्चिम की तमाम नैतिक बुराइयां यहां आम हो जाएं। अतः आप देख लीजिए कि औरतों के अधिकारों के नाम पर सरगर्म औरतों के भाषणों और मांगों में ऐसी ही चीज़ें प्रमुख हैं जो पश्चिमी समाज की विशेषताएं हैं। हर जीवन स्थल में मर्द औरत की बराबरी और एक दूसरे के कंधे से कंधा मिलाकर चलने की धारणा विशुद्ध पश्चिमी है। जिसकी इस्लाम में कोई गुंजाइश नहीं, मगर उन तथाकथित लीडरानियों की ज़बान पर हर समय यही नारा रहता है। पश्चिम में मर्द को तलाक़ देने का हक़ हासिल नहीं है। ये लीडरानियां चाहती हैं कि पाकिस्तान के मर्दों से भी, जो इस्लाम ने उन्हें दिया है, यह हक़ छीन लिया जाए बल्कि उसकी जगह यह हक़ औरतों को सौंप दिया जाए। पश्चिम में एक से ज़्यादा शादी मना है, लेकिन ग़ैर क़ानूनी रखेल

और गर्ल फ्रेंड्स की आम इजाज़त है। पाकिस्तानी लीडरानियां भी यहां एक विवाह के क़ानून पर आग्रह करके अश्लीलता का वही दरवाज़ा खोल रही हैं जिससे पश्चिम का अधर्मी समाज दो चार है। मतलब यह कि ये लीडरानियां पश्चिम की हर बात पर ईमान लाई हुई हैं और इस्लामी कल्चर से सख़्त विमुख हैं और पश्चिम की दासता और इस्लाम से नफ़रत का रुझान ये बड़ी तेज़ी से पाकिस्तान की नई नस्ल में भी परिवर्तन कर रही हैं।

अतएव इस कांफ्रेंस को ऐलानिया भी देख लीजिए, उसमें दिए गए भाषणों को सुन लीजिए। आपको यही चीज़ें और बातें मिलेंगी और कांफ्रेंस के समापन पर तो पश्चिम की यह बिल्ली थैली से बिल्कुल बाहर आ गई और नाच गानों की महफ़िल से उन तमाम औरतों की आवभगत की गई जो "औरतों के अधिकार" के नाम पर इस्लामाबाद में जमा की गई थीं। इस घ्रणित हरकत से आसानी से अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि ये औरतें मुसलमान औरत को उसके इस्लामी अधिकार दिलवाने में प्रयासरत हैं या वे उसे पश्चिम की औरत की तरह भरे बाज़ार में नचवा कर उसके अपमान व रुसवाई के दरपे हैं।

अफ़सोस और विडम्बना यह है कि हमारे तमाम मंत्री, शासक वर्ग, उच्च अधिकारी और समाचार पत्र चलते हुए नारों से प्रभावित और शायद पश्चिम की इन बुराइयों से वशीभूत हैं। यह भी सच पश्चिम के दृष्टिकोण ही को यहां बढ़ावा दे रहे हैं। हुकूमत की तमाम नीतियां इसी सोच और कार्य प्रणाली का संकेत है और समाचार पत्र भी उन दृष्टिकोणों को भरपूर प्रसारित कर रहे हैं।

यह परिस्थिति इस्लामी दृष्टिकोण से बड़ी ख़तरनाक है। हुकूमत, समाचार पत्रों और अन्य संचार साधनों की नीतियों और रुपये से हमारे समाज में पश्चिमी रुझानों का साहस बढ़ा रहे हैं। और इस्लाम की अवधारणा लाज व पाकदामनी ख़त्म हो रही है। "अर्रिजालु क़व्वामू-न

अलन्निसा-इ" (निसा : 34) के विपरीत स्थिति बदल रही है और क़ुरआन का हुक्म "व क़र-न फ़ी बुयूतिकुन्न वला तबर्रज-न तबर्रुजल जाहिलिय्यतिल ऊला" (अहज़ाब : 33) ताक़ में रखी बेकार वस्तु मामला बनता जा रहा है।

मर्द औरत की बराबरी के पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार मुसलमान औरत का मर्दों के साथ साथ चलने की यह राह, जिसे भौतिक प्रगति और राष्ट्रीय सम्पन्नतों की ज़मानत समझा जा रहा है, समाज के लिए सख़्त विनाशकारी है। इससे घरेलू निज़ाम टूट फूट का शिकार, इस्लाम से विमुखता और पश्चिमी सभ्यता व समाज की उच्चता की धारणा आम हो रही है। और इस्लाम को एक रूढ़िवादी और मौजूदा दौर में अमल न किए जाने योग्य दीन समझा जा रहा है। क्या हमारे शासक और पत्र पत्रिकाओं के मालिक व सम्पादक यही कुछ चाहते हैं? अगर यही उनका उद्देश्य है (और उनके तौर तरीक़ों का अनिवार्य नतीजा यही है), तो फिर पाकिस्तान में बसने वाले मुसलमानों को सोचना चाहिए कि क्या वे इस बहाव में बहते चले जाएंगे? या अपनी नई नस्ल को इस ग़ैर इस्लामी राह से बचाने की हर संभव कोशिश करेंगे?

(6)

औरत और उसका शासक होना?

औरत के शासक होने का मसला भी उन मसाइल में से है जिससे मर्द व औरत के बीच भेदभाव होता है, क्योंकि इस्लाम में औरत के शासक होने का कोई औचित्य नहीं है, अल्लाह तआला का स्पष्ट आदेश है :

﴿الرِّجَالُ قَوَّامُونَ عَلَى النِّسَاءِ بِمَا فَضَّلَ اللَّهُ بَعْضَهُمْ عَلَى بَعْضٍ وَبِمَا أَنْفَقُوا﴾ (النساء ٤/٣٤)

"मर्द औरतों पर हाकिम हैं, क्योंकि अल्लाह ने एक को दूसरे पर श्रेष्ठता दी और इसलिए भी कि जो वे अपने माल (उन औरतों पर) ख़र्च करते हैं।" (निसा : 34)

इस आयत में अल्लाह ने मर्द के शासक व संरक्षक होने का बयान किया है और साथ ही इसकी दो वजहें बयान की हैं, उनमें से एक वहबी है जो मर्दाना ताक़त व दिमाग़ी योग्यता है जिसमें मर्द औरत से ख़ल्क़ी (पैदाइशी) तौर पर प्रमुख है (जिसे दुनिया की कोई ताक़त बदलने या मिटाने पर समर्थ नहीं।)

दूसरी वजह कसबी है जिसका पाबन्द शरीअत ने मर्द को बनाया है कि वह औरत को कमाकर खिलाए, क्योंकि औरत को उसकी प्राकृतिक कमज़ोरी और ख़ास शिक्षाओं की वजह से, जो इस्लाम ने औरत के सतीत्व व लज्जा और उसकी पवित्रता की सुरक्षा के लिए ज़रूरी बतलाई हैं, औरत को आर्थिक झमेलों से दूर रखा है। इसी तरह अल्लाह का हुक्म है :

﴿وَقَرْنَ فِي بُيُوتِكُنَّ﴾ (الاحزاب ٣٣/٣٣)

"अपने घरों में टिक कर रहो।" (अहज़ाब : 33)

और अल्लाह तआला का हुक्म चूंकि प्राकृतिक उद्देश्यों और शरअी

हिक्मतों पर आधारित है, इसलिए यह आम है। ज़िंदगी के हर स्थल में मर्द शासक व निगरां है और औरत उसकी अधीन और आज्ञा पालक। इसके अलावा औरत का कार्यक्षेत्र घर की चार दीवारी है, बाहरी मामले नहीं।

जब सत्यता यह है तो औरत देश की शासक किस तरह बन सकती है? यह तो क़ुरआन करीम के खुले आदेश के ख़िलाफ़ है और रसूल सल्ल० की हदीसों से भी यह बात साबित है कि औरत का शासक होना, तबाही व बर्बादी का नतीजा है। अतः एक हदीस में रसूलुल्लाह सल्ल० ने फ़रमाया :

«لَنْ يُفْلِحَ قَوْمٌ وَلَّوا أَمْرَهُمُ امْرَأَةً»(صحيح البخاري، المغازي، باب كتاب النبي ﷺ إلى كسرى وقيصر، ح:٤٤٢٥ والفتن، باب:١٨)

"वह क़ौम कदापि कामयाबी नहीं पाएगी जिसने अपने मामलात एक औरत के हवाले कर दिए।"

हदीस (लयं युफ़लि-ह क़ौमुन...) अहले सुन्नत के दो सर्वमान्य उसूलों की रौशनी में : हज़रत अबूबकरा रज़ि० से मरवी यह हदीस कि "वह क़ौम कदापि कामयाब नहीं होगी जिसने एक औरत को अपना शासक बना लिया।"

कुछ लोग इसे रद्द करने के लिए हज़रत अबूबकरा रज़ि० तक की आलोचना करने की और कुछ लोग हज़रत अबूबकर रज़ि० के बाद के रावियों पर जिरह करके सही बुख़ारी की महानता व महत्व घटाने की घृणित कोशिश करते हैं। यद्यपि ये दोनों बातें अहले सुन्नत के सर्वमान्य उसूलों के ख़िलाफ़ हैं।

अहले सुन्नत का एक सर्वमान्य उसूल यह है कि (तमाम सहाबा न्यायी हैं) जिसका मतलब यह है कि जिस रिवायत की सनद का सिलसिला सहाबी तक बिल्कुल सही हो तो वह रिवायत सही है और

सहाबी के बारे में सिरे से कोई जांच ही नहीं की जाएगी, क्योंकि तमाम सहाबा न्यायी हैं, अर्थात हदीस रसूल बयान करने में किसी भी सहाबी से झूठ की संभावना नहीं है। इसलिए जो लोग हज़रत अबूबकर रज़ि० का चरित्र हनन कर रहे हैं, वे इस सर्वमान्य उसूल के ख़िलाफ़ है जिसका कोई महत्व नहीं।

इसी तरह हदीस के दूसरे रावियों पर जिरह करके रिवायत को कमज़ोर क़रार देने का मतलब सहीह बुख़ारी के सही होने को घायल करना है, यद्यपि सहीह बुख़ारी के बारे में भी उम्मत मुस्लिमा का यह सर्वमान्य नियम है कि यह अल्लाह की किताब के बाद हदीसे रसूल का सहीह तरीन संग्रह है और इसकी किसी रिवायत का खंडन इस सर्वमान्य क़ायदे के विरुद्ध है। इसी लिए शाह वलीउल्लाह मुहद्दिस देहलवी रह० ने ठीक ही कहा है :

«أَمَّا الصَّحِيحَانِ فَقَدِ اتَّفَقَ الْمُحَدِّثُونَ عَلَى أَنَّ جَمِيعَ مَا فِيهِمَا مِنَ الْمُتَّصِلِ الْمَرْفُوعِ صَحِيحٌ بِالْقَطْعِ، وَأَنَّهُمَا مُتَوَاتِرَانِ إِلَى مُصَنِّفَيْهِمَا وَأَنَّهُ كُلُّ مَنْ يُهَوِّنُ أَمْرَهُمَا فَهُوَ مُبْتَدِعٌ مُتَّبِعٌ غَيْرَ سَبِيلِ الْمُؤْمِنِينَ»

(حجة الله البالغة: ١/ ١٣٤ مطبعة منيرية، مصر)

''सहीह बुख़ारी व सहीह मुस्लिम के बारे में मुहद्दिसीन की इस बात पर सहमति है कि इनकी तमाम मुत्तसिल और मरफ़ूअ रिवायात पूर्ण रूप से सहीह हैं, ये दोनों किताबें अपने लेखकों तक मुतवातिर हैं और हर वह व्यक्ति जो इन दोनों किताबों का महत्व घटाता है, वह बिदअती और मोमिनों के रास्ते को छोड़कर किसी और रास्ते का अनुयायी है।''

अगले पृष्ठों में इन ''ढनीनों'' का पोस्ट मार्टम और भ्रमों व सन्देह का निवारण है जो औरत के शासक होने के औचित्य के बारे में पेश किए जाते हैं।

सन्देहों व भ्रमों का अवलोकन?

1. हदीस (लयं युफ़लि-ह क़ौमुन...) पर आपत्ति?

नबी करीम सल्ल० का आदेश, जो सहीह बुख़ारी में दो स्थानों पर दर्ज है कि "वह क़ौम कदापि कामयाब नहीं होगी जिसने अपने मामले एक औरत के हवाले कर दिए।" (सहीह बुख़ारी, मग़ाज़ी, अध्याय किताबुन्नबी इला किसरा व क़ैसर, हदीस : 4425, अलफ़ितन, अध्याय : 18)

यह आदेश सनदन बिल्कुल सही है, इसकी सेहत में विद्वानों के बीच कदापि कोई मतभेद नहीं है। सिवाए उन थोड़े लोगों के जो सिरे से हदीस की हुज्जत ही के क़ायल नहीं है। इस आदेश की बिना पर आज तक उम्मत मुस्लिमा ने अपना शासक किसी औरत को बनाना पसन्द नहीं किया। यही वजह है कि मुसलमानों की चौदह सौ साला तारीख़ में चांद बीबी, रज़िया सुलताना और भोपाल की शासक कुछ बेगमात के अलावा मुसलमान औरत की हुकूमत करने की मिसालें न होने के बराबर हैं और ये मिसालें इसलिए नमूना के योग्य नहीं कि उनको शासक बनाने में जनता का कोई दख़ल नहीं था। यह सब इसी तानाशाही के नतीजे में तख़्त की वारिस बनी थीं जिस तानाशाही को आजकल के सारे राजनीतिक बुद्धिजीवी रद्द कर चुके हैं।

लेकिन रोज़नामा "जंग" के एक स्थाई कॉलम निगार ने उल्लिखित सही और सर्वमान्य हदीस को यह कहकर कि "अनेक अहले इल्म इस हदीस के रावी पर असमाउर्रिजाल के फ़न की रौशनी में वज़नी आपत्तियां पेश कर चुके हैं।" (रोज़नामा "जंग" लाहौर, पृष्ठ : 3, 28 नवम्बर 1988 ई०)

स्वीकार न किए जाने योग्य ठहरा देने की कोशिश है लेकिन हम बड़े

अदब से उनकी सेवा में अर्ज़ करेंगे कि वे इन अनेक अहले इल्म की निशानदेही भी कर दें, तो अच्छा है। वर्ना हमारे ज्ञान ही हद तक तो अहले सुन्नत के तमाम अहले इल्म इस हदीस को हर हिसाब से सही समझते हैं। हम यही जानना चाहते हैं कि जिन अहले इल्म ने "वज़नी आपत्तियां" की हैं। वे कौन हैं? किस वर्ग और जमाअत से उनका संबंध है? इसकी क़ोई व्याख्या उनके लेख में नहीं है। इसलिए हम उनकी आपत्तियों की हक़ीक़त जानने से विवश हैं कि क्या वास्तव में वे "वज़नी" हैं जैसा कि दावा किया गया है?

2. जंगे जमल में हज़रत आइशा रज़ि० के रोल से विवेचन

दूसरी दलील इस हदीस को रद्द करने के लिए यह पेश की गई है कि "चूंकि हज़रत आइशा रज़ि० ने एक लश्कर का नेतृत्व किया था (जंगे जमल में) और जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उनके ख़िलाफ़ थे, उन्होंने औरत की मुखिया के हवाले से उल्लिखित हदीस का ज़िक्र किया। दूसरे शब्दों में अहले इल्म का एक वर्ग इस हदीस को अपनी सनद के हिसाब से दोषों से ख़ाली नहीं समझता।"

यहां उन की बात में कुछ भ्रम है। शायद उनका मतलब यह मालूम होता है कि हज़रत आइशा रज़ि० के विरोधी ग्रुप ने इस हदीस के हवाले से औरत के शासक होने को ग़लत क़रार देने की कोशिश की जिसे दूसरे ग्रुप ने सही नहीं समझा, मानो उनके निकट यह हदीस अपनी सनद के हिसाब से दोषों से ख़ाली नहीं थी। अगर यही मतलब है तो यह निश्चय ही ग़लत और सत्यता के ख़िलाफ़ है। अव्वल तो हज़रत आइशा रज़ि० के विरोधी ग्रुप हज़रत अली रज़ि० की तरफ़ से यह हदीस पेश ही नहीं की गई, बल्कि यह रिवायत हज़रत अबूबकरा रज़ि० से मरवी है जिसके शुरू के शब्द यह हैं कि "मुझे जंगे जमल के अवसर पर इस हदीस के ज़रिए से अल्लाह ने बड़ा फ़ायदा पहुंचाया।"

वह फ़ायदा यही था कि हज़रत अबूबकरा रज़ि० उसमान के ख़ून की मांग क़िसास में हज़रत आइशा रज़ि० के समर्थक थे जिसका क़ुदरती नतीजा यह था कि उनको हज़रत आइशा रज़ि० के साथ में राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना पड़ता, लेकिन हदीस वहां बहस का शीर्षक नहीं बनी न विरोधी ग्रुप ने दूसरे ग्रुप की ताक़त को तोड़ने के लिए इसका हवाला दिया, बल्कि स्वयं हज़रत अबूबकरा रज़ि० ने जो हज़रत आइशा रज़ि० ही के ग्रुप के आदमी थे अपने तौर पर हदीस का जो तक़ाज़ा था, इस पर अमल किया। इसलिए इस दावे में कोई हक़ीक़त नहीं कि अहले इल्म के एक वर्ग ने इस हदीस को दोषों से ख़ाली नहीं समझा।

कुछ लोग इस स्थान पर यह भी कह सकते हैं कि हज़रत आइशा रज़ि० का जंगे जमल में हिस्सा लेने से भी तो औरतों के लिए राजनीति गतिविधियों में हिस्सा लेने का औचित्य निकलता है, लेकिन ऐसे तमाम लोगों के ज्ञान में यह बात आनी चाहिए कि हज़रत आइशा रजि0 सारी उम्र अपने इस काम पर लज्जित रही हैं, बल्कि यहां तक आता है कि जब वह क़ुरआन हकीम की तिलावत करते करते सूरह अहज़ाब की इस आयत (व क़र-न फ़ी बुयूतिकुन्न) "औरतें घरों के अंदर टिक कर रहें" पर पहुंचतीं तो बेतहाशा रोतीं, कि मुझसे जंगे जमल के अवसर पर इस आयत का उल्लंघन हो गया था।

दूसरी बात यह है कि हज़रत आइशा रज़ि० का यह काम एक हंगामी क़िस्म का और एक सीमित क़िस्म का था और वह हज़रत अली रज़ि० के मुक़ाबले में ख़िलाफ़त की उम्मीदवार भी नहीं थी। इसलिए एक तो आम हालात के लिए इससे विवेचन करना सही नहीं। दूसरे, औरत के शासक होने का मसला इससे निकालने का औचित्य भी नहीं।

तीसरी बात यह है कि सहाबा किराम रज़ि० ने स्वयं भी उल्लिखित हदीस के आधार पर हज़रत आइशा रज़ि० का साथ देने में संकोच किया है जैसा कि हज़रत अबूबकरा रज़ि० की व्याख्या गुज़र चुकी है।

एक और रिवायत में है कि जब हज़रत आइशा रज़ि० ने उनसे सहयोग की विनती की, तो उन्होंने जवाब दिया "आप निःसन्देह मां हैं, आपका हक़ भी बहुत महान है। लेकिन (मैं आपका साथ देने से इसलिए विवश हूं कि) मैंने रसूलुल्लाह सल्ल० को फ़रमाते हुए सुना है कि वह क़ौम कदापि कामयाब नहीं होगी जिसने अपने मामले औरत के हवाले कर दिए।" (फ़त्हुलबारी : 13/56)

चौथी बात यह है कि क़ुरआन व हदीस के स्पष्ट आदेशों व नसूस के मुक़ाबले में किसी का कथन या कार्य हुज्जत नहीं है। इसलिए किसी भी व्यक्ति के कथन व कार्य से विवेचन सही नहीं। उल्लिखित कॉलम निगार तनिक अपने हल्क़े के उलमा से मसला रज़ाअत कबीर में हज़रत आइशा रज़ि० का मसलक पूछ लें और फिर बतलाएं कि क्या वह उसको जमहूर उलमा के मसलक के मुक़ाबले में मानने के लिए तैयार हैं?

3. मलिका सबा बिलक़ीस के क़ुरआन करीम में ज़िक्र से विवेचन

क़ुरआन करीम में मलिका बिलक़ीस के ज़िक्र से भी विवेचन किया गया है कि क़ुरआन ने मलिका बिलक़ीस के शासक होने के उल्लेख में कोई इशारा नहीं दिया जिससे इस मलिका के किरदार के बारे में इन्कार का रंग झलकता हो। इसलिए उस घटना से भी औरत के शासक होने का औचित्य बल्कि हिमायत व सराहना का पहलू निकलता है।

लेकिन हम कहेंगे कि क़ुरआन करीम में कई घटनाएं व क़िस्से तारीख़ी तौर पर इस अंदाज़ से बयान किए गए हैं कि उन पर किसी क़िस्म की पकड़ नहीं की गई है। क्योंकि वहां उद्देश्य केवल घटना को बयान करना है उसकी सराहना या हिमायत नहीं है, इसलिए क़ुरआन व हदीस के स्पष्ट नसूस के मुक़ाबले में इस प्रकार की घटनाओं से अगर विवेचन अपने अंदर औचित्य का कोई पहलू रखता है तो फिर तो और भी बहुत

कुछ मानना पड़ेगा। हम यहां अपने दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण में उनका ध्यान केवल एक और घटना की तरफ़ कराएंगे और वह है हज़रत यूसुफ़ अलैहि० की घटना। इस घटना में देखिए कि अज़ीज़ मिस्र (ज़ुलेख़ा के पति) ने अपनी पत्नी के मकर को (जो उसने हज़रत यूसुफ़ अलैहि० को फुसलाने के लिए अपनाया था) देखकर औरतों के बारे में इस राय को व्यक्त किया (इन्नहू मिन कै-दिकुन्न इन्न कै-दकुन्न अज़ीमुन) (यूसुफ़ : 28) कि "औरतों का मकर बड़ा महान है" जिसका मतलब यह है कि औरतें बड़ी मक्कार हैं। क़ुरआन करीम ने बिना किसी सामान्य के अज़ीज़ मिस्र का यह कथन नक़ल किया है, क्या हक़्क़ानी साहब के विवेचन की रू से यहां यह कहना सही होगा कि औरतें बड़ी मक्कार होती हैं, क्योंकि क़ुरआन करीम में बिना किसी आपत्ति के यह कथन नक़ल किया गया है?

और आगे चलिए जब ज़ुलेख़ा की यह घटना मिस्र की औरतों में मशहूर हुई तो उसने मिस्र की औरतों को जमा करके हज़रत यूसुफ़ अलैहि० की सुन्दरता का प्रत्यक्षदर्शन करवाया और औरतें वास्तव में हज़रत यूसुफ़ अलैहि० के हुस्न व सुन्दरता से इतनी मोहित हुई कि उन्हें अपना होश भी न रहा और छुरियां अपने हाथों पर फेर लीं। क़ुरआन करीम ने इस घटना को भी बिना किसी आपत्ति के नक़ल किया है। क्या इससे यह विवेचन सही होगा कि इस तरीक़े से औरतों को मर्दों की सुन्दरता के प्रत्यक्षदर्शन की इजाज़त है। क्योंकि क़ुरआन ने अज़ीज़ मिस्र और मिस्र की औरतों की यह घटना बिना किसी आपत्ति के नक़ल की है?

और आगे चलिए कि ज़ुलेख़ा ने मिस्र की औरतों से ख़िताब करते हुए कहा कि यह है वह व्यक्ति जिसकी हुस्न की बारगाह में मैं नक़द दिल हार बैठी हूं। क्या अब भी तुम मुझे निन्दित करोगी? क़ुरआन ने बिना किसी आपत्ति के यह कथन भी नक़ल किया है। क्या इससे यह विवेचन करना जाइज़ होगा कि अगर कोई विवाहित औरत किसी हसीन मर्द के इश्क़ के जाल में फंस जाए, तो उसके लिए अपने इस ग़लत काम के

औचित्य व स्वीकरण के लिए उसकी सुन्दरता का चर्चा और यार के दीदार का आयोजन करना सही है, ताकि उसकी मजबूरी को जानकर उसे विवश समझा जाए।

तनिक सोचिए! इस प्रकार के उपरी विवेचन से क़ुरआन करीम के ठोस आदेशों का मुक़ाबला किया जा सकता है? फिर यह दावा भी सही नहीं है कि क़ुरआन करीम ने मलिका सबा का ज़िक्र इस अंदाज़ से किया है कि जिससे उसकी सराहना और बुद्धिमानी व्यक्त होती है इस घटना का आरंभ ही हुदहुद की ज़बानी इस आश्चर्यजनक ख़बर से किया गया कि :

"एक औरत वहां शासक है जिसे हर चीज़ प्रदान की गई है और उसके लिए बड़ा तख़्त है, वह औरत और उसकी क़ौम अल्लाह को छोड़कर सूरज की पूजा करती है और शैतान ने उनके कामों को उनके लिए आकर्षक बना दिया है और उसने उनको सीधे मार्ग से रोक दिया है। तो वह सीधी राह पर नहीं होते।" (नम्ल : 23-24)

क्या इस स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट नहीं है कि एक औरत को शासन करते हुए देखकर एक जानवर तक ने हैरत व्यक्त की और इसी तरह उसकी सूरजपरस्ती को आलोचना का निशाना बनाया और फिर उसे सीधी राह से भटका हुआ और शैतान के जाल में फंसा हुआ ठहरा दिया है, लेकिन हक़्क़ानी साहब फ़रमा रहे हैं कि "क़ुरआन ने मलिका बिलक़ीस की हुकूमत करने के पूरे क़िस्से में कोई ऐसा इशारा नहीं दिया जिससे उस मलिका के किरदार के बारे में आपत्ति का रंग झलकता हो।"

फिर क़ुरआन करीम में बयान किया गया यह पहलू कि जब हज़रत सुलैमान रज़ि० ने उसको यह लिखा कि "मेरे ख़िलाफ़ उद्दंडता का रास्ता मत अपनाओ और आज्ञापालक बनकर मेरी सेवा में हाज़िर हो जाओ।" (नम्ल : 31)

तो मलिका सबा ने घुटने टेक दिए और कोई मुक़ाबला नहीं किया। क्या यह औरत की हुकूमत करने की कमज़ोरी की निशानदेही नहीं करता? अगर बादशाह कोई मर्द होता, तो क्या वह इतनी आसानी से बिना किसी मुक़ाबले के घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता?

और सबसे बढ़कर क़ुरआन मलिका सबा के मुश्रिका औरं काफ़िरा होने की बात करता है। क्या अब मुसलमान इतने ही गए गुज़रे हो गए हैं कि एक काफ़िरा व मुश्रिका औरत का किरदार व अमल ही उनके लिए अनुसरण योग्य नमूना रह गया है? इस स्थान पर तो ज्ञान के न होने पर मातम करने के साथ साथ, निगाह के मुसलमान न होने की भी फ़रियाद करने को जी चाहता है।

बहरहाल मलिका सबा के क़ुरआन करीम में ज़िक्र करने से औरत के शासक होने का औचित्य ऐसा ही है जैसे कोई क़िस्सा यूसुफ़ के बारे में बयान की गई उल्लिखित बातों को सनद का दर्जा प्रदान फ़रमा दे।

4. क़ुरआन करीम से साम्राज्यवाद का औचित्य ही नहीं, सराहना साबित है

इसके अलावा इस आधुनिक वर्ग का क़ुरआन करीम से संबंध औचित्य का हाल तो यह है कि क़ुरआन करीम में "साम्राज्यवाद" का जिस अंदाज़ से ज़िक्र आया है उससे निश्चय ही मुलूकियत (बादशाही व्यवस्था) का औचित्य ही नहीं निकलता सराहना व पुष्टि का रंग साफ़ झलकता है, लेकिन यह वर्ग साम्राज्यवाद को मानने के लिए तैयार नहीं। अल्लाह तआला ने बनी इसराईल पर जो उपकार किए और जिन इनामों से उनको नवाज़ा क़ुरआन करीम में उनके बारे में जहां और नेमतें गिनवाई हैं, एक नेमत यह भी बयान की है कि तुम्हारे अंदर अंबिया पैदा करने के साथ साथ तुम्हें मुलूक (बादशाह) भी बनाया।

﴿ اذْكُرُوا نِعْمَةَ اللَّهِ عَلَيْكُمْ إِذْ جَعَلَ فِيكُمْ أَنْبِيَاءَ وَجَعَلَكُمْ مُلُوكًا ﴾ (المائدة/٢٠)

"अल्लाह की वे नेमतें याद करो जो तुम पर हुईं, जबकि उस (अल्लाह) ने तुम्हारे अंदर अंबिया बनाए और तुम्हें बादशाह बनाया।" (माइदा : 20)

हज़रत तालूत की बादशाहत की सराहना ही नहीं मिलती, बल्कि क़ुरआन से यहां तक मालूम होता है कि बादशाह के तौर पर उनका चयन भी अल्लाह तआला ही ने किया :

﴿إِنَّ اللَّهَ اصْطَفَاهُ عَلَيْكُمْ وَزَادَهُ بَسْطَةً فِي الْعِلْمِ وَالْجِسْمِ وَاللَّهُ يُؤْتِي مُلْكَهُ مَنْ يَشَاءُ﴾ (البقرة: ٢/٢٤٧)

"अल्लाह तआला ने तालूत को तुम्हारे ऊपर (बादशाही करने के लिए) पसन्द फ़रमाया है और उसको ज्ञान व शरीर में बढ़ौत्तरी प्रदान की है और अल्लाह जिसे चाहता है अपनी बादशाही प्रदान करता है।" (बक़रा : 247)

बल्कि आयत के आरंभ में फ़रमाया :

﴿إِنَّ اللَّهَ قَدْ بَعَثَ لَكُمْ طَالُوتَ مَلِكًا﴾ (البقرة: ٢/٢٤٧)

"अल्लाह तआला ने तालूत को तुम्हारे ऊपर (बादशाही करने के लिए) पसन्द फ़रमाया है।" (बक़रा : 247)

हज़रत सुलैमान अलैहि० को भी अल्लाह तआला ने नुबुवत के साथ साथ बादशाहत से भी सुशोभित किया था और फिर उनकी इच्छानुसार यह बादशाहत भी ऐसी ज़बरदस्त और अनोखी थी कि क़यामत तक ऐसी बादशाहत किसी को प्रदान नहीं होगी, क्योंकि हज़रत सुलैमान अलैहि० ने दुआ की थी (रब्बिग़फ़िरली व हबली मुलकन ला यम्बग़ी लिअ-ह-दिन मिम्बाअदी) (सॉद : 35) जिसे अल्लाह तआला ने शर्फ़े क़ुबूलियत से नवाज़ा अब ऐसा उच्च कोटि बादशाह कि जिसकी हुकूमत जिन्न व इंसान के अलावा पशु पक्षियों और हवा पर भी है, क़यामत तक नहीं होगा।

क्या नबियों तक को बादशाही देकर अल्लाह तआला ने यह स्पष्ट

नहीं कर दिया है कि बादशाही निज़ाम अपने आप में घ्रणित नहीं है, बल्कि प्रशन्सनीय व सराहनीय है जिस चीज़ को अल्लाह ने अपने नबियों के लिए पसन्द फ़रमाया हो, इसके सराहने व औचित्य में सन्देह करना भी ईमान के विरुद्ध है। इसके विपरीत लोकतंत्र की बाबत क़ुरआन करीम से स्पष्ट होता है कि यह व्यवस्था अल्लाह को पसन्द नहीं है क्योंकि अल्लाह तआला ने बहुसंख्यक के पीछे चलने से इसलिए मना फ़रमाया है कि बहुसंख्यक हमेशा गुमराहों ही की होती है। इसके अलावा बहुसंख्यक के पीछे चलने वाले भी गुमराह हो जाते हैं। अपने पैग़म्बर सल्ल० से ख़िताब करते हुए अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿وَإِن تُطِعْ أَكْثَرَ مَن فِي الْأَرْضِ يُضِلُّوكَ عَن سَبِيلِ اللَّهِ﴾

(الأنعام/١١٦)

"ऐ पैग़म्बर! अगर तू ज़मीन वालों की बहुसंख्या के पीछे चलेगा तो वे तुझको भी अल्लाह के रास्ते से भटका देगी।"

(अनआम : 116)

और "लोकतंत्र" नाम ही जनता की बहुसंख्यक का है तो क़ुरआन करीम की रू से "लोकतंत्र" क्योंकर एक सही शासन प्रणाली हो सकता है?

5. क़ुरआन करीम में औरत के सरबराह न होने की दलीलें

आख़िर में उल्लिखित कॉलम निगार ने कहा है कि "क़ुरआन ही से दूसरे बहुत से तर्क भी दिए जाते हैं जो औरत की सरबराही के बारे में पाए जाने वाले सन्देहों की संगीनी कम करते हैं या उन्हें बिल्कुल दूर कर देते हैं।"

मगर अफ़सोस है कि उन्होंने वे तर्क ज़िक्र नहीं किए, काश वे उनकी व्याख्या भी कर देते, क्योंकि हम तो अब तक क़ुरआनी तर्कों ही की रू

टिक कर रहें"। साफ़ सी बात है कि घर के अंदर रहते हुए दुनियादारी के काम नहीं किए जा सकते। जिसका साफ़ मतलब यह है कि सरबराही व नेतृत्व की ज़िम्मेदारियों से औरत को उसकी प्राकृतिक क्षमताओं, औरतपन मजबूरियों और उत्पत्ति के उद्देश्य के हिसाब से अलग रखा गया है और इसमें कदापि औरत का अपमान नहीं है जैसा कि विश्वास कराया जाता है, बल्कि मर्द व औरत की अलग अलग योग्यताओं के हिसाब से उनका कार्यक्षेत्र भी अलग अलग और एक दूसरे से भिन्न रखा गया है। इसी तरह क़ुरआन में फ़रमाया गया है :

﴿ٱلرِّجَالُ قَوَّٰمُونَ عَلَى ٱلنِّسَآءِ بِمَا فَضَّلَ ٱللَّهُ بَعْضَهُمْ عَلَىٰ بَعْضٍ وَبِمَآ أَنفَقُوا۟ مِنْ أَمْوَٰلِهِمْ﴾ (النساء/٣٤)

"मर्द औरतों पर संरक्षक हैं। इसलिए श्रेष्ठता दी अल्लाह ने कुछ को कुछ पर और इसके कारण कि मर्द अपने मालों में से ख़र्च करते हैं।" (निसा : 34)

क़व्वाम के मायना संरक्षक, निगरां आदि के हैं और इसकी जो दो वजहें आगे बयान की गई हैं कि एक तो मर्द को औरत के मुक़ाबले में शारीरिक ताक़त व शक्ति ज़्यादा प्रदान की गई है और दूसरे, मर्द औरत के भरण पोषण का ज़िम्मेदार और कफ़ील है, ये दोनों कारण संरक्षक के इस मतलब को स्पष्ट कर देती हैं और उनकी मौजूदगी में उसका कोई दूसरा मतलब नहीं लिया जा सकता। जब क़ुरआन करीम की रू से औरत घर की अत्यन्त संक्षिप्त और सीमित ज़िंदगी में मर्द के मुक़ाबले में सरबराह नहीं बन सकती तो इस क़ुरआन करीम की रू से एक देश की सरबराह कैसे बन सकती है?

6. फ़ारस की शासक औरत का नाम बोरान दख़्त बिन्ते किसरा है

कुछ लोग हदीस बुख़ारी की सेहत में संदेह पैदा करने के लिए यह

कहते हैं कि फ़ारस की जिस औरत के बारे में कहा गया है, वही ग़लत है। फ़ारस (ईरान) में तो सिरे से नबी सल्ल० के दौर में कोई औरत शासक ही नहीं बनी है।

लेकिन यह दावा पूरी तरह ग़ैर सही है। और तारीख़ से साबित है कि नबवी दौर में फ़ारस में औरत शासक बनी है। अतएव तारीख़ तबरी में उसका नाम बोरान बिन्ते किसरा परवेज़ बिन हुरमुज़ बतलाया गया है। (तारीख़ तबरी, अरबी : 2/231, तबअ दारुल मआरिफ़ मिस्र)

हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० ने भी फ़त्हुलबारी (8/128 व 13/56) में बोरान नाम ही बतलाया है। लेकिन इसे बिन्ते शीरोया बिन किसरा बिन परवेज़ लिखा है। जबकि तबरी ने इसे बिन्ते किसरा बतलाया है और यही ज़्यादा सही मालूम होता है। इस हिसाब से बोरान शीरोया की लड़की नहीं, बहन बनती है। फ़ारसी और उर्दू इतिहासकार किसरा का नाम सामान्यता खुसरु परवेज़ लिखते हैं। इस हिसाब से वह बोरान को खुसरु परवेज़ की लड़की लिखते हैं। अतः मज्लिस तरक़्क़ी अदब लाहौर की निगरानी में प्रकाशित तारीख़ ईरान में उस शासक औरत का ज़िक्र ठीक इन शब्दों में लिखा है :

इसके बाद खुसरु परवेज़ की बेटी बोरान दख़्त तख़्त नशीन हुई। सआलबी लिखते हैं कि रसूलुल्लाह सल्ल० को बोरान दख़्त के तख़्त नशीन होने की ख़बर मिली तो फ़रमाया, "वह क़ौम जो एक औरत को हुकूमत की ज़िम्मेदारी सौंपती है, वह कभी सम्पन्नता नहीं देख सकती" वह छः माह ही हुकूमत कर पाई थी कि बीमार हो गई और बीमारी से ठीक न हो सकी।" (तारीख़ ईरान, मुअल्लिफ़ा प्रौफ़ेसर मक़बूल बेग बदख़्शानी : भाग 1/525, तबअ़ 1967)

इसके अलावा इस तरीख़ ईरान में इसे 630 ई० के बाद की घटना क़रार दिया गया है, जब कि नबी सल्ल० 610 ई० में नबी बनाए गए थे। नबी बनाए जाने के बाद आपके तेरह साल मक्के में गुज़रे और उसके बाद

हिजरत की, इस हिसाब से यह घटना, जिसमें औरत को हुकूमत मिली, मानो 7 हिजरी के बाद सामने आई है, क्योंकि हिजरी का सातवां साल 630 ई० में पड़ता है। इसकी पुष्टि इस्लामी लेखकों की व्याख्याओं से भी होती है और वह इस तरह कि औरत की हुकूमत की यह घटना इस बद्दुआ के बाद सामने आई है जब किसरा ने रसूलुल्लाह सल्ल० का वह पत्र फाड़ दिया था जो आपने इस्लाम की दावत स्वीकार करने के लिए उसको लिखा था, तो आपने उसके लिए बद्दुआ की कि उसकी हुकूमत भी इसी तरह खंडित हो जाए।

«فَدَعَا عَلَيْهِمُ النَّبِيُّ ﷺ أَنْ يُمَزَّقُوا كُلَّ مُمَزَّقٍ» (صحيح البخاري، الجهاد والسير، باب دعوة اليهود والنصارى، وعلى ما يقاتلون عليه ... الخ، ح:۲۹۳۹)

इस दावती पत्र के बारे में हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० ने लिखा है कि यह 7 हिजरी के शुरू की घटना है और इमाम इब्ने साअद रह० ने भी इस सन् को जज़्म के साथ माना है। (फ़तहुलबारी : 8/127)

इसके तुरन्त बाद ही किसरा (खुसरु परवेज़, शाह फ़ारस) को उसके अपने बेटे शीरोया ने क़त्ल कर दिया। यह शीरोया क़ुबाद द्वितीय के नाम से तख़्त ताऊस पर बैठा। इस ज़ालिम ने केवल अपने बाप ही को नहीं मारा, बल्कि अपने सोलह भाइयों को भी इस डर से मौत के घाट उतार दिया कि कहीं कोई उसकी हुकूमत छीनने के लिए खड़ा न हो जाए।

आख़िरकार छः महीने के बाद एक संक्रामक रोग (प्लेग) का शिकार होकर अपने बाप और भाइयों का यह क़ातिल शासक भी मर गया। जिसके बाद उसकी बहन बोरान दख़्त बिन्त किसरा तख़्त फ़ारस की वारिस और फ़ारस देश की शासक बनी, जिसकी ख़बर जब रसूलुल्लाह सल्ल० को पहुंची तो आपने यह फ़रमान इरशाद फ़रमाया, जिसकी सच्चाई भी कुछ सालों ही में दुनिया ने देख ली कि फ़ारस से यह मजूसी हुकूमत ही ख़त्म हो गई और उसकी जगह वहां इस्लाम का झंडा लहराने लगा।

7. मौलाना मौदूदी मरहूम के राजनीतिक दृष्टिकोण से विवेचन

कुछ लोग यह कहते हैं कि अगर औरत की सरबराही की गुंजाइश इस्लाम में न होती तो अय्यूब ख़ान के दौर के राष्ट्रपति चुनाव में उलमा फ़ातिमा जिनाह की हिमायत न करते। जबकि सच्चाई यह है कि मौलाना मौदूदी साहब और बहुत से उलमा ने उस समय अय्यूब ख़ां के मुक़ाबले में फ़ातिमा जिनाह की हिमायत की थी।

निःसन्देह उस समय कुछ उलमा ने अय्यूब ख़ां के मुक़ाबले में फ़ातिमा जिनाह की हिमायत की थी, जिनमें ख़ासकर मौलाना मौदूदी मरहूम सबसे आगे हैं। इसी के साथ यह भी सत्य है कि उन लोगों ने फ़ातिमा जिनाह की हिमायत यह समझते हुए नहीं की थी कि औरत का शासक बनना इस्लाम में जाइज़ है, बल्कि उन्हें इस्लाम के उसूल (कि मर्द व औरत का कार्यक्षेत्र उनकी प्राकृतिक क्षमताओं के हिसाब से अलग अलग है) को मानते हुए एक मजबूरी के तौर पर हिमायत की थी। जैसा कि उनके बयानों, तक़रीरों और लेखों आदि और उस दौर की विशेष पृष्ठभूमि से स्पष्ट है। इसके अलावा मौलाना मौदूदी मरहूम की तो एक प्रसिद्ध किताब "परदा" इस विषय पर मौजूद है जिसमें उन्होंने पूरे विवरण और ठोस तर्कों से इस्लाम के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया है और अपनी टीका "तफ़्हीमुल क़ुरआन में भी अनेक जगह पश्चिमी मर्द औरत में समानता के दृष्टिकोण का भरपूर खंडन किया है। इसलिए उनके एक अस्थाई, तात्कालिक और राजनीकि दृष्टिकोण को, जो उनके विचार में एक परेशानी व मजबूरी में उठाया गया क़दम था, बुनियाद बनाकर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके नज़दीक औरत शासक हो सकती है या चूंकि उन्होंने एक औरत की हिमायत की थी तो मानो यह इस बात की सनद है कि इस्लाम में औरत के शासक होने की इजाज़त मौजूद है।

ऐसा दावा स्वयं मौलाना मौदूदी मरहूम पर भी ज़ुल्म है और इस्लाम पर भी ज़ुल्म है, क्योंकि यह सत्यता के सरासर ख़िलाफ़ है। रह गया मसला उनके मजबूरी के तौर पर हिमायत करने का, कि उसकी क्या हैसियत है? तो उसके बारे में अब ख़ामोशी ज़्यादा बेहतर है, क्योंकि अब उनका मामला अल्लाह के सुपुर्द हो चुका है। अगर उनकी दीनी सूझ बूझ, मिल्ली दर्द और राजनीतिक चेतना ने उसे "इज़्तरार" (शरअी मजबूरी) समझने में ठोकर नहीं खाई, तो निश्चय ही अल्लाह के निकट वे अपराधी नहीं होंगे, बल्कि उम्मीद है कि वे दुगने अज्र के हक़दार होंगे और अगर उनसे इस अवसर पर इज्तिहादी ग़लती हुई है, तब भी वह एक सवाब के हक़दार अवश्य क़रार पाएंगे और अगर उसे एक इज्तिहादी मामला न समझा जाए, बल्कि उनके दृष्टिकोण को "राजनीतिक ज़रूरत" समझा जाए, फिर तो मसला बिल्कुल ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि राजनीतिक ज़रूरत के तौर पर भी कुछ काम उन्होंने ग़लत किए हैं जिससे उनका जायज़ होना साबित नहीं हो सकता, जैसे "ईद मीलाद" के जुलूस के मौलाना मौदूदी मरहूम क़ायल नहीं थे और इसे खुलकर ग़लत और नाजाइज़ ही समझते थे। (देखिए, रूदाद जमाअत इस्लामी, पांच, 5/122, प्रकाशन जून 1982 ई०)

लेकिन 1970 ई० के चुनाव के अवसर पर, जब उनको "शौकते इस्लाम" का जुलूस निकालने की ज़रूरत पेश आई थी, तो उस समय उन्होंने एक सवाल के जवाब में जुलूस मीलाद का औचत्य भी इस ख़तरे को देखते हुए मान लिया था कि इस अवसर पर अगर मैंने जुलूस मीलाद के जायज़ न होने का फ़तवा दे दिया तो उसका असर कहीं "शौकते इस्लाम" के जुलूस पर न पड़ जाए। (देखिए: अख़बार रोज़नामा "निदाए मिल्लत" लाहौर, 18 मई 1970)

ध्यान रहे शौकते इस्लाम के जुलूस की तारीख़ 31 मई 1970 ई० थी जबकि उस साल "यौमे मीलाद" 19 अप्रैल को पड़ा था।

एक और शिक्षा प्रद और दिलचस्प लतीफ़ा

यह लतीफ़ा भी बड़ा दिलचस्प और शिक्षा प्रद है कि उस समय जमाअत इस्लामी के ऐलान किए गए जुलूस "शौकते इस्लाम" को नाकाम बनाने के लिए देवबन्दी उलमा के तर्जुमान समाचार पत्रों (ख़ुद्दामुद्दीन, लाहौर, आदि) ने जुलूस मीलाद की हिमायत व मदद की और लोगों को यह विश्वास दिलाया कि असल जुलूस तो "मीलाद" का है जिसमें शरीक होना चाहिए यह "शौकते इस्लाम" का जुलूस क्या है? जबकि कि उलमाए देवबन्द स्वयं भी "जुलूस मीलाद" के क़ायल नहीं हैं।

इससे बहरहाल यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ उलमा राजनीतिक ज़रूरत का शिकार होकर शरीअत के तक़ाज़ों को भी कभी कभी बड़ी बेदर्दी से रौंद डाल देते हैं। इसलिए इस प्रकार के काम गुमराही और दोषपूर्ण हैं जिनसे विवेचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि शरीअत तो नाम है क़ुरआन व हदीस का, उलमा की करनी कथनी का नाम शरीअत नहीं है। उनकी करनी कथनी को भी शरीअत की रौशनी ही में देखा जाएगा, जो उसके अनुसार होगी, वह ठीक है। जिसमें शरीअत से विमुखता बरती होगी, वह ग़लत है।

बहरहाल जिन उलमा ने अय्यूब ख़ान के दौर में फ़ातिमा जिनाह की हिमायत की है, उसके विभिन्न कारण हैं, जिनकी वजह से उनके कार्य विधि से इस्लाम का सर्वमान्य उसूल असत्य क़रार नहीं पा सकता।

एक बाख़बर पत्रकार की तरफ़ से स्पष्टीकरण

फ़ातिमा जिनाह को राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार मनोनीत करते समय राजनीतिक प्रकोप की जो सूरत थी और फ़ातिमा जिनाह के जो चुनाव के कारण थे उसकी ज़रूरी जानकारी एक बाख़बर पत्रकार जनाब मुहम्मद सलाहुद्दीन साहब सम्पादक "तकबीर" कराची के निम्न वाक्यों में देखी जा सकती है। वह लिखते हैं :

"उस समय मामला यह था कि अय्यूब ख़ां की तानाशाही से निजात पाने की कोई उचित सूरत तलाश की जा रही थी पहले आज़म ख़ान का चयन किया गया। लेकिन इसकी भनक पड़ते ही विशेष दूत मौलवी फ़रीद अहमद को लाहौर एयरपोर्ट पर गिरफ़्तार कर लिया गया और आज़म ख़ान भी गिरफ़्त में ले लिए गए। चौधरी मुहम्मद अली, नवाबज़ादा नसरुल्लाह ख़ान और अन्य लोगों ने मादरे मिल्लत की सूरत में अय्यूब ख़ान का तोड़ तलाश किया। उन पर हाथ डालना आसान न था। मौलाना मौदूदी उस समय जेल में थे, फ़तवे के लिए पहले मौलाना मुफ़्ती मुहम्मद शफ़ीअ से मालूम किया गया। उन पर दबाव बढ़ा तो दो पंक्ति का फ़तवा दे दिया कि "दो बुराइयों में से कमतर बुराई का चयन कर लिया जाए।"

अय्यूब ख़ान अपनी परवेज़ नवाज़ी, रोयते हिलाल और दाम्पत्य क़ानूनों की वजह से दीनी हल्क़ों में अत्यधिक नापसन्दीदा क़रार पा चुके थे। मादरे मिल्लत केवल औरत नहीं थीं, क़ायदे आज़म मुहम्मद अली जिनाह की बहन थीं, शक्तिशाली चरित्र, सदाचारी और आदर्णीय महिला थीं, वृद्ध थीं, विवादों में न थीं, उनके चरित्र पर किसी तरह उंगली उठाने की गुंजाइश न थी, उनकी ज़ात से कोई स्केन्डल न जुड़ा था, उनसे क़ौम को गहरी आस्था थी।

मौलाना मौदूदी की रिहाई से पहले ही वह जनता जनार्दन की तर्जुमान बन चुकी थीं, मौलाना ने रिहाई पाते ही उनके हक़ में राय दी. ..वह उम्र के उस दौर में थीं जहां शरीअत परदे आदि की पाबन्दियों को स्वयं ही नर्म कर देती है। जहां वे पाबन्दियां बाक़ी नहीं रहतीं जिनके कारण टिक कर घर बैठने और परदे की सीमाएं क़ायम रखने का हुक्म दिया गया। इस सबके बावजूद मौलाना मौदूदी की राय से मतभेद किया गया। उनकी अपनी जमाअत के लोगों ने मतभेद किया...यह ऐसी राय नहीं थी जिसे उलमाए किराम और आम मुसलमान आसानी से हज़म कर लेते। स्वयं मौलना के फ़ैसले में विशेषता थी, सामान्यता नहीं।

इस मामले का दूसरा और ज़्यादा अहम पहलू यह है कि मादरे मिल्लत हुकूमत की शासक बनने की उम्मीदवार नहीं थीं। उन्होंने बातचीत करने वाले लोगों से साफ़ कह दिया था कि मैं आन्दोलन का नेतृत्व कर सकती हूं, देश का राष्ट्रपति बनना मुझे मंज़ूर नहीं। उन्हें जब बताया गया कि वर्तमान व्यवस्था में राष्ट्रपति की उम्मीदवारी के बिना कोई आन्दोलन नहीं चल सकता, तो उन्होंने अन्तरिम अवधि का सवाल उठाया और पूछा कि मेरी जगह असल राष्ट्रपति लाने में तुम्हें कितना समय लगेगा, तो जवाब दिया गया कि लगभग एक साल। मगर उन्होंने इस "लम्बी अवधि" को ठुकरा दिया और केवल तीन माह के अंदर अंदर नया राष्ट्रपति चुनने की मोहलत दी। इस पृष्ठभूमि में देखा जाए तो वहां हुकूमत हासिल करने का प्रेरक ही मौजूद नहीं था। वह किसी सत्ता की इच्छा के बिना मात्र? तानाशाही से निजात दिलाने के लिए मैदान में निकलने पर तैयार हुई थीं। अब उनकी उम्र, विशेष हालात, सीमित और निश्चित उद्देश्य, सत्ता प्राप्ती के प्रेरक के न होने और चरित्र के गुण सब को ज़ेहन में रखा जाए तो इस मिसाल से औरत के शासक होने का आम औचित्य निकाल लेने का कोई अंदाज़ा नहीं बनता, इसका कहीं और चरितार्थ होगा तो उम्र, चरित्र की मज़बूती और विशेष व सीमित उद्देश्य सब ही को सामने रखा जाएगा, मात्र एक सी जिन्स होना काफ़ी नहीं होगा। कहा जा सकता है कि अब भी तो तानाशाही से निजात पाने के लिए एक ताक़तवर दुश्मन की ज़रूरत थी, जवाबन अर्ज़ है कि वह "तानाशाह" तो सत्ता की जंग से पहले ही अल्लाह को प्यारा हो गया, अब उसके सामने आने की क्या ज़रूरत? दूसरे मादरे मिल्लत की तरह सत्ता की इच्छा तर्क कीजिए, क़ौम की क़यादत का हक़ अदा हो गया। लोकतंत्र की मंज़िल विजय हो गई। अब अपना विकल्प आगे लाइए। यहां कोई ऐसी हंगामी या मजबूरी या परेशानी की स्थिति नहीं कि औरत के शासक होने के बिना देश व मिल्लत का काम ही न चल सके।" (हफ़्त रोज़ा "तकबीर" कराची, पृ० : 12-13, 15 दिसम्बर 1988 ई०)

४. मौलाना अशरफ़ अली थानवी रह० का फ़तवा और उस पर समीक्षा

औरत की सरबराही के मसले में मौलाना अशरफ़ अली थानवी रह० की राय से भी विवेचन किया जाता है। इसलिए उचित मालूम होता है कि उनका दृष्टिकोण भी स्पष्ट कर दिया जाए। मौलाना थानवी मरहूम ने हुकूमत की तीन क़िस्में बयान की हैं :

पहली क़िस्म : वह जो ताम भी हो और आम भी। ताम से तात्पर्य यह है कि शासक स्वयं मालिक हो, अर्थात उसकी हुकूमत उसकी अपनी हो और उसके हुक्म में किसी सर्वशक्तिमान की मंज़ूरी की ज़रूरत न हो। अर्थात उसका शासक होना उस पर निर्भर हो। और आम यह कि उसकी हुकूमत कोई सीमित कम हैसियत जमाअत न हो, जैसे किसी औरत की हुकूमत या किसी ख़ास व्यक्ति की व्यक्तिगत रियासत हो।

दूसरी क़िस्म : वह जो ताम हो मगर आम न हो जैसे कोई औरत किसी छोटी जमाअत की अकेली ज़िम्मेदार हो।

तीसरी क़िस्म : वह जो आम हो मगर ताम न हो। जैसे किसी औरत की हुकूमत लोकतांत्रिक हो कि उसमें सरबराह वास्तव में सरबराह नहीं है, बल्कि एक सदस्य का मशवरा है और सलाहकारों का संग्रह वास्तविक सरबराह है।

मौलाना थानवी साहब फ़रमाते हैं कि हदीस के शब्दों में सोच विचार करने से मालूम होता है कि हदीस में तात्पर्य पहली क़िस्म अर्थात शख़्सी हुकूमत है जिसमें सरबराह हुकूमत को पूरे अधिकार हासिल होते हैं। उसके विपरीत क़िस्म दूसरी व तीसरी के कि वहां बादशाहत पूर्ण नहीं है बल्कि वह मशवरा के तहत है अर्थात उस मशवरे को दूसरे मशवरों पर वरीयता हासिल हो, लेकिन इसमें विलायत कामिला की शान नहीं है। इसके अलावा मौलाना यह भी फ़रमाते हैं कि ऐसी हुकूमत की हक़ीक़त

मात्र मशवरा है और औरत मशवरे के योग्य है इस बिना पर अगर शख़्सी हुकूमत भी हो मगर शासक काम काज अपनी व्यक्तिगत राय से न करती हो तो वह भी इस हदीस में दाख़िल नहीं होगी क्योंकि फ़लाह (कामयाबी) न मिलने की वजह नुक़्सान अक़्ल है और जब मर्दों के मशवरे से उसका निवारण हो गया तो वजह ख़त्म हो गई, तो कामयाबी न होना भी नकारात्मक हो गया। इस तरह ऐसी रियासतें, जो औरतों के अधीन हैं, कामयाब न होने के हुक्म से मुक्त हैं। ("इमदादुल फ़तावा" 5/99-101, मत्बूआ कराची)

मौलाना थानवी रह० ने ये सारी बातचीत उन छोटी छोटी रियासतों के बारे में फ़रमाई है जो हिन्दुस्तान में क़ायम थीं और उनमें कुछ मुसलमान रियासतों में औरत के हाथ में रियासत की कमान थी, जैसे भोपाल।

ये मुस्लिम शासक औरतें, इस्लाम की पाबन्द और शरीअत के क़ायदों को न केवल मानने वाली थीं, बल्कि अपनी रियासत में भी इस्लामी शरीअत की बालादस्ती उन्होंने क़ायम की हुई थी। इसके अलावा शासक ख़ानदान में उचित व योग्य मर्द न होने की वजह से कुछ जगह यह सूरत पैदा हुई कि वंशीय तौर पर किसी औरत को रियासत का काम काज संभालना पड़ा। इसी तरह शासक होने के बावजूद वे औरतें बेपर्दा नहीं रहीं। मर्दों के साथ खुलकर और बेबाकाना मेल जोल का रास्ता नहीं अपनाया और सबसे बढ़कर अपने आपको सबसे अधिक बुद्धिमान भी नहीं समझा और तमाम मामले रियासत के समझदार लोगों व बुद्धिमानों के मशवरे से चलाती रहीं। यूं उनके दौर में आम तौर पर इस्लामी उसूल व क़ायदों की पाबन्दी रही। लेकिन उल्लिखित हदीस की बिना पर एक चुभन उनके अंदर फिर भी मौजूद रही जिसका हल मौलाना थानवी ने उल्लिखित स्पष्टीकरण के द्वारा पेश किया है।

यह उनका एक अर्थापन और स्पष्टीकरण ही है जिसके उलमा

पाबन्द नहीं हैं। लेकिन उसे किसी दर्जे में मान लिया जाए तब भी उसे केवल इसी दायरे और हालात में रहकर ही माना जा सकता है, जो मौलाना थानवी के समक्ष थे।

और ये हालात मौजूदा हालात से पूरी तरह भिन्न हैं जिसके निम्न कारण हैं :

पहली रियासतों में से किसी रियासत का शासक बनने के लिए किसी औरत को घर से बाहर निकल कर राजनीतिक जलसों, चुनावी मुहिम और अन्य असंख्य गतिविधियों में हिस्सा लेने की ज़रूरत पेश नहीं आई। घर बैठे ही ख़ानदानी तौर पर उनको शासन मिल गया जबकि बेनज़ीर भुट्टू को हुकूमत का शासक बनने से पहले उसके लिए जो पापड़ बेलने पड़े, जो परेशानियां मोल लेनी पड़ी हैं और जिस कष्टदायक चुनावी मुहिम से उन्हें गुज़रना पड़ा है, वह सब जानते हैं। ये सारी गतिविधियां इस्लामी उसूल और क़ायदों के ख़िलाफ़ हैं। इसमें मर्दों से खुलकर मिलना जुलना भी है, अपनी आवाज़ और व्यक्तित्व का जादू जगाना भी है, अपने आपको ज़्यादा से ज़्यादा उभारना भी है और अपनी शारीरिक सुन्दरता की नुमाइश करना भी है। सवाल यह है कि क्या इस्लाम की रू से एक मुसलमान औरत के लिए ये तमाम काम जाइज़ हैं? अगर ये नाजाइज़ हैं और निश्चय ही नाजाइज़ हैं, तो फिर इसे किसी पूर्व रियासत की शासक औरत पर किस तरह क़यास किया जा सकता है जिसे उल्लिखित नाजाइज़ कामों में से कोई भी काम करने की ज़रूरत पेश नहीं आई थी।

इसके अलावा दोनों में फ़र्क़ इससे भी स्पष्ट है कि पूर्व मुसलमान रियासत की शासक कभी किसी विदेशी दौरे पर भी नहीं गई। विदेशी दूतों से मिलने की ज़रूरत भी उसे नहीं हुई और हर ऐरे ग़ैरे से मिलने का आयोजन भी उसने कभी नहीं किया। जबकि इस समय हालत इससे बिल्कुल भिन्न है।

अब बनने वाली प्रधानमंत्री को विदेशी दौरों पर भी जाना पड़ेगा।

विदेशी दूतों और लोगों से मुलाक़ातें होंगी और हर एक से मिलने का आयोजन भी करना पड़ेगा। इस सूरत में इस्लामी उसूल व शिक्षाओं की जो मिट्टी पलीद होगी वह किससे छुपी है? फिर आख़िर दोनों को समान किस तरह समझा जा सकता है?

बुनियादी विवेचन और बयान करने के दोष की कमी

इन सबसे बढ़कर मौलाना थानवी का बुनियादी विवेचन इस नुक़्ते पर है कि विफलता का दोष बुद्धि की हानि है जिसका निवारण लोकतांत्रिक हुकूमत में लोगों के मशवरा से हो जाता है और यूं इस दोष के दूर हो जाने की वजह से औरत की हुकूमत हानिकारक नहीं रहती।

लेकिन यह दृष्टिकोण भी सख़्त नज़र आता है। अक़्ल की हानि को दोष मान करके लोगों के मशवरा से उसका निवारण ही सही नहीं है। हदीस रसूल "लयं युफ़्लि-ह क़ौमुन" में कोई दोष बयान नहीं किया गया है, इसलिए अपने तौर पर एक दोष मान करके उसकी बुनियाद पर छोटा बड़ा मिलाकर एक नतीजा निकलाना कोई सही तरीक़ा नहीं है इस दौर के इस्लाम के नवीनकर्त्ताओं की रविश भी यही है कि वह काल्पनिक दोष तलाश करके शरीअते इस्लामिया के मंसूस अहकाम में परिवर्तन की गुंजाइश निकालने की घ्रणित कोशिश करते हैं। हमें अफ़सोस से कहना पड़ता है कि मौलाना थानवी की उल्लिखित राय के डांडें भी इसी से जा मिलते हैं।

इस ख़िफलता का असल दोष क्या है? यह अल्लाह ही बेहतर जानता है लेकिन उसकी कोई न कोई वजह अगर तलाश करनी ही है, तो ज़्यादा बेहतर दोष तो उसका यह मालूम होता है कि इस्लाम ने मर्द व औरत की अलग अलग फ़ितरी क्षमताओं के हिसाब से अलग अलग एक दूसरे से भिन्न भिन्न उनका कार्यक्षेत्र प्रस्तावित किया है, ताकि दोनों अपने अपने पैदा करने के उद्देश्य को पूरा करें। औरत का शासक होना इस फ़ितरी

निज़ाम से बग़ावत है और जो क़ौम फ़ितरत के निज़ाम से बग़ावत करके औरत को शासक बनाएगी, निश्चय ही वह सफ़लता से क़रीब नहीं होगी। क्योंकि :

फ़ितरत अफ़राद से इग़माज़ भी कर लेती है
कभी करती नहीं मिल्लत के गुनाहों को माफ़

अगर मात्र अक़्ल की हानि को दोष माना जाए तो फिर तो इस रसूल सल्ल० के आदेश का सारा महत्व ही ख़त्म हो जाता है, क्योंकि दुनिया में कोई भी शासक (चाहे बादशाह ही हो) आपसी मशवरा के बिना न हुकूमत करता है और न हुकूमत चला ही सकता है। बादशाही निज़ाम में भी मशवरा का आयोजन होता है। फिर तो मौलाना थानवी को "लोकतांत्रिक हुकूमत" की क़ैद लगाने की भी ज़रूरत बाक़ी नहीं रहती है, क्योंकि अपने अपने अंदाज़ में मशवरा का आयोजन तो हर हुकूमत में होता है। क़ुरआन करीम से भी यह सूत्र स्पष्ट है कि मलिका सबा ने भी हज़रत सुलैमान अलैहि० की तरफ़ से ख़त आने के बाद सरदारों से मशवरा किया था, लेकिन उस मशवरे के बावजूद उसे हज़रत सुलैमान अलैहि० की आज्ञा का पालन करना पड़ा था और यह मशवरा उसे विफलता से बचा नहीं सका। मलिका सबा के इस पहलू के स्पष्टीकरण के बावजूद जब रसूलुल्लाह सल्ल० ने यह फ़रमाया :

"वह क़ौम कदापि सफल नहीं होगी जिसने एक औरत को अपना शासक बना लिया।"

तो इसका साफ़ मतलब यह है कि इसकी वजह यह कदापि नहीं है कि औरत अक़्ल में कम है, बल्कि इसकी असल वजह निज़ामे फ़ितरत से बग़ावत है जो क़ौम भी इस निज़ामे फ़ितरत से बग़ावत करेगी तात्कालिक तौर पर चाहे कुछ कामयाबी भी हासिल कर ले, लेकिन हक़ीक़ी सफ़लता से वह महरूम ही रहेगी।

मौलाना थानवी का अर्थापन भी हमारे लिए कुछ लाभकारी नहीं

चलो अगर थोड़ी देर के लिए हम मान लें कि (लयं युफ़लि-ह.... हदीस) की वजह अक़्ल की हानि है जिसका निवारण लोगों के मशवरा से हो जाता है। तब भी सोचने वाली बात यह है कि क्या हमारे यहां की स्थिति भी ऐसी ही है? हमारे देश के शासक क्या लोकतांत्रिक हैसियत रखते हैं या अक़्ल की हानि का एतेराफ़ करते हैं। यहां तो अक़्ल कुल होने का दावा और घमंड है यहां तो मर्द भीगी बिल्ली बने हुए हैं, मशवरा देना तो अलग किसी को इस बुते तन्नाज़ के सामने दम मारने का साहस नहीं है। वह स्वयं किसी से मशवरा की ज़रूरत समझे तो और बात है वरना किसी भी मर्द को मशवरा देने की हिम्मत नहीं। जबकि हक़ीक़त यह है कि हमारे देश में लोकतंत्र का केवल नाम है, वर्ना यहां हर जमहूरी लोकतांत्रिक शासक एक बुरा तानाशाह ही साबित हुआ है और बेनज़ीर के तेवर और कसबल भी इसी बात के संकेत हैं कि वह भी लोकतंत्र के मामले में अपने से पहलों से भिन्न साबित नहीं होंगी।

निःसन्देह बरतानिया आदि में सही मायनों में लोकतंत्र क़ायम है और वहां लोकतांत्रिक मूल्यों व परम्पराओं की पासदारी का पूरा आयोजन है, वहां तमाम संस्थान अपनी अपनी जगह सुदृढ़ और सतर्क हैं। न्यायपालिका, प्रशासन, विधायिका और पत्रकारिता अपने अपने दायरे में आज़ाद और प्रभावी हैं। ऐसे देश में प्रधानमंत्री निश्चय ही तानाशाह नहीं होता और उसकी हैसियत एक सलाहकार से ज़्यादा नहीं। असल अधिकारों की मालिक वहां की केबिनेट है। प्रधानमंत्री उसके मशवरे और राय के बिना कोई काम करने की पोज़ीशन में नहीं है। ऐसे देश में अगर प्रधानमंत्री औरत हो तो शायद वहां तात्कालिक तौर पर उसकी वे हानियां प्रकट न हों जिनकी तरफ़ हदीस में इशारा किया गया है और शायद यही वजह है कि मिसेज़ थेचर औरत होने के बावजूद वहां बड़ी कामयाब रही, क्योंकि सर्वथा तमाम अधिकारों से वह महरूम रही जिससे मौलाना

थानवी के कथनानुसार विफलता का दोष हो गया, लेकिन हमारे यहां स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। यहां लोकांत्रिक मूल्यों व परम्पराओं की पासदारी है न लोकांत्रिक संस्थान सुदृढ़ व सतर्क हैं और न सत्ता में आने वाले शासक और पार्टियां लोकतांत्रिक मिज़ाज ही रखती हैं। इस क़िस्म के देश में औरत की हुकूमत ख़ासकर अपने अंदर ख़तरों के वे तमाम पहलू रखती है जिनसे हदीस रसूल सल्ल० में सचेत किया गया है। इसलिए हमें इस हदीस रसूल की सच्चाई पर पूरा यक़ीन है और हम पूरे विश्वास से यह कहते हैं कि इस्लाम के उसूल को ठुकराते हुए जब भी और जहां भी एक औरत की हुकूमत को क़ुबूल किया जाएगा, यह काम देश व मिल्लत के लिए कदापि अच्छा नहीं होगा।

मौलाना अशरफ़ अली थानवी रह० ने मलिका सबा के मशवरा करने वाले रोल से भी विवेचन किया है कि जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि मलिका सबा मुश्रिका और काफ़िरा थी, उसका कोई भी काम व आचरण हमारे लिए हुज्जत नहीं। इसलिए मौलाना थानवी के इस नुकते की हमने अवहेलना कर दी है क्योंकि इस पर बहस हो चुकी है लेकिन विवेचन की यह निचलापन मौलाना थानवी के कलाम में देखकर सख़्त हैरत हुई। अल्लाह तआला उनकी यह भूल माफ़ करे।

मौलाना थानवी की दोरंगी या वापसी?

यहां तक लिखा जा चुका था कि अचानक मौलाना थानवी की टीका "बयानुल क़ुरआन" देखने का विचार आया, तो यह देखकर सख़्त हैरत हुई कि मौलाना थानवी ने अपनी टीका में मलिका सबा के क़ुरआन करीम में ज़िक्र करने से औरत की हुकूमत के औचित्य पर जो विवेचन किया जाता है, उसे ग़लत क़रार दिया है। अतएव फ़रमाते हैं :

"हमारी शरीअत में औरत को बादशाह बनाने की मनाही है, अतः बिलक़ीस के क़िस्से से कोई सन्देह न करे। एक तो यह काम मुश्रिकीन

का था। दूसरे अगर शरीअते सुलैमानिया ने इसका अनुसरण भी किया, तो शरअ मुहम्मदी सल्ल० में इसके ख़िलाफ़ होते हुए वह हुज्जत नहीं।" (तफ़्सीर बयानुल क़ुरआन, पारा 19, 8/74, प्रकाशन मुज्तबाई, दिल्ली 1346 हिजरी)

मौलाना थानवी का उपरोक्त फ़तवा 1330 हि० का है जबकि टीका इसके 4 साल बाद 1334 हि0 में प्रकाशित हुई है। जैसा कि इसके प्रथम एडीशन में यह तारीख़ मौजूद है। इस हिसाब से अगर देखा जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि मौलाना थानवी ने जो फ़तवा 1330 हि0 में दिया था, उसके बाद टीका में उसके विपरीत अपनी राय व्यक्त करके उसे वापस ले लिया था, क्योंकि अगर उसे वापस पलटना नहीं कहा जाएगा तो यह दो रंगी होगी। दो रंगी की बनिस्बत वापस पलटना मौलाना थानवी रह० की शान के उचित है।

9. हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० की घटना से विवेचन और उसकी हक़ीक़त

एक और घटना से विवेचन किया जाता है जो हदीस की कुछ किताबों में दर्ज है और वह घटना है हज़रत उम्मे वरक़ा बिन्ते नोफ़िल रज़ि० की। डाक्टर हमीदुल्लाह साहब लिखते हैं :

"हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० के बारे लिखा है कि जंगे बदर (2 हि०) में रसूलुल्लाह सल्ल० मदीने से रवाना हुए तो उन्होंने अपनी सेवाएं पेश कीं कि या रसूलुल्लाह! मुझे भी अपने साथ ले चलें। मैं इस्लाम के दुश्मनों से जंग करना चाहती हूं। उनके बारे में एक और रिवायत है जो इससे भी ज़्यादा व्यवहारिक या ज्ञानात्मक दुश्वारियां पैदा करेगी। वह यह कि हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० को रसूलुल्लाह सल्ल० ने एक मस्जिद का इमाम नियुक्त किया था जैसा कि सुनन अबी दाऊद और मुसनद अहमद बिन हंबल में है और यह भी कि उनके पीछे मर्द भी नमाज़ पढ़ते थे और

यह कि उनका मुअज़्ज़िन एक मर्द था। साफ़ सी बात है कि मुअज़्ज़िन भी मुक़तदी के तौर पर उनके पीछे नमाज़ पढ़ता होगा।" (ख़ुत्बात भावलपुर, पृ० 26, मत्बूआ इस्लामाबाद)

डाक्टर साहब की इस सिलसिले में और बातचीत और कुछ लोगों का इससे विवेचन नक़ल करने से पहले हम मुनासिब समझते हैं कि नफ़्स हदीस पर गुफ़्तुगू कर ली जाए। यह रिवायत मुसनद अहमद और सुनन अबी दाऊद आदि में मौजूद है। अलबत्ता इसमें रेखांकित शब्द नहीं हैं। बल्कि पहले रेखांकित शब्दों की जगह 'उमर्रिज़ु मरज़ाकुम' के शब्द हैं जिसका मतलब यह है कि मैं बीमारों की तीमारदारी या घायलों की मरहम पट्टी करूंगी। इसी तरह रिवायत में ये शब्द भी नहीं हैं कि "रसूलुल्लाह सल्ल० ने उन्हें एक मस्जिद का इमाम नियुक्त किया था और यह कि उनके पीछे मर्द भी नमाज़ पढ़ते थे।" हदीस के शब्द ये हैं :

«فَاسْتَأْذَنَتِ النَّبِيَّ ﷺ أَنْ تَتَّخِذَ فِي دَارِهَا مُؤَذِّنًا، فَأَذِنَ لَهَا» (سنن أبي داود، الصلوة، باب إمامة النساء، ح: ٥٩١)

"उन्होंने नबी सल्ल० से अपने घर में मुअज़्ज़िन रखने की इजाज़त तलब की, तो आपने उन्हें इसकी इजाज़त दे दी।"

जब नबी सल्ल० हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० को उनकी इच्छा के अनुसार जंग पर ले जाने के लिए तैयार नहीं हुए बल्कि उनसे यह फ़रमाया "तुम अपने घर ही में रहो" तब उन्होंने नबी सल्ल० से अपने घर में एक मुअज़्ज़िन रखने की इजाज़त मांगी और आपने उन्हें ऐसा करने की इजाज़त दे दी। दूसरी रिवायत के शब्द ये हैं :

«وَجَعَلَ لَهَا مُؤَذِّنًا يُؤَذِّنُ لَهَا، وَأَمَرَهَا أَنْ تَؤُمَّ أَهْلَ دَارِهَا» (سنن أبي داود، الصلوة، باب إمامة النساء، ح: ٥٩٢)

"नबी सल्ल० ने उनके लिए एक मुअज़्ज़िन नियुक्त कर दिया जो उनके लिए अज़ान दिया करता था और नबी अकरम

सल्ल० ने हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० को हुक्म दिया कि अपने घर वालों की इमामत कराया करे।"

इसी रिवायत में मुअज़्ज़िन के बारे में भी स्पष्टीकरण मौजूद है कि वह एक "शैख़ कबीर" बहुत बूढ़ा आदमी था। यह रिवायत सुनन अबी दाऊद के अलावा सहीह इब्ने ख़ुज़ैमा : 3/89, सुनने दारे क़ुतनी : 1/403, मुस्तदरक हाकिम : 1/203 और मुसनद अहमद : 6/405 में मौजूद है।

लेकिन एक तो यह रिवायत सनद के हिसाब से ज़ईफ़ है इसमें दो रावी अज्ञात हैं। दूसरे, सनद में उलझाव भी है। तीसरे इसमें कहीं भी वे रेखांकित शब्द नहीं हैं जो डाक्टर हमीदुल्लाह साहब के वाक्यों में हैं। चौथे, मुहद्दिसीन ने इसे जिस अध्याय के तहत ज़िक्र किया है, उससे भी यही मालूम होता है कि उन्होंने भी इससे यही बात ली है कि इसमें केवल एक औरत के औरतों की इमामत कराने का बयान है। यह नहीं है कि औरत ने मर्दों की इमामत या किसी मस्जिद की इमामत कराई है, अतः सुनन अबी दाऊद में यह रिवायत अध्याय इमामतुन्निसा में, सुनन दारे क़ुतनी में अध्याय सलातुन्निसा जमाअत में, सहीह इब्ने ख़ुज़ैमा में अध्याय इमामतुल मिरअतुन्निसा फ़ी फ़रीज़ा में और मुस्तदरक हाकिम में इमामतुल मिरअतुन्निसा फ़िल फ़राइज़ में बयान हुई है जिससे केवल यही बात साबित हो सकती है कि एक औरत, औरतों की फ़राइज़ में इमामत कर सकती है। जैसा कि हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० इमामत कराती रही हैं। इस हदीस में कहीं भी ऐसे शब्द नहीं हैं जिनका यह मतलब निकल सकता हो कि हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० किसी मस्जिद में इमामत कराया करती थीं या उनके पीछे आम मर्द भी नमाज़ पढ़ा करते थे। ज़्यादा से ज़्यादा अगर कोई कुछ कह सकता है तो यह कि मुअज़्ज़िन और एक बूढ़ा गुलाम उनके पीछे नमाज़ पढ़ते होंगे। यद्यपि उनकी नमाज़ पढ़ने का स्पष्टीकरण भी हदीस में मौजूद नहीं है लेकिन हालात की रू से ज़्यादा से ज़्यादा उन दो मर्दों की बाबत कहा जा सकता है कि घर के लोग इस प्रकार की ख़ास

सूरत में औरत के पीछे नमाज़ पढ़ सकते हैं। मौहल्ले के आम मर्दों का औरत के पीछे नमाज़ पढ़ने का सबूत इससे फिर भी नहीं निकल सकता।

निःसन्देह अरबी ज़बान में ''दार'' का शब्द ''बैत'' से ज़्यादा व्यापकता रखता है और ''दार'' को हवेली या मौहल्ले के भाव में लिया जा सकता है, मुअज़्ज़िन नियुक्त करने से भी इस भाव की पुष्टि निकलती है। लेकिन इसके बावजूद यह मानना सख़्त मुश्किल है कि हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० के पीछे हवेली या मौहल्ले के आम मर्द भी नमाज़ पढ़ते होंगे, बल्कि इससे ज़्यादा से ज़्यादा यह साबित होता है कि हवेली या मौहल्ले की दूसरी औरतें भी हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० के पीछे आकर नमाज़ पढ़ती होंगी।

इस हदीस से फिर भी यह बिल्कुल साबित नहीं होता कि मर्दों की तरह औरतें भी आम मस्जिदों में इमाम बन सकती हैं और फिर इस रद्दे पर एक और रद्दा यह चढ़ा दिया जाए जब औरत मस्जिद में मर्दों की इमाम बन सकती हैं, तो फिर देश की शासक भी बन सकती है। ऐसा दावा ''बिगाड़ पर बिगाड़ का कारण'' ही कहलाएगा।

डाक्टर हमीदुल्लाह साहब के स्पष्टीकरण और एक व्यवहारिक मिसाल

डाक्टर हमीदुल्लाह साहब जिन्होंने ''दार'' के शब्द की व्यापकता को सामने रखते हुए हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० को एक मस्जिद का इमाम क़रार दिया है, वह भी यह कहते हैं कि यह एक अपवादी सूरत हो चुकी है, वर्ना आम हालात में एक औरत मर्दों की इमाम नहीं बन सकती। चूंकि कुछ लोग डाक्टर साहब के वाक्य को विषय एवं संदर्भ से काटकर अपने मतलब के लिए इस्तेमाल करते हैं, इसलिए मुनासिब मालूम होता है कि डाक्टर साहब का स्पष्टीकरण और उनका वह दृष्टिकोण जो हदीस उम्मे वरक़ा रज़ि० की रौशनी में उन्होंने अपनाया है, उसे उन्हीं के शब्दों में पेश

कर दिया जाए, अतः डाक्टर साहब फ़रमाते हैं :

"यहां यह सवाल पैदा होता है कि औरत को इमाम बनाया जा सकता है या नहीं? इस हदीस के बारे में यह सोचा जा सकता है कि यह शायद इस्लाम के आरंभ की बात हो और बाद में रसूलुल्लाह सल्ल० ने उसको निरस्त कर दिया हो, लेकिन इसके विपरीत यह साबित होता है कि हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० हज़रत उमर रज़ि० के ज़माने तक ज़िंदा रहीं और अपने फ़राइज़ अंजाम देती रहीं इसलिए कभी कभी आम क़ायदे में अपवाद की ज़रूरत पेश आती है और रसूलुल्लाह सल्ल० ने अपवादी ज़रूरतों के लिए यह अपवादी नियुक्ति फ़रमाई होगी। अतः मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव की एक चीज़ बयान करता हूं। पैरिस में कुछ साल पहले की घटना है। एक अफ़ग़ान लड़की छात्रा के तौर पर आई। हॉलैण्ड का छात्र जो उसका जमाअती साथी था, उस पर आशिक़ हो गया। इश्क़ इतना सख़्त था कि उसने अपना दीन बदल कर इस्लाम क़ुबूल कर लिया। उन दोनों का निकाह हुआ। अगले दिन वह लड़की मेरे पास आई और कहने लगी कि भाई साहब मेरा पति मुसलमान हो गया है और वह इस्लाम पर अमल भी करना चाहता है लेकिन उसे नमाज़ नहीं आती और उसे आग्रह है कि मैं स्वयं इमाम बनकर नमाज़ पढ़ाऊं। क्या वह मेरी इमामत में नमाज़ पढ़ सकता है? मैंने उसे जवाब दिया कि अगर किसी आम मौलवी साहब से पूछेंगी तो वह कहेगा कि यह जाइज़ नहीं। लेकिन मेरे ज़ेहन में रसूलुल्लाह के तरीक़े की एक घटना हज़रत उम्मे वरक़ा रज़ि० की है, इसलिए अपवादी तौर पर तुम इमाम बनकर नमाज़ पढ़ाओ। तुम्हारे पति को चाहिए कि मुक़्तदी बनकर तुम्हारे पीछे नमाज़ पढ़े और जल्द से जल्द क़ुरआन की उन सूरतों को याद करे जो नमाज़ में काम आती हैं। कम से कम तीन सूरतें याद करे और तशहहुद आदि याद करे, फिर उसके बाद वह तुम्हारा इमाम बने और तुम उसके पीछे नमाज़ पढ़ा करो। दूसरे शब्दों में ऐसी सूरतें जो कभी कभी उम्मत को पेश आ सकती

थीं, उनकी पेशबन्दी में रसूलुल्लाह सल्ल० ने यह चयन फ़रमाया था। शायद इस घटना की यह वजह हो।"(खुत्बात भावलपुर, पृ० : 26-27)

यह इस घटना की बड़ा उचित स्पष्टीकरण है जो स्वयं डाक्टर साहब ने बयान कर दिया है।

10. अल्लामा इक़बाल की एक तक़रीर से विवेचन

कुछ लोगों की तरफ़ से प्रकाशित पुस्तिका में अल्लामा इक़बाल की एक तक़रीर के वाक्य भी उनके बेटे जावेद इक़बाल की किताब "ज़िंदा रुद" से नक़ल किए गए हैं, लेकिन नक़ल में खुली बेइमानी की गई है। कुछ ऐसे वाक्य तो ले लिए गए हैं जिनसे मर्द व औरत की समानता की हिमायत हो जो यूरोप के पश्चिमी निज़ाम में है, लेकिन वह तमाम वाक्य निकाल दिए गए हैं, जिनसे इस पश्चिमी मर्द व औरत में समानता के दृष्टिकोण की नफ़ी होती है, यद्यपि अल्लामा इक़बाल की इस तक़रीर में औरत मर्द के बीच शहरी अधिकारों में समानता की बात कही गई है जो वास्तव में इस्लाम के अनुसार है। लेकिन जहां तक फ़राइज़ का संबंध है, वह दोनों के अलग अलग हैं, जिसे अल्लामा इक़बाल ने भी माना है, अतएव फ़रमाते हैं।

> "औरत के बहैसियत औरत और मर्द के बहैसियत मर्द के कुछ ख़ास भिन्न भिन्न फ़राइज़ हैं, उन फ़राइज़ में मतभेद है, मगर उससे यह नतीजा नहीं निकलता कि औरत कमतर है और मर्द उच्च। फ़राइज़ का मतभेद कुछ कारणों पर आधारित है। मतलब यह कि जहां तक समानता का संबंध है, इस्लाम के अंदर मर्द औरत में कोई फ़र्क़ नहीं। सांस्कृतिक ज़रूरियात की वजह से फ़राइज़ में मतभेद है।" (ज़िंदा रूद 3/358)

यही वह बात है जो उलमा भी कहते हैं, उलमा भी यह नहीं कहते कि औरत कमतर या तुच्छ है, बल्कि असल बात प्राकृतिक क्षमताओं और

उसके अनुसार अलग अलग फ़राइज़ की है। उन प्राकृतिक क्षमताओं के हिसाब से मर्द को एक तरह की श्रेष्ठता हासिल है जिसका ज़िक्र क़ुरआन में भी किया गया है : "मर्दों को औरतों पर एक तरह से श्रेष्ठता हासिल है" (बक़रा : 228) इस श्रेष्ठता की बुनियाद पर अधिकारों में समानता का इन्कार करना सही नहीं है और यह फ़राइज़ में मतभेद अल्लामा इक़बाल भी तस्लीम फ़रमाते हैं। जिसका साफ़ मतलब यह है कि अल्लामा इक़बाल भी औरत की समानता के तो क़ायल हैं, लेकिन इसी दायरे में जो इस्लाम की रू से इसे हासिल है मर्द औरत पश्चिमी दृष्टिकोण की समानता के वे भी समर्थक नहीं हैं जिसकी रू से मर्द व औरत के बीच कोई फ़ितरी फ़र्क़ नहीं है। इसलिए पश्चिम के निकट दोनों के अधिकार जिस तरह समान हैं, फ़राइज़ भी दोनों के समान हैं।

उल्लिखित पुस्तिका में अल्लामा इक़बाल के बारे में यह दावा भी किया गया है कि वह औरतों के लिए परदे के क़ायल नहीं थे, लेकिन अल्लामा इक़बाल अपनी इस तक़रीर में आगे चलकर फ़रमाते हैं :

"देखना यह है कि जिन बातों को शब्दों की क़ैद की संज्ञा दी जाती है, वे अपनी असल में क़ैद हैं या नहीं? परदे के बारे में इस्लाम के आदेश स्पष्ट हैं "ग़ज़्ज़े बसर" का हुक्म है और इसलिए कि ज़िंदगी में ऐसे भी समय आते हैं जब औरत को ग़ैर मेहरम के सामने होना पड़ता है...परदे के सिलसिले में इस्लाम का आम हुक्म औरत को यह है कि वह अपनी शोभा को प्रकट न करे।" (ज़िंदा रूद : 3/359)

फ़रमाइए! इस वाक्य में मुसलमान औरत के लिए परदे की ताकीद है या इसे नऊज़ुबिल्लाह (अल्लाह अपनी पनाह में रखे) औरतों के लिए "क़ैद" की संज्ञा दी गई है? जिस तरह कि उल्लिखित पुस्तिका में विश्वास दिलाया गया है।

इक़बाल के निकट समाजवाद और पश्चिमी लोकतंत्र दोनों मरदूद हैं

फिर अल्लामा इक़बाल की बातों से अवलोकन करने वालों को यह भी मालूम है कि अल्लामा के निकट साम्राज्यवादी, कम्यूनिस्ट या सोशिलस्ट अक़ीदा रखना दायरा इस्लाम से ख़ारिज होने के जैसा है।

(ज़िंदा रूद : 3/659)

इसी तरह इक़बाल "पश्चिम के सेक्यूलर जमहूरी निज़ाम" के भी समर्थक नहीं थे, बल्कि उनके नज़दीक : "किसी भी पिछड़े देश में, जिसकी जनता ज़्यादातर अनपढ़, असंगठित और फ़ाक़ा करने वाले हों, वहां लोकतंत्र का परिचय, राजनीतिक पतन, आर्थिक तबाही, क़ौमी फूट और देश के टूटने का कारण बन सकता है।" (ज़िंदा रूद : 3/661)

इक़बाल की तक़रीर को संदर्भ से काटकर पेश करने वाले इक़बाल के उल्लिखित स्पष्ट और दोटूक दृष्टिकोण को मानने के लिए और उसकी रौशनी में अपने संविधान और सिद्धान्त का अवलोकन करने के लिए तैयार हैं? यहां तक कि मुसलमान औरत के बारे में अल्लामा इक़बाल ने अपनी शायरी में जो स्पष्टीकरण किया है (जो किताब के आख़िर में शामिल है) उसे भी क़ुबूल करना उनके लिए संभव है?

11. पैदाइश का उद्देश्य और कार्यक्षेत्र का स्पष्टीकरण, अपमान नहीं

11 दिसम्बर 1988 ई० के "जंग" में अहमद नदीम क़ासमी साहब ने फ़रमाया कि औरत के शासक होने को बहस का शीर्षक बनाकर लोग अपनी ही माओं बहनों और बेटियों की निंदा कर रहे हैं।

अहमद नदीम क़ासमी ऊंचे दर्जे के शायर, लेखक और पत्रकार हैं, लेकिन उल्लिखित लेख में उन्होंने निचलेपन का प्रदर्शन भी किया है और मुसलमान औरत को गुमराह करने की घ्रणित कोशिश भी। यद्यपि इस

बहस से अभिप्राय औरत की निंदा और अपमान कदापि नहीं है। बात केवल प्राकृतिक क्षमताओं और इस्लाम के नियमों की है। अगर कोई व्यक्ति यह कहता है कि मर्द औरत के मुक़ाबले में ज़्यादा बहादुर है, तो उसमें औरत का अपमान व अनादर का कोई पहलू नहीं है, क्योंकि यह एक हक़ीक़त है जो मर्द व औरत के बीच फ़ितरी फ़र्क़ व योग्यता पर आधारित है। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि मर्द व औरत का कार्यक्षेत्र भी अलग अलग और एक दूसरे से भिन्न है। औरत का काम करने की जगह घर की चार दीवारी है जबकि घर के बाहर की सरगर्मियां मर्द के कामों में दाख़िल हैं, तो यह भी एक हक़ीक़त ही है जो दोनों के बीच क्षमताओं और दोनों के पैदाइश की भिन्न भिन्न उद्देश्यों पर आधारित है।

आज भी यूरोप में फ़ौज के तमाम जनरल मर्द हैं। क्यों? जबकि वहां हर विभाग में मर्दों व औरतों के बीच पूरी बराबरी मानी जाती है तमाम पायलेट मर्द हैं। अधिकांश महत्वपूर्ण पोस्टों पर मर्द ही मौजूद हैं। क्या उनका यह रवैया औरत के अपमान व अनादर पर आधारित है? नहीं कदापि नहीं, बल्कि पूर्ण बराबरी का दावा करने के बावजूद वे मर्दों की श्रेष्ठता को क़ायम किए हुए हैं, क्योंकि यह प्रकृति का निज़ाम और उसका सही तक़ाज़ा है। जिसे इच्छा के बावजूद बदला नहीं जा सकता। इसलिए इस्लाम जब यह कहता है कि औरत बाहरी सरगर्मियों से बचती रहे। तो यह बात प्रकृति के ठीक ठीक अनुसार और उसका तक़ाज़ा है। इसके अलावा इस्लामी शिक्षाओं की भी ऐन ज़रूरत है क्योंकि उसने मर्द व औरत के मेल जोल को सख़्त नापसन्द किया है और उसके लिए उसने बहुत सी पाबन्दियां लगा दी हैं इसलिए उसे औरत का अपमान ठहरा देना सख़्त बेइमानी है या इस्लाम पर उंगली उठाना। और हम दोनों बातों से अल्लाह की पनाह मांगते हैं।

12. एक प्रोफ़ेसर के जवाब में

13 दिसम्बर 1988 ई० के साप्ताहिक "निदा" लाहौर में प्रोफ़ेसर मुहम्मद असलम साहब अध्यापक इतिहास विभाग जामिया पंजाब का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने यह "फ़तवा" दिया है कि औरत के शासक बनने में शरअन कोई परेशानी नहीं है और "दलील" यह दी है कि इतिहास में फ़लां फ़लां औरतें शासक रही हैं और बड़ी कामयाबी से उन्होंने हुकूमत की है। इसलिए यह माने बिना चारा नहीं है कि नबी सल्ल० का फ़रमान केवल फ़ारस की बोरान दख़्त नामी औरत के लिए था। आपका यह फ़रमान उसूल के तौर पर और सब के लिए नहीं था। वर्ना आपकी सच्चाई संदिग्ध ठहरेगी। (यह उनके सारे लेख का सार है)

प्रोफ़ेसर साहब ने लेख के आरंभ में पहले तो इस बात पर दुख व्यक्त किया है कि आज पहले दौर की तुलना में जिसका जी चाहता है, हर कोई फ़तवा देना शुरू कर देता है, यद्यपि हमारे यहां फेडरल शरअी अदालत, इस्लामी सैद्धान्तिक कौन्सिल और इदारा तहक़ीक़ात इस्लामी मौजूद हैं और उन इदारों की मौजूदगी में किसी एक व्यक्ति या तथाकथित मुफ़्ती को फ़तवा जारी करने का हक़ नहीं पहुंचता। इस बारे में उन्होंने यह दावा भी किया कि सय्यदना उमर फ़ारूक़ रज़ि० के ख़िलाफ़त के दौर में कुछ विद्वान सहाबा के अलावा किसी को फ़तवा देने या हदीस बयान करने की मनाही थी।

हज़रत उमर रज़ि० के दौर के बारे जो दावा किया गया है, वह तो वास्तविकता के विरुद्ध है (जिसके विवरण की इस समय गुंजाइश नहीं) लेकिन यह बात बड़ी आश्चर्यजनक है कि जिन उलमा की सारी उम्र क़ुरआन व हदीस की शिक्षा व पाठ पठन और फ़तवा में गुज़री है वे तो "हर ऐरे ग़ैरे " और "गढ़े हुए" मुफ़्ती क़रार पाए हैं, जिन्हें फ़तवा देने का कोई हक़ नहीं है और स्वयं प्रोफ़ैसर जो तारीख़ के प्रोफ़ैसर हैं और शायद अरबी भाषा से भी अनभिज्ञ हैं। वह उल्लिखित इदारों की मौजूदगी

में भी "फ़तवा" लेने के हक़दार ठहरे हैं और उनके लेख का शीर्षक ही एक सम्पूर्ण फ़तवा है कि :

"औरत के शासक बनने में शरअन कोई परेशानी नहीं है।"

मानो :

तुम्हारी ज़ुल्फ़ में पहुंची तो हुस्न कहलाई
वह तीरगी जो मेरे नामाए सियाह में है

इस दोरंगी या कपट पर हम सिवाए इसके क्या कहें :

आप ही अपनी अदाओं पर ज़रा ग़ौर करें
हम अगर अर्ज़ करेंगे तो शिकायत होगी

दूसरी बात यह है कि प्रोफ़ैसर साहब के "अलवाहुस्सनादीद" और सफ़रनामे क़िस्म के लेख पढ़कर अंदाज़ा होता था कि उन्हें बुज़ुर्गों के साथ बड़ी अक़ीदत है, लेकिन इस लेख से मालूम हुआ कि इनकी सारी आस्था मृत बुज़ुर्गों से है, ज़िंदा बुज़ुर्गों से नहीं। कराची के जिन 15 चोटि के विद्वानों ने औरत के शासक होने के न होने का फ़तवा दिया है। मसलक के मतभेद के बावजूद ज्ञान व गौरव, अपनी दीनी सेवाओं और संयम व उपासना के हिसाब से बड़ी ऊंची और श्रेष्ठ बुज़ुर्ग हैं। लेकिन प्रोफ़ैसर साहब ने उनके मसलक के समर्थक होने के बावजूद उन मुफ़्तियाने किराम का ज़िक्र बड़ा उपहास उड़ाने व हंसी मज़ाक़ के अंदाज़ में किया है। ग़ालिब की ज़बान में :

हर एक बात पर कहते हो तुम कि तू क्या है
तुम्ही कहो कि यह अंदाज़े गुफ़्तुगू क्या है

तीसरी बात यह है कि प्रोफ़ैसर साहब ने फ़ारस की शासक औरत बोरान दख़्त का हुकूमत करने का साल 649 ई० बतलाया है जबकि नबी सल्ल० की वफ़ात का साल 633 ई० है। प्रोफ़ैसर साहब ने ध्यान नहीं

दिया कि क्या यह औरत नबी सल्ल० की वफ़ात के 16 साल बाद शासक बनी थी? फिर नबी सल्ल० ने इसके नाकाम होने की ख़बर किस तरह दी? क्या यही वह तारीख़ का ज्ञान है जिसकी बुनियाद पर एक सही और सर्वमान्य हदीस को झुठलाने की कोशिश की जा रही है। सत्यता यह है कि इनकी यह एक ग़लती ही इनकी सारी तारीख़ के ज्ञान का भरम खोल देती है और इनकी तारीख़ी मिसालों को संदिग्ध बना देती है।

13. कुछ मुसलमान औरतों की हुकूमत करने की हक़ीक़त

बहरहाल अब प्रोफ़ैसर साहब की इस "दराइयत" पर हम सोच विचार करते हैं जिसकी बिना पर उन्होंने मुफ़्तियाने किराम की राय को "भूल" पर आधारित क़रार दिया है। अतः फ़रमाते हैं :

"उन मुफ़्तियों को हदीस मुबारका का मतलब समझने में भूल हुई है। इस हदीस का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसका चरितार्थ केवल ईरान की मलिका बोरान दख़्त पर होता है और उसे सर्व सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि दराइयत मुफ़्तियों के फ़तवा की समर्थन और हिमायत नहीं करती।"

इसके बाद उन्होंने "दराइयत" का विवरण रूस की मलिका कैथराइन, बरतानिया की मलिका विकटोरिया और अन्य कुछ शासक औरतों की मिसालें देकर बयान किया है कि ये सब औरतें बड़ी कामयाब शासक रही हैं, इसलिए इन पर नाकाम होने का चरितार्थ नहीं हो सकता, इसी तरह इस हदीस को अगर सर्व सामान्य के तौर पर मनवाने की कोशिश की जाएगी तो इससे रसूलुल्लाह सल्ल० की सच्चाई अविश्वसनीय ठहरेगी, क्योंकि तारीख़ से इसके विपरीत औरतों की कामयाब हुकूमत की मिसालें साबित हैं।

इस सिलसिले में सबसे पहली बात तो यह है कि जो मिसालें दी गई हैं। वह अधिकतर बादशाही दौर की दी गई हैं, जिसको हमारे लोक तांत्रिक

बुद्धिजीवी मानते ही नहीं। ख़ासकर इस्लामी इतिहास की जो मिसालें (रज़िया सुल्ताना, चांद बीबी और शाह जहां बेगम रईसा रियासत भोपाल) दी गई हैं, वे सब बादशाहत के नतीजे में आई थीं, जो एक तो परेशानी का नतीजा था कि ख़ानदान में उस समय कोई योग्य मर्द नहीं था मुसलमान शाही ख़ानदान में योग्य मर्दों की मौजूदगी में कहीं भी किसी औरत को शासक नहीं बनाया गया है। जैसा कि स्वयं प्रोफ़ैसर साहब ने भी माना है कि :

"रज़िया सुल्ताना के बीस भाइयों की मौजूदगी में इसका दुर्वेश जैसा बाप सुलतान शम्सुद्दीन अलतमिश यह कहा करता था कि उसके बेटे निकम्मे और अयोग्य हैं और उसकी बेटी शासन चलाने कीं पूरी तरह योग्य है। ("निदा" 13 दिसम्बर 1988 ई०)

क्या सुल्तान अलतमिश की इस समीक्षा से, जिसे स्वयं प्रोफ़ैसर साहब ने नक़ल फ़रमाया है, साबित नहीं होता कि रज़िया सुलतान की सत्ता किसी शरअी मजबूरी के कारण थी। बीजापुर और अहमद नगर दक्षिण की शासक औरत चांद बीबी का शासन भी इसी क़िस्म की परिस्थिति का नतीजा था। चांद बीबी बीजापुर के शासक अली आदिल शाह की मलिका थी। आदिल शाह एक साज़िश के तहत हलाक कर दिए गए, उनके कोई बेटा न था। वारिसों में केवल एक भतीजा था, जिसकी उम्र 9 साल थी, उसी को तख़्त का वारिस बना दिया गया और चांद बीबी उसकी निगरां नियुक्त हुई। चांद बीबी एक बार अपने बाप सीन शाह की रियासत अहमद नगर आई तो वहां उसका इकलौता भाई मानसिक रोग का शिकार हो गया। मजबूरन यह रियासत भी चांद बीबी को सौंप दी गई और वह बीजापुर और अहमद नगर की संयुक्त शासक बन गई।

भोपाल की बेगम का मामला भी इसी तरह का है जिसका संक्षिप्त हाल यह है कि भोपाल के छठे शासक नवाब वज़ीरे मुहम्मद ख़ान के बेटे नज़र मुहम्मद ख़ान ने 1816 ई० में उत्तराधिकारी बनते ही अंग्रेज़ों से एक

सन्धि की। जिसकी रू से अंग्रेज़ों ने यह ज़िम्मेदारी क़ुबूल की कि रियासत भोपाल का इलाक़ा इसके और उसकी औलाद के लिए सुरक्षित रहेगा और किसी दूसरे ख़ानदान में यह सिलसिला परिवर्तित नहीं होगा जो रियासत के शासक का उम्मीदवार था और जिसके कुछ लोग इससे पहले रियासत के शासक भी रह चुके थे, और एक अवसर पर उन दोनों ख़ानदानों में आपसी जंग और मार काट भी हो चुकी थी।

...इसके बदले में नवाब नज़र मुहम्मद ख़ान ने रियासत भोपाल के शासक के रूप में अंग्रेज़ी हितों की सुरक्षा का वायदा किया।

इस सन्धि की रू से अब रियासत की हुकूमत केवल इसी एक ख़ानदान में क़ैद हो गई जिसने अंग्रेज़ों से सन्धि की थी और उस मजबूरी की वजह से फिर बेटा न होने की सूरत में सिकन्दरी बेगम, शाहजहां बेगम और सुल्तान जहां बेगम क्रमशः शासक बनीं, फिर जब सुलतान जहां बेगम के यहां औलाद बेटा हुआ तो उनके लड़के नवाब हमीदुल्लाह ख़ान को रियासत का उत्तराधिकारी क़रार दिया गया।

इस स्थान पर यह बात भी ख़ास तौर पर नोट करने के क़ाबिल है कि नवाब सिकन्दरी बेगम के बाद जब उनकी अविवाहित बेटी शाह जहां बेगम को रियासत की उत्तराधिकारी माना गया तो इन शब्दों में ख़बर दी गई कि :

"मुवाफ़िक़ रस्म भोपाल के नवाब शाह जहां बेगम साहिबा की गद्दी नशीनी इसी तरह मंज़ूर हुई जिस तरह कि आप सर्व सहमति और भोपाल के उमरा की रज़ामन्दी सरकार इंगलिशिया गद्दी नशीन रियासत की गई थीं। जिस समय शाह जहां बेगम विवाहित होंगी, उनका पति रईस होगा।" (हयाते शाहजहानी, पृ० : 3)

फिर जब वे शादी की उम्र को पहुंची और ख़ानदान में उचित रिश्ते की तलाश शुरू की गई तो शासक ख़ानदान का कोई रिश्ता पसन्द न

आया और मजबूरन दूसरे ख़ानदानों में रिश्ते की तलाश शुरू हो गई और कुछ रिश्ते पसन्द किए गए, अभी किसी एक के बारे में पूर्ण फ़ैसला भी नहीं किया गया था कि उससे पहले ही अंग्रेज़ी गवर्नमेन्ट को रियासत की तरफ़ से निम्न प्रार्थना पेश की गई कि :

"ख़ानदान में नवाब शाहजहां बेगम की शादी के योग्य कोई नज़र नहीं आता और जब ग़ैर ख़ानदान में शादी होगी तो न मालूम अंजाम क्या हो? इसलिए उचित मालूम होता है कि रियासत नवाब शाहजहां बेगम के नाम रहे, उनका पति रियासत के मामलों में बेइख़्तियार हो, केवल पद व नाम व इज़्ज़त में नवाब रहे मगर उनसे जो औलाद हो वह मुस्तक़िल नवाब और मालिक क़रार पाए।" (हयात शाहजहानी, पृ० : 6, मत्बूआ आगरा 1914 ई०, मुअल्लिफ़ा सुलतान जहां बेगम)

अतएव अंग्रेज़ गवर्नमेन्ट ने उससे सहमत होकर उसके अनुसार अमल करने का विश्वास दिलाया और वास्तव में उसके अनुसार ही अमल हुआ। इस हिसाब से मानो बेगमात भोपाल का शासक होना मजबूरी का नतीजा क़रार पाता है।

इसके अलावा बेगमात भोपाल की मिसालें देने वालों को यह भी मालूम होना चाहिए कि उन बेगमात ने शासक होने के बावजूद परदे तक की पाबन्दी सख़्ती के साथ की थी, बल्कि सुलतान जहां बेगम ने परदे की हिमायत में एक ज़ोरदार किताब भी लिखी है जिसका नाम "इफ़्फ़तुल मुस्लिमात" है जिसमें परदे के शरई आदेश, बेपरदगी की हानियां और बेपरदगी की हिमायत में पेश किए जाने वाले तर्कों का मुंह तोड़ जवाब दिया गया है। (देखिए: "तज़किरा बेगमात भोपाल" पृ० : 77-78, दारुल इशाअत, लाहौर 1992 ई०)

क्या बेगमात भोपाल का नाम लेने वाले अपनी शासक बेगमात को भी पर्दे की ताकीद फ़रमाएंगे? अय्यूब ख़ान के दौर में मोहतरमा फ़ातिमा जिनाह के राष्ट्रपति उम्मीदवार नामांकित करने से भी विवेचन किया जा

रहा है, लेकिन अन्दर की बातों के जानकार जानते हैं कि उनका नामांकन भी सन व साल के अलावा मजबूरी ही का नतीजा था चूंकि प्रोफ़ैसर साहब ने अपने लेख में इस मिसाल का ज़िक्र नहीं किया है, इसलिए हम भी फ़िलहाल इसकी ज़रूरी जानकारी से बच रहे हैं, इसके अलावा इस पर ज़रूरी बहस गुज़र भी चुकी है।

बहरहाल इस्लामी इतिहास के विगत चौदह सौ साला दौर में औरत के शासक होने की कुछ रियासतों में जो कुछ मिसालें मिलती हैं उन सबकी हुकूमत किसी न किसी "मजबूरी" पर आधारित थी और किसी भी मजबूरी की हालत से आम नार्मल हालात के लिए विवेचन करना सही नहीं, क्योंकि सर्वमान्य उसूल है "कुछ (इज़्तरारी) ज़रूरतें मनाही को भी जाइज़ कर देती हैं"। मानो उल्लिखित मिसालें आजकल की परिभाषा के अनुसार ज़रूरत के दृष्टिकोण की पैदावार थीं, जिन्हें आम हालात में मिसाल के तौर पर और नमूना पेश नहीं किया जा सकता।

2 : प्रोफ़ैसर साहब ने भी जितनी मिसालें अपनों और ग़ैरों की पेश की हैं। ज़माना हाल की कुछ मिसालों से हटकर, सब की सब बादशाहत के दौर की हैं, अर्थात वे औरतें पैतृक तौर पर शाही हुकूमतों और रियासतों की शासक बनी थीं, जिनमें जनता की राय का कोई दख़ल नहीं था। सवाल यह है कि ये लोग जो आज औरत के शासक होने का औचित्य कुछ बादशाही मिसालों से निकाल रहे हैं, क्या वे बादशाहत के जाइज़ होने या सराहे जाने के क़ायल हैं? अगर नहीं हैं तो फिर उनके लिए उन मिसालों से विवेचन करने का औचित्य क्या है?

रह गई वर्तमान दौर की मिसालें, जैसे इन्दिरा गांधी, श्रीमती बिन्दरा नाइके और श्रीमती गोल्ड मीयर आदि ये मिसालें निश्चय ही वर्तमान दौर की हैं, लेकिन सही बात यह है कि "दूर के ढोल सुहाने" के चरितार्थ प्रोफ़ैसर साहब को इनका दौर बड़ा कामयाब नज़र आया है वर्ना हक़ीक़त यह है कि इन "नीलम परियों" के लोकतांत्रिक वस्त्रों में साम्राज्यवाद ही

की ख़राबियां हैं। इन्दिरा गांधी का दौर मात्र इसलिए कामयाब नहीं क़रार दिया जा सकता कि उसके दौर में हमें पराजय का दाग़ सहन करना पड़ा था, क्योंकि इसमें उसकी रणनीति और चालबाज़ी से ज़्यादा हमारी अपनी मूर्खता, कमियों और कुछ भाग्य आज़माने वालों का हद से ज़्यादा मन प्रलोभन का दख़ल था। इंदिरा का दौर अभी ज़्यादा पुराना नहीं हुआ है। ज़रा भारतियों से इसकी कामयाबियों की कहानी जाकर सुन लें और फिर उसकी कामयाबी या नाकामी का फ़ैसला करें।

3 : रूस, बरतानिया और अन्य देशों की मलिकाओं[1] के हुकूमत के दौरों को भी जो बड़े कामयाब बतलाए गए हैं, वह भी ग़लत है। प्रोफ़ेसर साहब ने केवल तस्वीर का एक ही पहलू सामने रखा है, उम्मीद है कि अन्य विद्वान व इतिहासकार उन मलिकाओं के हुकूमत के दौरों की पूरी जानकारी देशवासियों के सामने पेश करेंगे जिससे उनके "रौशन और कामयाब" दौरों की हक़ीक़त सामने आ जाएगी।

हमारे सामने तो इस्लामी इतिहास के जो दो नमूने रज़िया सुलताना और चांद बीबी के हैं, उन्हें शिक्षा प्रद ही कहा जा सकता है। कामयाब किसी तरह भी क़रार नहीं दिया जा सकता। पहली की हुकूमत को इसकी रियासत के अधिकांश उमरा ही ने तस्लीम नहीं किया। रज़िया सुलताना ने उन्हें अधीन करने की कोशिश की मगर उनके हाथों पराजित होती रही। दारोग़ा अस्तबल याक़ूत हबशी को दी जाने वाली "अमीरुल उमरा" की उपाधि उसके लिए और मुसीबत बन गई। आख़िरकार उसने एक बहादुर शासक इख़्तियारुद्दीन तोनिया से शादी करके अपनी हुकूमत तस्लीम

1. प्रोफ़ैसर साहब को इसी बरतानिया की मलिका मैरी (Mary) का ज़िक्र "सफ़लता" के सिलसिले में करना चाहिए था जिसको इतिहास ने "ख़ूनी मैरी" (Bloody Mary) क़रार दिया है। इसी तरह मिस्र की मलिका क़्लोपतरा को सामने रखना चाहिए था जिसकी ऐशगाह में रूम के लोह पुरुष सीज़र और फिर एन्थोनी अय्याशी करते रहे और मलिका समेत विनाश को पहुंचे।

क़राना चाही मगर वह उसमें भी कामयाब न हुई और फिर तोनिया और रज़िया दोनों को क़त्ल कर दिया गया। (उर्दू दायरा मआरिफ़ इस्लामिया, 10/310-311, प्रकाशित दानिशगाह, पंजाब और "लाहौर व तारीख़ आलम इस्लाम" मुअल्लिफ़ा मुहम्मद अब्दुल्लतीफ़ अंसारी, मोतमर इस्लामी, कराची, पृ० : 146)

3 - चांद बीबी को भी निरंतर बग़ावत और साज़िशों का सामना करना पड़ा और आख़िरकार अपनी फ़ौज के बाग़ी सिपाहियों के हाथों मारी गई। (उर्दू दायरा मआरिफ़ इस्लामिया, 7/614)

अलबत्ता भोपाल की कुछ बेगमात विशेष रूप से शाहजहां बेगम का दौरे हुकूमत थोड़ा कामयाब क़रार दिया जा सकता है और उसकी वजह यह है कि निःसन्देह विधिवत रूप से रियासत की शासक यही बेगमात थीं, लेकिन एक तो इन बेगमात ने शरीअत की पाबन्दी सख़्ती के साथ की, यहां तक कि परदे तक से विमुखता नहीं बरती, दूसरे इसी शरअी परदे की पाबन्दी की वजह से अपने इख़्तियारात का इस्तेमाल वे ज़्यादातर अपने दीनदार सलाहकारों और पतियों द्वारा करती रही हैं। शाहजहां बेगम के पहले पति (नवाब उमराउद्दौला बाक़ी मुहम्मद ख़ान) की मौत तो शाहजहां बेगम की तख़्त नशीनी से पहले ही हो गई थी, लेकिन जब उनका दूसरा निकाह वाला जाह नवाब सय्यद सिद्दीक़ हसन ख़ान से हुआ, तो नवाब साहब के द्वारा ज़्यादा इख़्तियारात का इस्तेमाल हुआ, अतः कुछ व्याख्याएं इस बारे में पेश हैं। "मआसिर सिद्दीक़ी" के लेखक लिखते हैं :

"रईसा आलिया (शाहजहां बेगम) शरअी आदेशों के अनुसार एक परदा दार महिला थीं और एक बड़े क्षेत्र पर शासक और बड़ी भारी संख्या के काले व सफ़ेद की मालिक थीं। इसलिए ज़रूरी था कि उनके हाथ पांव रियासत के ऐसे सलाहकार व अफ़सर हों जो वर्तमान दौर के आरंभ में अपनी ईश्वर प्रदत्त योग्यता और ईमानदारी व सूझबूझ और दीनदारी से रियासत का प्रबन्ध व प्रगति, जनता की सेवा और भलाई के कामों में

काफ़ी मदद व सहयोग कर सकें।"

और उनके पति वाला जाह नवाब सिद्दीक़ हसन के बारे में लेखक लिखते हैं :

"वाला जाह मरहूम रियासत भोपाल में न केवल शक्तिशाली मंत्री की हैसियत रखते थे, बल्कि मलिका की असल मंशा और बरतानिया सरकार की व्याख्या के अनुसार (जिनका हाल घटनाओं के अध्ययन से मालूम होगा) वह अपने प्रस्ताव व मशवरे से मलिका के हुक्म के बाद रियासत के सारे काम भली प्रकार अंजाम देते थे।" (मआसिर सिद्दीक़ 3/2, तबा नवल किशोर लखनऊ 1924 ई०)

बल्कि नवाब सय्यद सिद्दीक़ हसन ख़ान पर जो आरोप लगाए गए थे, जिनकी बिना पर अंग्रेज़ों ने उनकी तमाम उपाधियां व पद छीन लिए थे, उनमें एक आरोप यह भी था कि उन्होंने मलिका शाह जहां बेगम को अपने निकाह में लेने के बाद परदा नशीन बनाकर रियासत के सारे इख़्तियारात अपने हाथ में ले लिए हैं। (मआसिर सिद्दीक़, 3/73 व "नवाब हसन ख़ान" लेखक डाक्टर रज़िया हामिद, पृ० 116, प्रकाशित भोपाल 1983 ई०)

प्रोफ़ैसर साहब ने अहले हदीस उलमा से नवाब सिद्दीक़ हसन ख़ान का फ़तवा तलब फ़रमाया है, लेकिन हम अर्ज़ करेंगे कि नवाब साहब का उल्लिखित रोल उनके किसी फ़तवा से अधिक महत्व रखता है कि उन्होंने व्यवहारिक रूप से मलिका शाहजहां बेगम के इख़्तियारात स्वयं अपने हाथ में ले लिए थे। निश्चय ही इसमें वही विचार व राय मौजूद होगी जिसकी रू से औरत की उत्पत्ति का उद्देश्य राज्य के शासक से भिन्न है और अगर आप को फ़तवा ही पर आपत्ति है तो प्रोफ़ैसर साहब 'अर्रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसा-इ' और आयत 'वलिर्रिजालि अलैहिन्न द-र-जतुन' की टीका में उनकी अरबी टीका "फ़त्हुल बयान" और उर्दू टीका "तर्जुमानुल क़ुरआन" देख लें जहां उन्होंने मर्द के शासक होने को तस्लीम करते हुए

हदीस 'लयं युफ़लि-ह..." का भी हवाला दिया है।

4. "फ़लाह" मात्र प्रत्यक्ष सम्पन्नता का नाम नहीं है

चार : प्रोफ़ैसर साहब ने "फ़लाह" का मतलब केवल प्रत्यक्ष सम्पन्नता ही समझा है यद्यपि "फ़लाह" का मतलब इससे कहीं ज़्यादा व्यापक है, और उसका संबंध बाहर से कहीं ज़्यादा अन्दर से है। प्रत्यक्ष सम्पन्नता के बावजूद एक क़ौम "नाकाम" क़रार दी जा सकती है। यूरोपीय हुकूमतें प्रायः प्रत्यक्ष रूप से बड़ी सम्पन्न हैं। राजनीतिक व आर्थिक मज़बूती भी उन्हें हासिल है लेकिन उसके बावजूद औरत की बेक़ैद आज़ादी और जीवन के हर स्थल में मर्द व औरत के साथ साथ चलने वाले दृष्टिकोण ने जिस तरह जिन्सी बिगाड़ पूरे समाज में पैदा कर दिया है और घरेलू निज़ाम को जिस बुरी तरह बर्बाद किया है, क्या भौतिक सम्पन्नता और सांसारिक आसानियों की अधिकता उसका बदल कहला सकती है? और जिस क़ौम का घरेलू निज़ाम तबाह हो चुका हो, बढ़ते हुए अपराध ने हर व्यक्ति को वहां भयभीत कर रखा हो और जिन्सी उत्तेजना ने वहां तमाम नैतिक मूल्यों को पामाल कर दिया हो। क्या उस क़ौम और समाज को कामयाब कहा जा सकता है? अगर नहीं कहा जा सकता और निश्चय ही नहीं कहा जा सकता तो किसी भी दौर की मात्र प्रत्यक्ष सम्पन्नता और चमक दमक से उसे "कामयाब" क़रार नहीं दिया जा सकता। आम लोग तो आज भी यूरोपीय क़ौम और समाज को बड़ा "कामयाब" बताते हैं, लेकिन अलहम्दुलिल्लाह देखने वाले और जानकर ज्ञानी कभी इस भ्रम का शिकार नहीं हुए। वे सम्पन्नता के इस शान्त समुद्र की तह में मौजूद ख़तरनाक मोजों और उसकी विनाशकारी से अवगत हैं। वह भौतिक सम्पन्नता को कामयाबी नहीं समझते, नैतिक मूल्यों की सरबुलन्दी और दिल व निगाह की पवित्रता को कामयाबी समझते हैं और वह भय और दहशत से भरपूर समाज को कभी "सफ़ल" मानने के लिए तैयार नहीं हो सकते।

15. प्रत्यक्ष सम्पन्नता ''इस्तदराज'' (ढील देना) भी हो सकती है

पांच : क़ुरआन करीम और फ़रमाने रसूल सल्ल० से यह बात स्पष्ट होती है कि कभी कभी बतौर इस्तदराज के तौर पर क़ौमों को अल्लाह तआला की तरफ़ से न केवल काम की मोहलत मिलती है बल्कि अल्लाह तआला उन पर सांसारिक आसानियों के दरवाज़े भी खोल देता है जिस तरह हदीस में है। नबी सल्ल० ने फ़रमाया :

''जब तुम यह देखो कि मुसीबतों के बावजूद अल्लाह तआला किसी व्यक्ति या क़ौम को उसकी इच्छा के अनुसार सांसारिक माल व दौलत से नवाज़ रहा है, तो यह इस्तदराज (ढील देना) है। (मुसनद अहमद : 4/145) फिर आपने क़ुरआन करीम की यह आयत तिलावत फ़रमाई :

﴿فَلَمَّا نَسُوا مَا ذُكِّرُوا بِهِ فَتَحْنَا عَلَيْهِمْ أَبْوَابَ كُلِّ شَيْءٍ حَتَّىٰ إِذَا فَرِحُوا بِمَا أُوتُوا أَخَذْنَاهُم بَغْتَةً فَإِذَا هُم مُّبْلِسُونَ ﴿٤٤﴾﴾ (الانعام/٤٤)

''जब वे लोग वे सब बातें भुला बैठें जिनकी उनको नसीहत की जाती थी तो हमने उन पर हर चीज़ के दरवाज़े खोल दिए। यहां तक कि जब वे उन चीज़ों को पाकर इतराने लगे तो हमने उनको अचानक पकड़ लिया। तब वे बिल्कुल नाउम्मीद हो गए।'' (अनआम : 44)

इसलिए अल्लाह की अवज्ञाकारियों के बावजूद अगर कोई व्यक्ति या क़ौम प्रत्यक्ष रूप से फल फूल रही हो तो जल्द ही यह फ़ैसला नहीं कर लेना चाहिए कि यह व्यक्ति या क़ौम तो बहुत कामयाब है, क्योंकि यह तात्कालिक सम्पन्नता कामयाबी का पैमाना नहीं। हो सकता है कि यह उस व्यक्ति या क़ौम के लिए एक छूट हो, जिसकी बाबत नहीं कहा जा सकता कि यह छूट कब ख़त्म हो जाए और फिर वह अल्लाह की पकड़ से दोचार होकर शिक्षा प्रद या गुज़री हुई दास्तान बनकर रह जाए।

इसकी एक और मिसाल सामने रखनी चाहिए कि क़ुरआन हकीम में अल्लाह तआला ने फ़रमाया है :

﴿ يَمْحَقُ اللّٰهُ الرِّبٰوا وَيُرْبِي الصَّدَقٰتِ ﴾ (البقرة/٢:٢٧٦)

"अल्लाह तआला सूद को मिटाता और सदक़ात को बढ़ाता है।" (बक़रा : 276)

इसको प्रत्यक्ष में मतलब की रू से होना तो यह चाहिए कि सूदी कारोबार करने वाले लोग और क़ौमें भौतिक सम्पन्नता से प्रसन्न न हों, लेकिन प्रत्यक्ष में उसके विपरीत हो रहा है। सारे यूरोप में सूदी निज़ाम है लेकिन इसके बावजूद वहां दुनिया की दौलत (कम होने की बजाए) ख़ूब फैल रही है। हमारे देश में भी जो बड़े बड़े लोग बैंकों से सूदी लेन देन करते हैं, वे सूद से बचने वालों के मुक़ाबले ज़्यादा सम्पन्न हैं क्या प्रोफ़ैसर साहब यहां भी अपनी "दराइयत" का इस्तेमाल फ़रमाते हुए यही इरशाद फ़रमाएंगे कि हालात से क़ुरआन करीम के इस बयान की पुष्टि नहीं होती। अतः क़ुरआन करीम की इस आयत का संबंध भी केवल रियासत के दौर के उस समाज से ही है जिसमें क़ुरआन करीम अवतरित हुआ था, क्योंकि अगर उसको सर्वमान्य क़ायदा के तौर पर हम लेंगे तो क़ुरआन करीम को झुठलाना अनिवार्य होगा? या प्रोफ़ैसर साहब यहां इस बात को मानेंगे कि अल्लाह के इस आदेश का संबंध ज़ाहिरी बढ़ौत्तरी से नहीं है बल्कि वास्तविक बढ़ौत्तरी और रूहानी बरकत से है।

हम प्रोफ़ैसर साहब से पूछते हैं कि यहां उनका दृष्टिकोण क्या है? क्या यहां इस "दराइयत" का इस्तेमाल सही है जो आपने इस हदीस के रद्द करने या इसे सीमित करने के लिए इस्तेमाल किया है या आप इसका वही स्पष्टीकरण देंगे? जो हमने उलमा की हिमायत करते हुए उल्लिखित पंक्तियों में पेश किया है? अगर आपको अपनी "दराइयत" के सही होने पर विश्वास है, तो फिर इसकी रौशनी में इस आयत का मतलब भी स्पष्ट फ़रमाइए! और अगर आप यहां वास्तविक कामयाबी

और रूहानी बरकत तात्पर्य लेते हैं, तो यही मतलब हदीस में क्यों नहीं लिया जा सकता? इसके अलावा अगर "फ़लाह" का वही मतलब सही है जो प्रोफ़ैसर साहब के ज़ेहन में है तो इस हिसाब से तो स्वयं बोरान दख़्त के दौर को भी नाकाम क़रार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसके दौर में भी नाकामी वाली बात नज़र नहीं आती। 6 महीने उसकी हुकूमत रही और फिर एक बीमारी का शिकार होकर मर गई। बीमारी की वजह से मर जाने को नाकामी नहीं कहा जा सकता, लेकिन उसके बावजूद नबी सल्ल० ने उस क़ौम की कामयाबी का इन्कार किया है तो निश्चय ही उसके कुछ आन्तरिक और रूहानी प्रभाव ऐसे हैं जिनका पूरा अंदाज़ा प्रत्यक्ष पैमाने से नहीं किया जा सकता।

16. एक प्रमाणित बात को किसी टीकाकार के बयान से संदिग्ध नहीं ठहराया जा सकता

छठा : किसी भी दौर को कामयाब या नाकाम क़रार देना इतना आसान नहीं है, जितना प्रोफ़ैसर साहब ने समझ लिया है और औरतों के पेश किए गए शासकीय दौर को कामयाब क़रार दे दिया है। आप से ज़्यादा कौन इस बात को समझ सकता है कि इहिासकारों के बयानात आपस में भिन्न और परस्पर विरोधी होते हैं। कोई किसी दौर को कामयाब क़रार देता है तो कोई और इसी दौर को नाकाम बल्कि बहुत ही बुरा बताता है। ज़्यादा दूर न जाइए। अपनी आंखों देखा दौर ही सामने रख लीजिए। कई लोग मिस्र के जमाल अब्दुल नासिर को इस्लाम का "महान सेवक" कहते हैं, जबकि कई दूसरे उसे इस्लाम का दुश्मन क़रार देते हैं। कई लोग सदर अय्यूब ख़ान के दौर को सुनहरा दौर बताते हैं और कई दूसरे इसके विपरीत राय रखते हैं। यही मामला जनरल ज़ियाउल हक़ और जनाब भुट्टू के कार्यकाल का है।

इसके कई कारण हैं, कभी कभी इतिहासकार के अपने मानसिक

रुझान व दृष्टिकोण होते हैं जो इतिहास में राह पा जाते हैं और कभी कभी बाद में सत्ता में आने वाले शासकों के विशेष हित और प्रोपगंडा उसमें प्रभावी होता है। कभी कुछ और कारण उसमें मौजूद होते हैं। इसलिए किसी भी एतिहासिक बयान को सौ प्रतिशत सही नहीं समझा जा सकता और न उनकी बुनियाद पर किसी प्रमाणिक बात को रद्द ही किया जा सकता है।

क्या श्रीमान को पता नहीं कि बनू उमैया का दौरे हुकूमत तारीख़े इस्लाम का बेहतरीन दौर है, लेकिन मुस्लिम इतिहासकारों ने उसे किस तरह बिगाड़ दिया है? हम पूछते हैं कि अगर इतिहासकारों के बयान इतने ही सही और पवित्र हैं कि उनकी बुनियाद पर क़ुरआन व हदीस के ठोस उसूल भी संदिग्ध क़रार पा जाएं तो फिर श्रीमान को दौरे उमवी को भी इतिहास का बदतरीन दौर समझ लेना चाहिए। जिस तरह कि हमारे अधिकांश टीकाकार यही कुछ बताते रहते हैं। श्रीमान बनु उमैया के बारे में इतिहासकारों के इस उदगार के विपरीत क्यों राय रखते हैं? अगर बनू उमैया के बारे में इतिहासकारों की राय का विश्लेषण करके उनको ग़लत कहा जा सकता है, तो क्या उन इतिहासकारों की राय को निरस्त व उनका खंडन नहीं किया जा सकता जिन्होंने सत्यता के विरुद्ध उल्लिखित औरतों के हुकूमत के कार्यकालों को कामयाब क़रार दिया है?

17. अपवादी सूरतों से उसूल और नियम नहीं टूटता

सातवां : यह ठोस बात है कि उसूल व नियमों में भी अपवादी सूरतें होती हैं और उनसे उसूल और कायदा नहीं टूटता, क्योंकि कायदा सामान्य जन और बहुसंख्यक की बुनियाद पर होता है। इसलिए कुछ अपवादी सूरतों से वह प्रभावित नहीं होता, जैसे एक सर्वमान्य उसूल और कायदा है कि मर्द औरत के मुक़ाबले में ज़्यादा बहादुर और शक्तिशाली है। इस कायदे के विपरीत अगर कुछ औरतें मर्दों की तुलना में ज़्यादा

बहादुर निकल आएं, तो क्या लाखों और करोड़ों मर्दों में 10-20 औरतों के बहादुर होने से मर्दों की मर्दान्गी व बहादुरी वाला क़ायदा ख़त्म हो जाएगा? नहीं, कभी नहीं, इसी तरह अगर यह मान भी लिया जाए कि प्रोफ़ैसर साहब की पेश की गई शासक औरतें बड़ी कामयाबी से हुकूमत करती रही हैं, तब भी हज़ारों और लाखों मर्द शासकों के मुक़ाबले में उन कामयाब औरतों का अनुपात ही क्या है? इसलिए श्रीमान की बात मानने के बावजूद इस हदीस में जो क़ायदा शासक औरतों की बाबत बयान किया गया वह अपनी जगह बिल्कुल सही और हालात के बिल्कुल अनुसार है। कुछ औरतों की कामयाब हुकूमत से यह क़ायदा ख़त्म नहीं होगा। अगर उसूल और क़ायदा इस तरह टूटने लगें जिस तरह श्रीमान ने इस क़ायदे के टूटने का दावा किया है, तो फिर दुनिया का कोई उसूल और क़ायदा उसूल और क़ायदा के तौर पर बाक़ी ही नहीं रहेगा। क्योंकि अधिकांश उसूल और क़ायदे ऐसे ही होते हैं जिनमें अपवादी सूरतें भी होती हैं, लेकिन उसके बावजूद क़ायदों को क़ायदा ही माना जाता है। कुछ अपवादी सूरतों से इसके टूटने का दावा नहीं किया जाता।

18. औरत की सरबराही इस्लाम की स्पष्ट शिक्षाओं के ख़िलाफ़ है

आठवां : प्रोफ़ैसर साहब ने सारा ज़ोर इस हदीस को संदिग्ध बनाने या उसके मायना व मतलब के बदलने पर ख़र्च किया है और समझ लिया है कि उसके बाद औरत के शासक होने का फ़तवा हर क़िस्म के संदेहों से ऊपर हो गया है। यद्यपि श्रीमान का ऐसा समझना इस समय तक सही हो सकता था जबकि इस मसले में उपरोक्त हदीस ही अकेली नस होती जबकि सत्यता यह है कि औरत के शासक होने का मसला ऐसा है कि क़दम क़दम पर उसका टकराव क़ुरआन व हदीस की स्पष्ट नसूस और उसकी खुली शिक्षाओं से होता है।

जैसे औरत की हुकूमत "मर्द औरत पर शासक हैं" (निसा : 24) के विरुद्ध है। "मर्दों को औरतों पर एक हिसाब से श्रेष्ठता हासिल है" (बक़रा 228) से टकराती है। "औरतें अपने घरों में टिक कर रहें" (अहज़ाब : 33) का खुला उल्लंघन है।

क़ुरआन ने आर्थिक ज़िम्मेदारियों का ज़िम्मेदार केवल मर्द को बनाया है औरत को उससे अलग रखा है। क़ुरआन ने यह व्याख्या करके कि "हमने तमाम नबी मर्द ही बनाए" (अंबिया : 7) यह स्पष्ट कर दिया है कि इमामत व क़यादत की क़ुबा मर्दों के शरीर ही पर ठीक आती है। इसके अलावा अन्य शरअी तर्कों की रू से :

- ✔ औरत, मर्दों की इमामत नहीं कर सकती, किसी मस्जिद की मुअज़्ज़िन या ख़तीब नहीं हो सकती।
- ✔ औरत किसी निकाह में संरक्षक नहीं बन सकती, यहां तक कि स्वयं उसका अपना निकाह भी बिना संरक्षक के सही नहीं।
- ✔ एकान्त में किसी ग़ैर मेहरम से मुलाक़ात नहीं कर सकती।
- ✔ औरत को जिहाद की ज़िम्मेदारियों से अलग रखा गया है।
- ✔ औरत को अपनी आवाज़ तक को कन्ट्रोल करने का हुक्म दिया गया है।
- ✔ किसी भी मौक़े पर मर्द व औरत के मेल मिलाप और खुले मेल जोल या आपस में खुली खुली बातचीत को पसन्द नहीं किया गया और इस तरह की बहुत सी बातें हैं जिनसे मर्द औरत की इस पूर्ण समानता का इन्कार होता है जो पश्चिम का दृष्टिकोण है और जिस पर औरत के शासक होने की असल बुनियाद क़ायम है।

क्या इन शिक्षाओं और स्पष्ट स्पष्टीकरण के बाद इस मामले में कोई सन्देह बाक़ी रह जाता है कि एक मुसलमान राज्य में किसी औरत के शासक बनने की शरअन कोई गुंजाइश नहीं है। इसलिए हमारे देश में

अब एक महिला इस पद पर बिराजमान हो गई हैं तो इसका मतलब यह नहीं है कि अब ऐसा करना जाइज़ हो गया है। कदापि नहीं, कभी नहीं, बल्कि मुसलमानों का अमल व किरदार एक अलग चीज़ है और क़ुरआन व हदीस की व्याख्या एक अलग चीज़ है। मुसलमानों के एक ग़लत काम को करने का मतलब यह कभी नहीं हो सकता कि उस ग़लत काम को जायज़ होने की सनद मिल गई है। इस लाजिक की रू से तो फिर तमाम "बुराइयां" भलाइयों में, बदियां, नेकियां में और हराम, हलाल में तब्दील हो जाएंगे।

इसी तरह हम राजनीतिज्ञों से अर्ज़ करेंगे कि अगर आपको "पश्चिमी लोकतंत्र" का यह तोहफ़ा अच्छा लगता है, तो आप निश्चय ही इसे पसन्द फ़रमाएं, लेकिन क़ुरआन व हदीस को बच्चों का खेल बनाने से बचें और प्रोफ़ैसर असलम साहब से ख़ासकर अर्ज़ है कि आपने इस्लाम के एक सर्वमान्य उसूल को संदिग्ध बनाने के लिए जो कोशिश व मेहनत की है और जो दूर की कोड़ी आप लाए हैं, हो सकता है कि बहुत से "बुद्धिजीवियों" ने इस पर आपको ख़ूब शाबासी दी हो, लेकिन हम अपनी पिछली बातों को देखते हुए उनसे यही अर्ज़ करेंगे :

ऐ अहले नज़र! ज़ौक़े नज़र ख़ूब है लेकिन
जो शै की हक़ीक़त को न समझे वो नज़र क्या

19. कुछ जंगों में कुछ औरतों की शिरकत की हक़ीक़त

कुछ लोग इससे भी विवेचन करते हैं कि नबी सल्ल० के दौर में औरतें जंगों में शरीक होती रही हैं जिसका साफ़ मतलब यह है कि औरतें मर्दों के साथ साथ राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा ले सकती हैं, लेकिन असल बात यह है कि कुछ जंगों में कुछ औरतों की शिरकत एक संयोग की बात था अर्थात किसी वजह से कुछ औरतें अपने पतियों या बेटों या अन्य रिश्तेदारों के साथ मैदाने जंग में चली गई। जिससे उनका उद्देश्य

घायलों की मरहम पिट्टी, सत्तू आदि घोलकर पिलाना और तीर पकड़ाना था। इस्लामी फ़ौज के साथ उनकी यह शिरकत इस उसूल का नतीजा कदापि नहीं थी कि औरतों पर भी जिहाद मर्दों की तरह फ़र्ज़ है। अगर ऐसा होता तो फिर औरतों की शिरकत की इक्का दुक्की घटनाएं ही हदीस व सीरत की किताबों में न मिलती, बल्कि हर जंग में मर्दों के साथ साथ औरतों का ज़िक्र भी होता, और औरतों को भी जिहाद की दावत दी जाती, लेकिन विद्वान जानते हैं कि आम जंगों में औरतें शरीक नहीं हुईं और नबी सल्ल० ने भी औरतों को जिहाद में शरीक होने का कभी हुक्म नहीं दिया। कुछ औरतों ने इजाज़त मांगी तो आपने उन्हें इजाज़त भी नहीं दीं जैसा कि उम्मे वरक़ा बिन्ते नोफ़िल रज़ि० की घटना पहले गुज़र चुकी है कि उन्होंने जंगे बदर में शिरकत करने की इच्छा प्रकट की थी लेकिन नबी सल्ल० ने इजाज़त नहीं दी और फ़रमाया तुम घर ही में रहो। अल्लाह तआला तुम्हें वहीं शहादत से सुशोभित कर देगा (इसका हवाला गुज़र चुका है) कुछ और औरतों ने भी जिहाद में शरीक होने का इरादा प्रकट किया तो आपने उनको यह फ़रमाया कि तुम्हारा जिहाद हज है। (सहीह बुख़ारी, अलजिहाद वस्सेयर, अध्याय जिहाद निसा, हदीस : 2875)

इससे मालूम होता है कि नबी सल्ल० ने कभी भी औरतों को जिहाद में शरीक होने का हुक्म नहीं दिया। अगर किसी जंग में वे शरीक हुई हैं, तो मात्र अपनी भावना और किसी उसूल के बिना हुई हैं। अतः नबी सल्ल० की औरतों के बारे में उन निर्देशों का नतीजा हम देखते हैं कि प्रारंभिक ज़माने और बाद के ज़माने में किसी भी इस्लामी समाज में औरतें मर्दों के साथ साथ नज़र नहीं आतीं। मुख्य रूप से राजनीति व सांसारिक मैदान औरतों से बिल्कुल ख़ाली रहा है। इसलिए उल्लिखित विवेचन भी अपने अंदर कोई ज़ोर नहीं रखता।

20. फ़ौजी या लीगी हुकूमतों का रवैया कोई शरअी दलील नहीं

एक विवेचन यह किया जाता है कि पाकिस्तान में शुरू ही से औरतें

हर मैदान में मर्दों के साथ साथ हिस्सा लेती आ रही हैं और हर हुकूमत ने उसकी सराहना की है, चाहे वह लीगी हुकूमत हो या फ़ौजी, उस समय ये उलमा कहां थे? और अब ऐक औरत का शासक बन जाना क्यों नाजाइज़ है?

जहां तक इस बात का संबंध है कि हर हुकूमत यहां पश्चिम के मर्द औरत की समानता के दृष्टिकोण को बढ़ावा देती और उसका प्रचार करती रही है, निःसन्देह सही है यहां तक कि जनरल ज़ियाउल हक़ तक के ग्यारह साला दौर में भी यह नीति न केवल बरक़रार बल्कि फलती फूलती रही है, लेकिन यह कहना कि उस समय उलमा कहां थे? वे क्यों ख़ामोश रहे? यह बात हक़ीक़त के विरुद्ध है।

हक़ीक़त यह है कि उलमा ने हर दौर में इस नीति की निंदा ही की है इस पर ख़ामोश नहीं रहे, वे उसे बराबर आलोचना का निशाना बनाते रहे हैं, लेकिन

कौन सुनता है फ़ुगां दुर्वेश

के चरितार्थ उनकी आवाज़ महत्वहीन ही साबित होती रही है। इसलिए उलमा को तान तान करना सही है न पिछली हुकूमतों की नीतियों को हुज्जत के तौर पर पेश करना सही है, क्योंकि उनका अमल शरई दलील नहीं है और उलमा के बारे में यह कहना कि वे ख़ामोश रहे, हक़ीक़त के ख़िलाफ़ है।

संविधान में संशोधन की ज़रूरत : हम फिर अर्ज़ करेंगे कि कुरआन व हदीस की स्पष्ट नसूस की रू से औरत का कार्यक्षेत्र घर से बाहर नहीं। केवल घर के दायरे तक सीमित है और अस्थाई और दुर्गम सूरतों के अलावा औरतों का जीवन के हर मैदान में मर्दों के साथ साथ हिस्सा लेना किसी तरह भी इस्लामी शिक्षाओं से मेल नहीं खाता। हुकूमतों का अमल चाहे कुछ भी रहा हो, उनकी ग़लत सोच की वजह से इस्लाम का सर्वमान्य उसूल नहीं टूट सकता। फिर हम हुकूमत से मुख्य रूप से

अपील करेंगे कि वह औरतों के बारे में फिर से पॉलीसी तैयार करे और उसे इस्लामी उसूलों पर बनाए और पश्चिम की नक़्क़ाली से बचा करे, और संविधान में प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति आदि की पोस्टों के लिए मुसलमान मर्द के स्पष्टीकरण की भी ज़रूरत है।

21. हदीस अबू बकरा रज़ि० को मौज़ूअ साबित करने के लिए एक और काल्पनिक सहारा और उसकी हक़ीक़त

कुछ लोग कहते हैं कि हदीस 'लयं युफ़लि-ह क़ौमुन...'' मौज़ूअ है इसलिए कि इस हदीस के रावी हज़रत अबू बकरा रज़ि० हैं, जो ताइफ़ के घेराव के दौरान इस्लाम लाए थे और ईरान की मलिका उससे काफ़ी समय पहले तख़्त शाही पर बैठी थी, अर्थात यह हदीस तो किसी ऐसे सहाबी से मरवी होनी चाहिए थी जो उस समय से पहले मुसलमान हो चुका होता, जब मलिका शासक बनी और फिर जब उनकी तख़्त नशीनी नबी सल्ल० को मालूम होती तो आप यह फ़रमाते, लेकिन रावी काफ़ी समय बाद मुसलमान हुआ, अतः उन्होंने नबी सल्ल० से सुना ही नहीं।

उल्लिखित भ्रम का स्पष्टीकरण

यह दावा कि ईरान की मलिका की तख़्त नशीनी की घटना हज़रत अबू बकरा रज़ि० के मुसलमान होने से काफ़ी समय पहले की है, सही नहीं, क्योंकि :

1. ताइफ़ का घेराव, जिसमें हज़रत अबू बकरा रज़ि० मुसलमान हुए। 8 हिजरी की घटना है और मलिका फ़ारस की घटना भी 8 हिजरी ही की है, किसरा (शाह फ़ारस) का अपने बेटे (शीरोया) के हाथों क़त्ल होने की घटना वाक़िदी के कथनानुसार 10 जमादीउल आख़िर 7 हि० में पेश आई है। (देखें, अलबिदाया वन्निहाया, 3/270)

इसके बाद उसका क़ातिल बेटा (शीरोया) तख़्त फ़ारस पर बैठा। उसकी सत्ता छः महीने रही, फिर बीमार होकर मर गया। उसके बाद

बोरान दख़्त बिन्ते किसरा शासक बनी जो इतिहासिक दृष्टि से 8 हिजरी ही की घटना बनती है। फिर कुछ समय रसूलुल्लाह सल्ल० तक उस ख़बर के पहुंचने में भी ज़रूर लगा होगा। अतः हज़रत अबू बकरा रज़ि० का इस हदीस के सुनने में कोई ऐसा उलझावा नहीं रहता कि जिसकी बुनियाद पर इस हदीस को रद्द किया जा सके।

2. दूसरे, मुसनद अहमद की रिवायत में ये शब्द भी आते हैं कि जब औरत के शासक बनने की ख़बर रसूलुल्लाह सल्ल० को पहुंचाई गई तो उस समय आप हज़रत आइशा रज़ि० के पास थे और आपने औरत की सरदारी को मर्दों के विनाश का कारण बतलाया।

(देखें, फ़त्हुर्रब्बानी, भाग : 23, पृ० : 35)

जिसका मतलब यह हुआ कि औरत के शासक होने की बाबत जो चेतावनी नबी सल्ल० ने दी वह हज़रत आइशा रज़ि० की मौजूदगी में दी थी। फिर जब जंगे जमल के अवसर पर हज़रत अबू बकरा रज़ि० ने इस हदीस के हवाले से हज़रत आइशा रज़ि० से असहयोग का फ़ैसला किया तो हज़रत आइशा रज़ि० ने इस हदीस पर कोई आपत्ति नहीं की। इसके अलावा और भी किसी सहाबी ने इसका इंकार नहीं किया। यूं मानो हज़रत आइशा रज़ि० समेत असहाबे रसूल ने इस हदीस की सेहत में कोई सन्देह नहीं किया, बल्कि सबने उसे माना। इसलिए इस रिवायत को इस आधार पर रद्द कर देना कि हज़रत अबू बकरा रज़ि० के सिवा उसे कोई और रिवायत करने वाला नहीं है, सरासर अनुचित रवैया है क्योंकि जंगे जमल में इस रिवायत की प्रत्यागमन ने इस रिवायत को परिचित करवा दिया था और इस पर किसी भी तरफ़ से आपत्ति न होने की वजह से इस पर मानो सहाबा रज़ि० की सहमति हो गई।

3. तीसरे, मज्मउज़्ज़वाइद में तबरानी के हवाले से हज़रत अबू बकरा रज़ि० के अलावा हज़रत जाबिर बिन समरा से भी ठीक इन्हीं शब्दों में एक रिवायत मरवी है। (मज्मउज़्ज़वाइद, 5/209)

इसके बारे में हाफ़िज़ हैसमी ने यह कहा है कि इसमें एक रावी तबरानी के शैख़ अबू उबैदा अब्दुल वारिस बिन इबराहीम हैं जिन्हें मैं नहीं जानता। लेकिन उनके अलावा...उसके बक़िया रिजाल सिक़ह हैं, लेकिन तबरानी के ग़ैर मारूफ़ मशाइख़ के बारे में हाफ़िज़ हैसमी का रुझान यह मालूम होता है कि वह सिक़ह हैं। (देखें : मुक़दमा मज्मउज़्ज़वाइद 1/8)

इस हिसाब से यह रिवायत सनद के हिसाब से सही क़रार पाती है। लेकिन अगर ज़ईफ़ मान लिया जाए तब भी गवाह और पुष्टि के तौर पर तबरानी की उल्लिखित रिवायत क़ाबिले क़ुबूल होगी।

4. हज़रत अबू बकरा रज़ि० की रिवायत मुसनद अहमद, तिर्मिज़ी, नसाई आदि के अलावा सही बुख़ारी में दो जगह आई है। इसलिए अहले सुन्नत के नज़दीक सही बुख़ारी की यह रिवायत सन्देह से परे है। लेकिन उल्लिखित कारण के बाद तो इसकी सेहत में अब उन लोगों के लिए भी सन्देह करने की गुंजाइश बाक़ी नहीं रह जाती है जो इस हदीस सहीह को रद्द करने के लिए दूर दूर की कौड़ी ला रहे हैं।

22. नवाब सिद्दीक़ हसन ख़ान की व्याख्या

एक साहब ने हमें एक ख़त लिखा है और उन्होंने उसमें मांग की है कि "नवाब सिद्दीक़ हसन ख़ान क़न्नौजी का फ़तवा उपलब्ध करना अहले हदीस के ज़िम्मे है, अहले हदीस ये बताएं कि नवाब साहब ने औरत की हुकूमत को कहां हराम कहा है?"

इस मांग से श्रीमान का मतलब अगर यह है कि शब्द "हराम" की निशानदेही की जाए तो शायद हम यह शब्द इसी तरह दिखाने से विवश हों जिस तरह शराब को हलाल बताने वाले "आधुनिक नवीनीकरण कर्त्ता" के मुतालबे पर, कि क़ुरआन में शराब को "हराम" कहां कहा गया है? उलमा शब्द "हराम" दिखाने से विवश हैं। लेकिन अगर श्रीमान का मतलब औरत की हुकूमत की शरई हैसियत का स्पष्टीकरण है, तो

उसके लिए हम पहले ही उनकी अरबी और उर्दू दोनों टीकाओं का हवाला पेश कर चुके हैं। लेकिन और अधिक बात पूरी करने के लिए उनकी टीकाओं की असल इबारतें और उनकी एक और किताब से उसकी व्याख्या यहां पेश कर रहे हैं।

नवाब साहब की एक अरबी किताब का हिस्सा और उसका अनुवाद :

«وَمِنْهَا كَوْنُهُ ذَكَرًا، وَوَجْهُهُ أَنَّ النِّسَاءَ نَاقِصَاتُ عَقْلٍ وَدِينٍ، كَمَا قَالَ رَسُولُ اللهِ ﷺ، وَمَنْ كَانَ كَذٰلِكَ لاَ يَصْلُحُ لِتَدْبِيرِ الأُمَّةِ وَلِتَوَلِّي الْحُكْمِ بَيْنَ عِبَادِ اللهِ، وَفَصْلِ خُصُومَاتِهِمْ بِمَا تَقْتَضِيهِ الشَّرِيعَةُ الْمُطَهَّرَةُ وَيُوجِبُهُ الْعَدْلُ، فَلَيْسَ بَعْدَ نُقْصَانِ الْعَقْلِ وَالدِّينِ شَيْء، وَلاَ تُقَاسُ الإِمَامَةُ وَالْقَضَاءُ عَلَى الرِّوَايَةِ فَإِنَّهَا تَرْوِي مَا بَلَغَهَا وَتَحْكِي مَا قِيلَ لَهَا، وَأَمَّا الإِمَامَةُ وَالْقَضَاءُ فَهُوَ يَحْتَاجُ إِلَى اجْتِهَادِ الرَّأْيِ وَكَمَالِ الإِدْرَاكِ وَالتَّبَصُّرِ فِي الأُمُورِ وَالتَّفَهُّمِ لِحَقَائِقِهَا، وَلَيْسَتِ الْمَرْأَةُ فِي وِرْدٍ وَلاَ صَدْرٍ مِنْ ذٰلِكَ وَلاَ تَقْوِي عَلَى تَدْبِيرِ أَمْرِ الْعِبَادِ وَالْبِلاَدِ، بَلْ هِيَ أَضْعَفُ مِنْ ذٰلِكَ وَأَعْجَزُ، وَيُؤَيِّدُ هٰذَا مَا ثَبَتَ فِي الصَّحِيحِ لِلْبُخَارِيِّ مِنْ حَدِيثِ أَبِي بَكْرَةَ رَضِيَ اللهُ عَنْهُ مِنْ قَوْلِهِ ﷺ: لَنْ يُفْلِحَ قَوْمٌ وَلَّوْا أَمْرَهُمْ امْرَأَةً، قَالَهُ لَمَّا بَلَغَ أَنَّ أَهْلَ فَارِسَ قَدْ مَلَّكُوا عَلَيْهِمْ بِنْتَ كِسْرٰى يَعْنِي بُورَانَ بِنْتَ شِيرُويَه بِنِ كِسْرٰى، فَلَيْسَ بَعْدَ نَفْيِ الْفَلاَحِ شَيْءٌ مِنَ الْوَعِيدِ الشَّدِيدِ وَرَأْسُ الأُمُورِ هُوَ الإِمَامَةُ، وَالْقَضَاءُ وَبِحُكْمِ اللهِ عَزَّوَجَلَّ فَدُخُولُهُ فِيهَا يَكُونُ دُخُولاً أَوَّلِيًّا» (إكليل الكرامة في تبيان مقاصد الامامة، ص: ٦٦-٦٧)

"शासक की शर्तों में से एक शर्त यह भी है कि वह मर्द हो, क्योंकि औरतें बुद्धि और दीन में अपूर्ण हैं। जैसा कि रसूलुल्लाह

सल्ल० का इरशाद है और जो बुद्धि व दीन में अपूर्ण हो वह उम्मत में सूझ बूझ, दुशमनी दूर करने और अल्लाह के बन्दों के बीच फ़ैसला करने की इस तरह योग्यता से मालामाल नहीं हो सकता जो अल्लाह की शरीअत के लिए और न्याय के हिसाब से ज़रूरी है। अतः बुद्धि व दीन में हानि के बाद कुछ नहीं।

इसके अलावा इमामत (हुकूमत) और क़ज़ा को रिवायत (हदीस रसूल बयान करने) पर क़यास नहीं किया जा सकता। इसलिए कि रिवायत में तो औरत वही कुछ बयान करती है जो उसे पहुंचता और वही कुछ नक़ल करती है जो उससे कहा गया होता है, लेकिन हुकूमत और क़ज़ा का मसला उससे बिल्कुल भिन्न है, उसके लिए तो इज्तिहादी राय, कमाल की अनुभूति, मामलात में गहरी सूझ बूझ और तथ्यों तक पहुंचने के लिए बड़ी सूझ बूझ ज़रूरी है, जबकि औरत इन गुणों वाली है न वह लोगों और शहरों के मामलात की तदबीर की ताक़त रखती है, बल्कि वह इन मामलों में बड़ी कमज़ोर और हद दर्जा विवश है। इसकी पुष्टि सहीह बुख़ारी की इस हदीस अबी बकरा रज़ि० से भी होती है। जिसमें रसूलुल्लाह सल्ल० ने फ़रमाया : "वह क़ौम कदापि कामयाब नहीं होगी जिसने अपने मामलात एक औरत के हवाले कर दिए।" यह बात नबी सल्ल० ने उस समय इरशाद फ़रमाई थी जब आपको यह ख़बर पहुंची कि फ़ारस वालों ने अपना शासक बिन्ते किसरा अर्थात बोरान बिन्त शीरोया बिन किसरा को बना लिया है। तो नबी सल्ल० का ऐसी क़ौम से सफ़लता का इन्कार कर देना बहुत सख़्त चेतावनी है और मामलात की असल बुनियाद अल्लाह के हुक्म के अनुसार इमामत व क़ज़ा ही है। तो यह मामला उसमें सबसे पहले दाख़िल होगा।"

उर्दू टीका "तर्जुमानुल क़ुरआन" में स्पष्टीकरण

नवाब साहब अपनी उर्दू टीका "तर्जुमानुल क़ुरआन" में आयत "व-लिर्रिजालि अलैहिन्न द-र-जतुन" (बक़रा : 228) की टीका में फ़रमाते हैं :

"मर्दों को औरतों पर श्रेष्ठता हासिल है अर्थात ख़ल्क़ व ख़ुल्क़ में श्रेष्ठता रखते हैं। आज्ञापालन व दर्जों में आदेशों के पालन व दानवीरता में बढ़े हुए हैं। यह जिहादी व बुद्धिमान और शक्तिशाली हैं। उनका हिस्सा मीरास में दो गुना है। उनका आज्ञा पालन औरत पर वाजिब है कि औरत उनकी रज़ामन्दी से रहे सहे। गवाही, पैदाइश, क्षमता, इमामत व क़ज़ा में भी श्रेष्ठ हैं। यह एक औरत पर दूसरी, तीसरी, चौथी पत्नी और बेगिनती लौंडियां ला सकते हैं। औरत दूसरा पति उनकी मौजूदगी में नहीं कर सकती। तलाक़ व वापसी भी उन्हीं के हाथ में है न औरत के। अगर और कुछ श्रेष्ठता मर्द को औरत पर न होती, तो यह क्या कम बुज़ुर्गी है कि औरत मर्द से पैदा हुई है क्योंकि पैदा होना हव्वा अलैहि० का आदम अलैहि० की बायीं पसली से साबित हो चुका है। फ़रमाया कि अगर मैं किसी को कहता कि किसी को सज्दा करो, तो औरत को हुक्म देता कि वह अपने पति को सज्दा किया करे उसको बगवी ने अपनी सनद से रिवायत किया है यह बात हदीस मआज़ बिन जबल में आई है। यह श्रेष्ठता मर्द की औरत या दुनिया व आख़िरत दोनों जगह में साबित है। अल्लाह तआला ने फ़रमाया : "अर्रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसा-इ बिमा फ़ज़्ज़लल्लाहु बाअज़हुम अला बाअज़िन व-बिमा अनफ़क़ू मिन अमवालिहिम इतलाक़ फ़ज़ीलत मुफ़ीद उमूम है।" (तर्जुमानुल क़ुरआन, 1/299)

और आयत (अर्रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसा-इ) के अन्तर्गत फ़रमाते हैं :

"अर्थात अल्लाह ने मर्द का दर्जा ऊपर बताया तो औरत को उसका हुक्म मानना चाहिए और अगर एक औरत बुरी बात करे, तो मर्द पहले

चरण में समझाए दूसरे चरण में अलग सोए, लेकिन उसी घर में, फिर आख़िरी चरण में मारे भी, लेकिन न ऐसा कि चोट पहुंचे, फिर अगर आज्ञापालक हो जाए तो कुरेद न करे ग़लतियों पर। अल्लाह सब पर हाकिम है। बाक़ी हर ग़लती की एक हद है, मारना आख़िर का दर्जा है।

फ़ायदा : अल्लाह ने इस आयत में यह इरशाद फ़रमाया कि मर्द औरत पर शासक है, अर्थात उसका मालिक व हाकिम है जब औरत टेढ़ी चले, यह उसको समझा दे, इसलिए कि मर्द श्रेष्ठ हैं औरतों से, इसी लिए नुबुवत ख़ास है मर्दों के लिए, बादशाही ख़ास है मर्दों के लिए ''लयं युफ़्लि-ह क़ौमुन...' (बुख़ारी, हदीस अबी बक़रा रज़ि०) इसी तरह जज का पद आदि ख़ास है मर्दों के लिए। इसके अलावा मर्द अपना माल औरत पर ख़र्च करते हैं जैसे मेहर व भरण पोषण आदि। अधिकार जो किताब व सुन्नत में आए हैं इसलिए मर्द हर हाल में औरत से श्रेष्ठ है, वह उस पर निगरां है। इसी सबब से शासक होना मर्द का मुनासिब ठहरा। अल्लाह तआला ने फ़रमाया : ''व-लिर्रिजालि अलैहिन्न द-र-जतुन'' इब्ने अब्बास रज़ि० ने कहा, तात्पर्य ''क़व्वामू-न'' से उमरा हैं। अर्थात औरत को चाहिए कि जिस काम में अल्लाह ने मर्द के आज्ञा पालन का हुक्म उसे दिया है उसमें उसकी आज्ञा पालक रहे। आज्ञा पालन यह है कि घर वालों से भलाई करे। पति की देख रेख करने वाली हो। यही कथन है मुक़ातिल, सुद्दी व ज़ह्हाक का। (तफ़्सीर तर्जुमानुल क़ुरआन : 2/642)

''फ़त्हुलबयान का बयान है कि मर्द मुसल्लत हैं औरतों पर अर्थात जिस तरह शासक व अधिकारी जनता की रक्षा करते हैं उसी तरह मर्द औरत का रक्षक होता है। फिर इसके अलावा घरबार रोटी, कपड़ा देता है क़व्वाम कलिमा है अतिश्योक्ति का। इसमें बयान दलील है इस बात पर कि मर्द असल में इस काम में लगे हैं हर ज़रूरत व तदबीर व घरेलू मामलों के, जिस तरह कि बादशाह जनता के कामों पर क़ायम व व्यस्त होते हैं। यह श्रेष्ठता मर्दों को अल्लाह तआला की तरफ़ से मिली है। नबी

व ख़लीफ़ा व बादशाह व शासक व इमाम सब मर्द ही होते हैं। बुद्धि व दीन व जुमा व जमाअत में औरत से बढ़कर हैं। मर्द चार पत्नियां कर सकता है, औरत एक पति से ज़्यादा नहीं कर सकती, मर्द का हिस्सा मीरास में ज़्यादा है, तलाक़ व वापसी में मर्द के हाथ में है। वंश बाप का होता है न मां का। उनके सिवा और बहुत मामले हैं जिनमें मर्द को औरत पर श्रेष्ठता हासिल है।'' (तफ़्सीर ''तर्जुमानुल क़ुरआन'' 2/644)

अरबी टीका ''फ़त्हुलबयान'' में व्याख्या

अरबी टीका में इस मसले में उनका स्पष्टीकरण निम्न है :

﴿وَلِلرِّجَالِ عَلَيْهِنَّ دَرَجَةٌ﴾ أَيْ مَنْزِلَةٌ لَيْسَتْ لَهُنَّ وَهِيَ قِيَامُهُ عَلَيْهَا فِي الإِنْفَاقِ وَكَوْنُهُ مِنْ أَهْلِ الْجِهَادِ وَالْعَقْلِ وَالْقُوَّةِ، وَلَهُ مِنَ الْمِيرَاثِ أَكْثَرُ مِمَّا لَهَا، وَكَوْنُهُ يَجِبُ عَلَيْهَا امْتِثَالُ أَمْرِهِ وَالْوُقُوفُ عِنْدَ رِضَاهِ وَالشَّهَادَةُ وَالدِّيَةُ وَصَلاَحِيَّةُ الإِمَامَةِ وَالْقَضَاءِ، وَلَهُ أَنْ يَتَزَوَّجَ عَلَيْهَا وَيَتَسَرَّى، وَلَيْسَ لَهَا ذٰلِكَ، وَبِيَدِهِ الطَّلاَقُ وَالرَّجْعَةُ وَلَيْسَ شَيْءٌ مِنْ ذٰلِكَ بِيَدِهَا، وَلَوْ لَمْ يَكُنْ مِنْ فَضِيلَةِ الرِّجَالِ عَلَى النِّسَاءِ إِلاَّ كَوْنُهُنَّ خُلِقْنَ مِنَ الرِّجَالِ لِمَا ثَبَتَ أَنَّ حَوَّاءَ خُلِقَتْ مِنْ ضِلْعِ آدَمَ لَكَفَى، وَقَدْ أَخْرَجَ أَهْلُ السُّنَنِ عَنْ عَمْرِو بْنِ الأَحْوَصِ أَنَّ رَسُولَ اللهِ ﷺ قَالَ: أَلاَ إِنَّ لَكُمْ عَلَى نِسَائِكُمْ حَقًّا، وَلِنِسَائِكُمْ عَلَيْكُمْ حَقًّا، فَأَمَّا حَقُّكُمْ عَلَى نِسَائِكُمْ فَلاَ يُوطِئْنَ فُرُشَكُمْ مَنْ تَكْرَهُونَ، وَلاَ يَأْذَنَّ فِي بُيُوتِكُمْ لِمَنْ تَكْرَهُونَ أَلاَ وَحَقُّهُنَّ عَلَيْكُمْ أَنْ تُحْسِنُوا إِلَيْهِنَّ فِي كِسْوَتِهِنَّ وَطَعَامِهِنَّ، وَصَحَّحَهُ التِّرْمِذِيُّ وَأَصْلُهُ عِنْدَ مُسْلِمٍ فِي الصَّحِيحِ وَأَخْرَجَ أَحْمَدُ وَأَبُودَاوُدَ وَالنَّسَائِيُّ وَابْنُ مَاجَةَ وَابْنُ جَرِيرٍ وَالْحَاكِمُ وَصَحَّحَهُ وَالْبَيْهَقِيُّ عَنْ مُعَاوِيَةَ بْنِ حَيْدَةَ الْقُشَيْرِيِّ: أَنَّهُ سَأَلَ النَّبِيَّ ﷺ مَا حَقُّ الْمَرْأَةِ عَلَى الزَّوْجِ قَالَ أَنْ تُطْعِمَهَا إِذَا

طَعِمْتَ، وَتَكْسُوهَا إِذَا اكْتَسَيْتَ وَلاَ تَضْرِبِ الْوَجْهَ وَلاَ تَهْجُرْ إِلاَّ فِي الْبَيْتِ، وَعَنِ ابْنِ أَبِي ظَبْيَانَ أَنَّ مُعَاذَ بْنَ جَبَلٍ خَرَجَ فِي غَزَاةٍ بَعَثَهُ رَسُولُ اللهِ ﷺ فِيهَا ثُمَّ رَجَعَ فَرَأَى رِجَالاً يَسْجُدُ بَعْضُهُمْ لِبَعْضٍ، فَذَكَرَ ذٰلِكَ لِرَسُولِ اللهِ ﷺ فَقَالَ: لَوْ أَمَرْتُ أَحَدًا أَنْ يَسْجُدَ لأَحَدٍ لأَمَرْتُ الْمَرْأَةَ أَنْ تَسْجُدَ لِزَوْجِهَا، رَوَاهُ الْبَغَوِيُّ بِسَنَدِهِ«(فتح البيان: ١/ ٣٢٢، ٣٢٣)

और आयत "अर्रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसा-इ" के अन्तर्गत फ़रमाते हैं :

﴿الرِّجَالُ قَوَّامُونَ﴾ مُسَلَّطُونَ ﴿عَلَى النِّسَاءِ﴾ كَلاَمٌ مُسْتَأْنِفٌ سِيقَ لِبَيَانِ سَبَبِ اسْتِحْقَاقِ الرِّجَالِ الزِّيَادَةَ فِي الْمِيرَاثِ تَفْصِيلاً إِثْرَ بَيَانِ تَفَاوُتِ اسْتِحْقَاقِهِمْ إِجْمَالاً، وَعَلَّلَ ذٰلِكَ بِأَمْرَيْنِ، أَوَّلُهُمَا: وَهْبِيٌّ، وَالثَّانِي: كَسْبِيٌّ، وَالْمَعْنَى أَنَّهُمْ يَقُومُونَ بِالذَّبِّ عَنْهُنَّ كَمَا يَقُومُ الْحُكَّامُ وَالأُمَرَاءُ بِالذَّبِّ عَنِ الرَّعِيَّةِ، وَهُمْ أَيْضًا يَقُومُونَ بِمَا يَحْتَجْنَ إِلَيْهِ مِنَ النَّفَقَةِ وَالْكِسْوَةِ وَالْمَسْكَنِ، وَجَاءَ بِصِيغَةِ الْمُبَالَغَةِ لِتَدُلَّ عَلَى إِصَالَتِهِمْ فِي هٰذَا الأَمْرِ وَهُوَ جَمْعُ قَوَّامٍ وَهُوَ الْقَائِمُ بِالْمَصَالِحِ وَالتَّدْبِيرِ وَالتَّأْدِيبِ، يُشِيرُ بِهِ إِلَى أَنَّ الْمُرَادَ قِيَامُ الْوُلاَةِ عَلَى الرَّعَايَا قَالَ ابْنُ عَبَّاسٍ: أُمَرُوا عَلَيْهِنَّ فَعَلَى الْمَرْأَةِ أَنْ تُطِيعَ زَوْجَهَا فِي طَاعَةِ اللهِ، ﴿بِمَا﴾ اَلْبَاءُ، سَبَبِيَّةٌ، وَ(مَا) مَصْدَرِيَّةٌ ﴿فَضَّلَ اللهُ﴾ وَالضَّمِيرُ فِي قَوْلِهِ ﴿بَعْضَهُمْ عَلَى بَعْضٍ﴾ لِلرِّجَالِ وَالنِّسَاءِ أَيْ إِنَّمَا اسْتَحَقُّوا هٰذِهِ الْمَزِيَّةَ لِتَفْضِيلِ اللهِ إِيَّاهُمْ عَلَيْهِنَّ بِمَا فَضَّلَهُمْ بِهِ مِنْ كَوْنِ فِيهِمُ الأَنْبِيَاءُ وَالْخُلَفَاءُ وَالسَّلاَطِينُ وَالْحُكَّامُ وَالأَئِمَّةُ وَالْغُزَاةُ، وَزِيَادَةُ الْعَقْلِ وَالدِّينِ وَالشَّهَادَةِ وَالْجُمُعَةِ وَالْجَمَاعَاتِ، وَأَنَّ الرَّجُلَ يَتَزَوَّجُ بِأَرْبَعِ نِسْوَةٍ وَلاَ يَجُوزُ لِلْمَرْأَةِ غَيْرَ زَوْجٍ وَاحِدٍ، وَزِيَادَةُ النَّصِيبِ وَالتَّعْصِيبِ

فِي الْمِيرَاثِ وَبِيَدِهِ الطَّلَاقُ وَالنِّكَاحُ وَالرَّجْعَةُ وَإِلَيْهِ الْانْتِسَابُ، وَغَيْرِ ذٰلِكَ مِنَ الْأُمُورِ فَكُلُّ هٰذَا يَدُلُّ عَلَىٰ فَضْلِ الرِّجَالِ عَلَى النِّسَاءِ (فتح البيان: ٢/ ٦٧)

अरबी टीका की उल्लिखित दोनों इबारतों का वही मतलब है जो उन्होंने उर्दू टीका में बयान किया है और पहले नक़्ल किया जा चुका है। इसलिए उन अरबी इबारात के अनुवाद की ज़रूरत महसूस नहीं की गई।

मतलब यह कि नवाब सिद्दीक़ हसन ख़ान के इस स्पष्टीकरण के बाद इस बात में कोई सन्देह बाक़ी नहीं रह जाता है कि नवाब साहब रह० के निकट भी औरत इमामत और शासक के योग्य नहीं है, इस मामले में भी मर्द को कुछ अन्य प्रमुख गुणों के साथ औरत पर एक तरह की श्रेष्ठता हासिल है।

इस्लामी शासन में महिला का शासक होना, किसी तौर पर जाइज़ नहीं

शैख़ अब्दुल अज़ीज़ बिन बाज़ रह०

सवाल : अगर कोई महिला देश की प्रधानमंत्री, मंत्रीपद या किसी और बड़े पद के लिए स्वयं को पेश करे तो इस्लामी शरीअत अलहनीफ़ की इस सिलसिले में क्या राय है। कृपया जवाब देकर सन्तुष्ट करें?

जवाब : किसी महिला का देश का प्रधानमंत्री बनना या बनाया जाना या किसी और बड़े पद पर नियुक्ति, इस्लाम में जाइज़ नहीं है। इस सिलसिले में क़ुरआन हकीम, सुन्नते नबी करीम सल्ल० और इज्माअ के स्पष्टीकरण के साथ मौजूद हैं।

क़ुरआन हकीम में अल्लाह तआला का आदेश है : (अर्रिजालु क़व्वामू-न अलन्निसा-इ बिमा फ़ज़्ज़लल्लाहु बाअज़हुम अला बाअज़िन) इस आयत में हुक्म आम है। मर्द को अल्लाह तआला ने निगरां बनाया है। ख़ानदान में भी, रियासत में भी, इस आयते करीमा से साफ़ स्पष्ट है कि मर्द को अल्लाह तआला ने औरत पर श्रेष्ठता प्रदान की है। इसमें अक़्ल की, राय की और हर तरह की श्रेष्ठता शामिल है...

और हदीस नबवी सल्ल० से हमें बुख़ारी शरीफ़ की यह हदीस मिलती है कि "वह क़ौम तबाह व बर्बाद हुई जिसने औरत को अपना शासक बनाया।" इस हदीस के बाद इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि किसी महिला को शासक बनाना या इसकी निगरानी में राज्य की बागडोर दे देना रसूले करीम सल्ल० के आदेशों का कितना बड़ा उल्लंघन और साहस की बात है। इस हदीस के उल्लंघन में कई ऐसी हदीसों का स्क्रिप्ट भी शामिल हो जाता है जिनमें बताया गया है कि जानते बूझते सुन्नते रसूल को झुठलाना कुफ़्र की हदों तक पहुंचता है और सूरते हाल

से अवगत होने के बाद किसी मुसलमान के लिए जाइज़ नहीं कि वह रसूल के आदेशों का उल्लंघन करे।

इज्माअ (सहमति) के सिलसिले में यह अर्ज़ करना है कि चारों ख़लीफ़ों रज़ि० और उनके बाद की तीन सदियों तक उलमा का अमल यह रहा कि किसी महिला को मंत्रीपद या जज के पद पर नियुक्त नहीं किया गया। उस दौर की औरतों में प्रायः ऐसी थीं जिन्होंने किताब व सुन्नत की रौशनी में स्वयं इस बात का स्पष्टीकरण किया कि औरतों के लिए यह उचित नहीं हैं...

इसके अलावा भी शरअी आदेश स्पष्ट हैं। शासक का अधिकांश समय अन्य मर्दों और सरकारी अफ़सरों से बातचीत, दौरों, देख भाल करने, जनता के नेतृत्व व जन सभाओं में शिरकत और उनकी रहबरी व मार्गदर्शन और भाषण आदि में गुज़रता है। उन्हें अन्य देशों के दौरे भी करने होते हैं। विभिन्न देशों से पैक्ट (Pact) होते हैं और दूसरे देशों के मुखिया व मंत्रीगण और दूतों से भेंट करना दावतें, मतलब यह कि बहुत से काम हैं जिनमें प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति या देश के महत्वपूर्ण पदों पर बैठे लोगों को दिन रात व्यस्त रहना होता है, इसलिए दीनी, बौद्धिक और ज्ञानात्मक किसी तरह उचित नहीं कि किसी महिला या औरतों को ऐसे पद दिए जाएं जो उनके लिए उचित नहीं हैं।

फिर अल्लाह तआला की प्रदान की हुई अक़्ल की रौशनी में भी यह बात बिल्कुल साफ़ है कि औरत के मुक़ाबले में मर्द की अक़्ल व समझ, हिक्मत तदबीर और अन्य सारे शारीरिक अंग ज़्यादा बेहतर हैं। अतः देश के उल्लिखि उपरोक्त पदों के लिए मर्द ही ज़्यादा मुनासिब हैं और अल्लाह तआला से दुआ है कि वह हमें दीने हनीफ़ और सुन्नते रसूल सल्ल० का अनुसरण करने का सौभाग्य प्रदान फ़रमाए। (अरबी मुजल्ला, "अलमुज्तमा" कुवैत से तल्ख़ीस व तर्जुमा, बशुक्रिया साप्ताहिक "तकबीर" कराची)

औरत का शासन न होने पर उम्मत का इज्माअ (सहमति) है

मौलाना मुफ़्ती मुहम्मद रबीअ उसमानी

क़ुरआन व सुन्नत के तर्कों की वजह से चौदह सदियों के हर दौर में उम्मते मुस्लिमा की इस बात पर सहमति रही है कि इस्लाम में हुकूमत के शासक की ज़िम्मेदारी किसी औरत को नहीं सौंपी जा सकती और उम्मत का इज्माअ (सहमति) शरीअत की एक स्थाई दलील है।

इज्माअ (सहमति) के सुबूत के लिए इब्ने हज़म रह० की यह तहरीर बड़ी स्पष्ट है जिसमें वह फ़रमाते हैं :

"इस बात पर तमाम उलमा सहमत हैं कि हुकूमत के शासक का पद किसी औरत के लिए जाइज़ नहीं।"

शैख़ुल इस्लाम अल्लामा इब्ने तैमिया रह० जैसे प्रख्यात आलिम ने "नक़्द मरातिबुल इज्माअ" के नाम से अल्लामा इब्ने हज़म रह० की किताब पर एक आलोचना लिखी है और कुछ उन मसाइल का ज़िक्र फ़रमाया जिन्हें अल्लामा इब्ने हज़म रह० ने सर्व सम्मति क़रार दिया है लेकिन अल्लामा तैमिया रह० की तहक़ीक़ के मुताबिक़ वे सर्व सम्मति नहीं हैं, बल्कि उनमें किसी न किसी का मतभेद मौजूद है। इस किताब में भी उन्होंने औरत के शासक होने के मसले में अल्लामा इब्ने हज़म रह० पर कोई आपत्ति नहीं की। (देखिए नक़्द मरातिबुल इज्माअ, पृ० : 126)

उन लोगों के अलावा जिन उलमा व फ़ुक़्हा और इस्लामी राज्य के माहिरीन ने इस्लाम के राजनीतिक निज़ाम पर किताबें लिखी हैं, उनमें से हर एक ने इस मसले को एक सर्वसम्मति मसले के तौर पर ज़िक्र किया है।

अल्लामा मावरदी रह० की किताब इस्लामी राजनीति का महत्वपूर्ण स्रोत समझी जाती है। इसमें उन्होंने हुकूमत का शासक होना तो अलग, औरत को मंत्रीपद की ज़िम्मेदारी सौंपना भी नाजाइज़ क़रार दिया है, बल्कि उन्होंने मंत्रीपद की दो क़िस्में की हैं। एक नीति एवं कार्यक्रम मंत्रालय, जिसमें नीतियों का निर्धारण भी मंत्री का काम होता है और दूसरी विज़ारते तन्फ़ीज़, जो नीतियों का निर्धारण नहीं करती, बल्कि निश्चित नीतियों को लागू करती है। उन्होंने बताया कि विज़ारते तन्फ़ीज़ में योग्यता की शर्त विज़ारत तफ़्वीज़ के मुक़ाबले में कम हैं। इसके बावजूद वह औरत को विज़ारते तन्फ़ीज़ की ज़िम्मेदारी सौंपना भी जाइज़ क़रार नहीं देते, वह लिखते हैं :

«وَأَمَّا وِزَارَةُ التَّنْفِيذِ فَحُكْمُهَا أَضْعَفُ وَشُرُوطُهَا أَقَلُّ ... وَلَا يَجُوزُ أَنْ تَقُومَ بِذٰلِكَ امْرَأَةٌ وَأَنَّ خَبَرَهَا مَقْبُولٌ لِمَا تَضَمَّنَهُ مَعْنَى الْوِلَايَاتِ الْمَصْرُوفَةِ عَنِ النِّسَاءِ لِقَوْلِ النَّبِيِّ ﷺ مَا أَفْلَحَ قَوْمٌ أَسْنَدُوا أَمْرَهُمْ إِلَى امْرَأَةٍ وَلِأَنَّ فِيهَا مِنْ طَلَبِ الرَّأْيِ وَثَبَاتِ الْعَزْمِ مَا تَضْعُفُ عَنْهُ النِّسَاءُ وَمِنَ الظُّهُورِ فِي مُبَاشَرَةِ الْأُمُورِ مَا هُوَ عَلَيْهِنَّ مَحْظُورٌ» (الاحكام السلطانية، ص:٢٥-٢٧)

"जहां तक विज़ारत तन्फ़ीज़ का संबंध है वह थोड़ा कमज़ोर है और उसकी शर्तें कम हैं...लेकिन यह जाइज़ नहीं है कि कोई औरत उसकी ज़िम्मेदार बने, यद्यपि औरत की ख़बर मक़बूल है, क्योंकि यह विज़ारत ऐसी विलायतों पर आधारित है जिनको (शरीअत ने) औरतों से अलग रखा है। हुज़ूर सल्ल० का इरशाद है : "जो क़ौम अपने मामलात किसी औरत के हवाले करे वह सफ़लता नहीं पाएगी।" और इसलिए भी कि उस विज़ारत के लिए जो बेहतरीन राय और दृढ़ संकल्प की ज़रूरत है, औरतों में उसके प्रति कमज़ोरी पाई जाती है। और विज़ारत

के काम अंजाम देने के लिए ऐसे अंदाज़ से लोगों के सामने आना पड़ता है जो औरतों के लिए शरअन वर्जित है।"

इस्लाम की राजनीतिक व्यवस्था पर दूसरे महत्वपूर्ण स्रोत इमाम अबू यअला हंबली रह० हैं। उन्होंने भी अपनी किताब में शब्दशः यही इबारत लिखी है।

इमामुल हरमैन अल्लामा जुवैनी रह० ने इस्लाम की राजनीतिक व्यवस्था पर बड़े ऊंचे दर्जे की किताबें लिखी हैं। वह निज़ामुल मुल्क तूसी जैसे प्रसिद्ध शासक के ज़माने में थे और उन्हीं की प्रार्थना पर उन्होंने इस्लाम के राजनीतिक आदेशों पर अपनी मुज्तहिदाना किताब "ग़यासुल उमम" तहरीर फ़रमाई है इसमें वह हुकूमत के शासक की शर्तें बयान करते हुए लिखते हैं।

«وَمِنَ الصِّفَاتِ اللَّازِمَةِ الْمُعْتَبَرَةِ، الذُّكُورُ وَالْحُرِّيَّةُ وَالْعَقْلُ وَالْبُلُوغُ وَلَا حَاجَةَ إِلَى الإِطْنَابِ فِي نَصْبِ الدَّلَالَاتِ عَلَى إِثْبَاتِ هٰذِهِ الصِّفَاتِ» (غياث الامم للجويني، ص: ٨٢ مطبوعه قطر)

"और जो अनिवार्य गुण शासक के लिए शरअन विश्वसनीय हैं उनमें से उसका मर्द होना, आज़ाद होना और बुद्धिमान व व्यस्क होना भी है और उन शर्तों को साबित करने के लिए विस्तृत तर्क पेश करके बढ़ा देने की ज़रूरत नहीं।"

यही इमामुल हरमैन रह० अपनी एक दूसरी किताब "इरशाद" में लिखते हैं :

«وَأَجْمَعُوا أَنَّ الْمَرْأَةَ لَا يَجُوزُ أَنْ تَكُونَ إِمَامًا وَإِنِ اخْتَلَفُوا فِي جَوَازِ كَوْنِهَا قَاضِيَةً فِيمَا يَجُوزُ شَهَادَتُهَا فِيهِ» (الارشاد في اصول الاعتقاد للجويني، ص: ٣٧٩ و ٤٢٧، طبع مصر)

"और इस पर सबकी सहमति है कि औरत के लिए हुकूमत का

Scanned by CamScanner

ज़िम्मेदार बनना जाइज़ नहीं, यद्यपि उसमें मतभेद है कि जिन कामों में उसकी गवाही जाइज़ है उनमें वह जज बन सकती है या नहीं।"

अल्लामा क़लक़शन्दी रह० साहित्य व लेखन कार्य और इतिहास व राजनीतिक के इमाम समझे जाते हैं उन्होंने इस्लाम के राजनीति के उसूलों पर जो किताब लिखी है उसमें उन्होंने हुकूमत के शासक की चौदह विशेषताएं बयान की हैं, उन शर्तों के आरंभ ही में वह फ़रमाते हैं :

«الأَوَّلُ الذُّكُورَةُ . . . وَالْمَعْنَى فِي ذٰلِكَ أَنَّ الإِمَامَ لاَ يَسْتَغْنِي عَنِ الاخْتِلاَطِ بِالرِّجَالِ وَالْمُشَاوَرَةِ مَعَهُمْ فِي الأُمُورِ، وَالْمَرْأَةُ مَمْنُوعَةٌ مِنْ ذٰلِكَ، وَلأَنَّ الْمَرْأَةَ نَاقِصَةٌ فِي أَمْرِ نَفْسِهَا، حَتَّى لاَ تَمْلِكُ النِّكَاحَ فَلاَ تُجْعَلُ إِلَيْهَا الْوِلاَيَةُ عَلَى غَيْرِهَا»

"पहली शर्त मर्द होना है...और इस हुक्म की हिक्मत यह है कि शासक को मर्दों के साथ मिलने जुलने और उनके साथ मशवरों आदि की ज़रूरत पेश आती है और औरत के लिए ये बातें मना हैं, इसके अलावा औरत अपनी ज़ात की विलायत में भी कमज़ोर है, यहां तक कि वह निकाह की वली नहीं बन सकती, अतः उसको दूसरों पर भी विलायत नहीं दी जा सकती।"

इमाम बग़वी रह० पांचवीं सदी हिजरी के प्रसिद्ध टीकाकार, मुहद्दिस और फ़क़ीह हैं, वह लिखते हैं :

«اتَّفَقُوا عَلَى أَنَّ الْمَرْأَةَ لاَ تَصْلُحُ أَنْ تَكُونَ إِمَامًا . . . لأَنَّ الإِمَامَ يَحْتَاجُ إِلَى الْخُرُوجِ لإِقَامَةِ أَمْرِ الْجِهَادِ، وَالْقِيَامِ بِأُمُورِ الْمُسْلِمِينَ . . . وَالْمَرْأَةُ عَوْرَةٌ لاَ تَصْلُحُ لِلْبُرُوزِ» (شرح السنة، الامارة والقضاء، باب كراهية تولية النساء: بعد حديث: ٢٤٨٦)

"इस बात पर उम्मत की सहमति है कि औरत शासक नहीं बन

सकती...क्योंकि इमाम को जिहाद के मामलात अंजाम देने और मुसलमानों के मसले निमटाने के लिए बाहर निकलने की ज़रूरत पड़ती है...और औरत छुपी रहनी चाहिए। उसका आम सभा में आना सही नहीं।"

क़ाज़ी अबूबक्र इब्ने अरबी रह० हज़रत अबू बकरा रज़ि० की हदीस का ज़िक्र करते हुए फ़रमाते हैं :

«وَهٰذَا نَصٌّ فِي أَنَّ الْمَرْأَةَ لاَ تَكُونُ خَلِيفَةً وَلاَ خِلاَفَ فِيهِ» (احكام القرآن لابن العربي: ٣/٤٤٥ سورة النمل)

"और यह हदीस इस बात पर नस है कि औरत ख़लीफ़ा नहीं हो सकती और उसमें कोई मतभेद नहीं।"

अल्लामा क़ुरतबी रह० ने भी अपनी टीका में इब्ने अरबी रह० का यह वाक्य नक़ल करके उसकी हिमायत की है और बताया है कि इस मसले में उलमा के बीच कोई मतभेद नहीं[1] और इमाम ग़ज़ाली रह० फ़रमाते हैं :

«الرابع: الذُّكُورِيَّةُ فَلاَ تَنْعَقِدُ الإِمَامَةُ لاِمْرَأَةٍ وَإِنِ اتَّصَفَتْ بِجَمِيعِ خِلاَلِ الْكَمَالِ وَصِفَاتِ الاِسْتِقْلاَلِ» (فضائح الباطنية للغزالي، ص: ١٨٠ ماخوذ از عبدالله الدميجي، الامامة العظمى، ص: ٢٤٥)

"शासक होने की चौथी शर्त मर्द होना है, अतः किसी औरत की इमामत जायज़ नहीं होती, चाहे वह तमाम गुणों वाली हो और उसमें दृढ़ता की तमाम विशेषताएं पाई जाती हों।"

अक़ाइद व कलाम की लगभग सभी किताबें इमामत व सियासत के आदेश से बहस करती हैं और सबने मर्द होने की शर्त को एक सहमति के तौर पर ज़िक्र किया है। अल्लामा तफ़्ताज़ानी रह० लिखते हैं :

1. तफ़्सीर क़ुरतबी : 13/183, सूरह नम्ल।

«يُشْتَرَطُ فِي الإِمَامِ أَنْ يَكُونَ مُكَلَّفًا، حُرًّا، ذَكَرًا، عَدْلاً» (شرح المقاصد: ۲/ ۲۷۷)

"सरबराह हुकूमत के लिए शर्त यह है कि वह बुद्धिमान व्यस्क हो, आज़ाद हो, मर्द हो और न्यायी हो।"

फ़ुक़्हा व मुहद्दिसीन और इस्लामी राजनीति के उलमा के ये कुछ वाक्य व विचार मात्र मिसाल के तौर पर पेश कर दिए गए हैं, वर्ना जिस किताब में भी इस्लाम में शासक की शर्तें बयान की गई हैं, वहां मर्द होने को एक अहम शर्त के तौर पर ज़िक्र किया गया है। अगर किसी ने यह शर्त ज़िक्र नहीं की, तो इस बिना पर कि यह बुद्धिमान व व्यस्क होने की शर्त की तरह इतनी मशहूर व प्रख्यात शर्त थी कि इसे बाक़ायदा ज़िक्र करने की ज़रूरत नहीं समझी गई वर्ना इस मसले में कोई मतभेद नहीं है।

वर्त्तमान दौर के कुछ शोधकर्ता जिन्होंने इस्लामी राजनीति के विषय पर किताबें लिखी हैं, वे इस बात पर सहमत हैं कि औरत के शासक बनने के सही न होने पर उम्मत की सहमति है कुछ वाक्य हम यहां पेश करते हैं। डाक्टर मुहम्मद मुनीर अजलानी लिखते हैं :

«لاَ نَعْرِفُ بَيْنَ الْمُسْلِمِينَ مَنْ أَجَازَ خِلاَفَةَ الْمَرْأَةِ، فَالإِجْمَاعُ فِي هٰذِهِ الْقَضِيَّةِ - تَامٌّ لَمْ يَشُذَّ عَنْهُ أَحَدٌ» (عبقرية الاسلام في اصول الحكم، ص: ۷۰، مطبوعة دارالنفائس، بيروت ۱٤۰۵هـ)

"हमें मुसलमानों में कोई ऐसा विद्वान मालूम नहीं है जिसने औरत की ख़िलाफ़त को जाइज़ कहा हो, अतः इस मसले में पूर्ण सहमति है जिसके ख़िलाफ़ कोई साधारण सा कथन भी मौजूद नहीं।"

डाक्टर मुहम्मद ज़ियाउद्दीन रईस ने इस्लाम के राजनीतिक आदेशों पर बड़ी तहक़ीक़ के साथ जामेअ किताब लिखी हैं इसमें लिखते हैं :

«إذَا كَانَ قَدْ وَقَعَ بَيْنَهُمْ خِلَافٌ فِيمَا يَتَعَلَّقُ بِالْقَضَاءِ، فَلَمْ يُرْوَ عَنْهُمْ خِلَافٌ فِيمَا يَتَعَلَّقُ بِالإِمَامَةِ، بَلِ الْكُلُّ مُتَّفِقٌ عَلَى أَنَّهُ لَا يَجُوزُ أَنْ تَلِيَهَا امْرَأَةٌ» (النظريات السياسة الاسلامية، ص: ٢٩٤، طبع قاهرة)

"यद्यपि फ़ुक़हा के बीच न्यायपालिक के बारे में तो मतभेद हुआ है (कि औरत जज बन सकती है या नहीं) लेकिन हुकूमत के शासक होने के बारे में कोई मतभेद नहीं, बल्कि सब इस बात पर सहमत हैं कि किसी औरत का शासक के पद पर होना जाइज़ नहीं।"

डाक्टर इबराहीम यूसुफ़ मुस्तफ़ा अजू लिखते हैं :

«مِمَّا اجْمَعَتْ عَلَيْهِ الأُمَّةُ عَلَى أَنَّ الْمَرْأَةَ لَا يَجُوزُ لَهَا أَنْ تَلِيَ رِيَاسَةَ الدَّوْلَةِ» (تعليق تهذيب الرياسة وترتيب السياسة للقلعي، ص: ٨٢)

"इस बात पर उम्मत की सहमति है कि औरत के लिए राज्य का शासन संभालना जाइज़ नहीं।"

अब्दुल्लाह बिन उमर बिन सुलैमान अददमेजी लिखते हैं :

«مِنْ شُرُوطِ الإِمَامِ أَنْ يَكُونَ ذَكَرًا، وَلَا خِلَافَ فِي ذٰلِكَ بَيْنَ الْعُلَمَاءِ» (الامامة العظمى عند أهل السنة، ص: ٢٤٣)

"हुकूमत के शासक होने की शर्तों में यह बात दाख़िल है कि वह मर्द हो और उसमें उलमा के बीच कोई मतभेद नहीं।"

वर्तमान दौर के प्रसिद्ध टीकाकार अल्लामा मुहम्मद अमीन शन्क़ीती रह० लिखते हैं :

«مِنْ شُرُوطِ الإِمَامِ الأَعْظَمِ كَوْنُهُ ذَكَرًا، وَلَا خِلَافَ فِي ذٰلِكَ بَيْنَ الْعُلَمَاءِ» (اضواء البيان في تفسير القرآن بالقرآن: ١/٢٦)

"इमाम आज़म (शासक) की शर्तों में उसका मर्द होना भी दाख़िल है और उसमें उलमा के बीच कोई मतभेद नहीं है।"

अगर इस विषय पर इस्लामी इतिहास के इमामों, टीकाकारों, धर्म शास्त्रियों, मुहद्दिसीन, मुतकल्लिमीन और बुद्धिजीवियों की तमाम इबारतें जमा की जाएं, तो निश्चय ही उनसे एक भारी भरकम किताब तैयार हो सकती है, लेकिन ये कुछ मिसालें यह बात साबित करने के लिए काफ़ी हैं कि इस मसले पर उलमा के बीच अब तक चौदह सदियों में कोई मतभेद नहीं रहा।

हाफ़िज़ इब्ने जरीर तबरी रह० का मसलक

हमारे ज़माने में कुछ लोगों ने मशहूर टीकाकार हाफ़िज़ इब्ने जरीर तबरी रह० की तरफ़ ग़लत तौर पर यह बात मंसूब की है कि वह औरत के शासक होने के क़ायल हैं, लेकिन कोई भी व्यक्ति इमाम इब्ने जरीर रह० का कोई अपना वाक्य पेश नहीं करता। उनकी किताबों में से टीका ''जामेउल बयान'' तीस भागों में छपी हुई मौजूद है। इसमें से कहीं कोई एक वाक्य भी कोई अब तक नहीं दिखा सका जिससे उनकी यह राय मालूम होती हो। स्वयं हमने भी उनकी टीका के संभावित स्थानों पर देखा, लेकिन उसमें कहीं कोई ऐसी बात नहीं मिली।

इसके अलावा उनकी एक किताब ''तहज़ीबुल आसार'' के भी कुछ भाग प्रकाशित हो चुके हैं, उसमें भी कोई ऐसी बात नहीं मिली।

सच यह है कि कुछ उलमा ने उनका यह मसलक नक़ल किया है कि वह औरत को जज बनाने के जवाज़ के क़ायल हैं। कुछ लोगों ने इस बात को ग़लत तौर पर शासक होने के जवाज़ के शीर्षक से नक़ल कर दिया है। अतः क़ाज़ी अबूबक्र इबने अरबी रह० लिखते हैं :

«وَهٰذَا نَصٌّ فِي أَنَّ الْمَرْأَةَ لَا تَكُونُ خَلِيفَةً وَلَا خِلَافَ فِيهِ، وَنُقِلَ عَنْ مُحَمَّدِ بْنِ جَرِيرٍ الطَّبَرِيِّ إِمَامِ الدِّينِ، أَنَّهُ يَجُوزُ أَنْ تَكُونَ الْمَرْأَةُ قَاضِيَةً وَلَمْ يَصِحَّ ذٰلِكَ عَنْهُ، وَلَعَلَّهُ كَمَا نُقِلَ عَنْ

أَبِي حَنِيفَةَ أَنَّهَا إِنَّمَا تَقْضِي فِيمَا تَشْهَدُ فِيهِ، وَلَيْسَ بِأَنْ تَكُونَ قَاضِيَةً عَلَى الإِطْلَاقِ، وَلَا بِأَنْ يُكْتَبَ لَهَا مَنْشُورٌ، بِأَنَّ فُلَانَةَ مُقَدَّمَةٌ عَلَى الْحُكْمِ إِلَّا فِي الدِّمَاءِ وَالنِّكَاحِ، فَإِنَّمَا ذَٰلِكَ كَسَبِيلِ التَّحْكِيمِ أَوِ الاسْتِنَابَةِ فِي الْقَضِيَّةِ الْوَاحِدَةِ» (احكام القرآن لابن العربي: ٣/١٤٤٥)

"और यह हज़रत अबू बकरा रज़ि० की हदीस इस बात पर नस है कि औरत ख़लीफ़ा नहीं हो सकती और इस मसले में कोई मतभेद नहीं, अलबत्ता इमाम मुहम्मद बिन जरीर तबरी रह० से मंक़ूल है कि उनके निकट औरत का जज होना जाइज़ है, लेकिन इस मज़हब की निस्बत उनकी तरफ़ सही नहीं है। ऐसा मालूम होता है कि उनका मज़हब ऐसा ही होगा जैसे इमाम अबू हनीफ़ा रह० से मंक़ूल है कि औरत उन मामलात में फ़ैसला कर सकती है, जिसमें वह गवाही दे सकती है और उसका मतलब यह नहीं कि वह पूरी तरह जज बन जाए। और न यह मतलब है कि उसको जज के पद पर नियुक्त करने का परवाना दिया जाए और यह कहा जाए कि फ़लां औरत को क़िसास और निकाह के मामलात के सिवा दूसरे मामलों में जज बनाया जा रहा है, बल्कि उसका मतलब यह है कि उसको किसी मसले में मध्यस्थ बना लिया जाए या कोई एक मुक़दमा आंशिक तौर पर उसके हवाले कर दिया जाए।"

इमाम इब्ने अरबी के इस स्पष्टीकरण से निम्नलिखित बातें सामने आती हैं :

1. शासक होने का मसला अलग है और जज बनने का मसला अलग।
2. शासक के मसले में इमाम इब्ने जरीर रह० समेत तमाम उलमा की सहमति है कि औरत शासक नहीं बन सकती।
3. इमाम इब्ने जरीर तबरी रह० से जज बनने का जवाज़ मंक़ूल है लेकिन उनकी तरफ़ इस कथन की निस्बत भी सही नहीं।

4. इमाम अबू हनीफ़ा या इब्ने जरीर रह० से औरत के मुक़दमों का फ़ैसला करने का जवाज़ मंक़ूल है, वह उसको बाक़ायदा जज बनाने से संबंधित नहीं है, बल्कि आंशिक तौर पर मध्यस्थ या कोई व्यक्गित विवाद निमटाने से संबंधित है।

अगर फ़ुक़्हा के बीच कोई थोड़ा बहुत मतभेद है तो वह औरत के जज बनने के बारे में है। शासक बनने के बारे में कोई मतभेद नहीं, अतः इमामुल हरमैन जुवैनी रह० लिखते हैं :

«وَالذُّكُورَةُ لاَ شَكَّ فِي اعْتِبَارِهَا وَمَنْ جَوَّزَ مِنَ الْعُلَمَاءِ تَوَلِّى الْمَرْأَةِ لِلْقَضَاءِ فِيمَا يَجُوزُ أَنْ تَكُونَ شَاهِدَةً فِيهِ أَحَالَ انْتِصَابَ الْمَرْأَةِ لِلإِمَامَةِ، فَإِنَّ الْقَضَاءَ قَدْ يَثْبُتُ مُخْتَصًّا، وَالإِمَامَةُ يَسْتَحِيلُ فِي وَضْعِ الشَّرْعِ ثُبُوتُهَا عَلَى الاخْتِصَاصِ» (غياث الامم للجويني، ص: ٨٢ـ٨٣)

"शासक होने के लिए मर्द होने की शर्त में कोई सन्देह नहीं है और जिन उलमा ने उन मामलों में औरत के जज बनने को जाइज़ कहा है कि जिनमें औरत गवाह बन सकती है, वह भी शासक के लिए औरत की नियुक्ति को असंभव क़रार देते हैं, इसलिए कि न्यायपालिका के बारे में तो यह संभव है कि उसकी सज़ा देने के अधिकारों को कुछ मामलों के साथ ख़ास कर दिया जाए, लेकिन हुकूमत के शासक होने को शरअी उसूल के अनुसार कुछ सीमित मामलों के साथ ख़ास करना संभव नहीं।"

औरत...इक़बाल की नज़र में

शैख़ साहब भी तो परदे के कोई हामी नहीं
मुफ़्त में कालिज के लड़के उनसे बदज़न हो गए
वाअज़ में फ़रमा दिया कल आपने यह साफ़ साफ़
परदा आख़िर किस से हो जब मर्द ही ज़न हो गए

❖❖❖

यह कोई दिन की बात है ऐ मर्द होश मन्द
ग़ैरत न तुझमें होगी न ज़न ओट चाहेगी
आता है अब वह दौर कि औलाद के ऐवज़
कोन्सिल की मिम्बरी के लिए वोट चाहेगी

❖❖❖

इस बहस का कुछ फ़ैसला मैं कर नहीं सकता
गो ख़ूब समझता हूं कि यह ज़ेहर है वह क़न्द
क्या फ़ायदा कुछ कह के बनूं और भी मातूब
पहले ही ख़फ़ा मुझसे हैं तहज़ीब के फ़रज़न्द
इस राज़ को औरत की बसीरत ही करे फ़ाश
मजबूर हैं माज़ूर हैं मरदाने ख़िरदमन्द
क्या चीज़ है आराइश व क़ीमत में ज़्यादा
आज़ादीए निसवां कि ज़मुर्रुद का गुलूबन्द

ने परदा न तालीम, नई हो कि पुरानी
निस्वानियत ज़न का निगहबां है फ़क़त मर्द
जिस क़ौम ने इस ज़िंदा हक़ीक़त को न पाया
उस क़ौम का ख़ुरशीद बहुत जल्द हुआ ज़र्द

❖❖❖

क़ुसूर ज़न का नहीं है कुछ इस ख़राबी में
गवाह उसकी शराफ़त पे हैं मह व परवीं
फ़साद का है फ़िरन्गी मआशरत में ज़हूर
कि मर्द सादा है बेचारा ज़न शनास नहीं।

(बांगे दरा और ज़र्बे कलीम से साभार)

औरत के सतीत्व व पवित्रता का मतलब

इस्लाम में औरत को जिस सतीत्व व पवित्रता का पाबन्द ठहराया गया है, वह उसका ज़ेवर है, बल्कि यूं कहिए कि वही उसका औरतपन और उसका हुस्न और निखार है।

यह याद रहे कि हमारे यहां सतीत्व के यही मायना नहीं हैं कि उसके रुख़ पर नापाक निगाहें न पड़ें, बल्कि इससे ज़्यादा उसका मतलब एक तरह की स्वीकृति लिए हुए है और एक ख़ास तरह का चरित्र व आचरण का प्रतीक है।

सतीत्व के मायना यह हैं कि एक औरत यह समझती है कि मुहब्बत व उससे संबंध के लिए तमाम अधिकार केवल एक व्यक्ति को हासिल हैं और वह मेरा पति है। केवल उसकी नज़रें मेरे चेहरे व सुन्दरता का जायज़ा ले सकती हैं और उसकी मुहब्बत रूह व दिल की ज़िंदगी का कारण हो सकती है।

और आवारगी के मायना केवल यह नहीं कि औरत चरित्रहीन है, बल्कि उससे ज़्यादा उसके मायना यह हैं कि यह बदनसीब मुहब्बत व निष्ठा की इस दौलत से महरूम है जो घरेलू ज़िंदगी की जान और बुनियाद है और अगर समाज इस चरित्रहीनता को बढ़ावा देता है, तो इसका साफ़ मतलब यह है कि वह घरों को उन स्वभाविक भलाइयों से और निष्ठा की बहुमूल्य नेमतों से महरूम कर देना चाहता है और यही वह पतन का सूत्र है कि जो क़ौमें भी महरूमी व बदबख़्ती की इस मंज़िल तक पहुंचीं, फिर वह ऐसी मिटीं और इस तरह ख़त्म हुईं कि दोबारा नहीं उभर सकीं। ("अल ऐतिसाम" 2 मार्च 1951 ई० अज़ मौलाना मुहम्मद हनीफ़ नदवी मरहूम)

ऐ दुख़्तरे इस्लाम

मुज़फ़्फ़र वारसी

लगती है कली कितनी भली शाख़ चमन पर
हाथों में पहुंच कर कोई क़ीमत नहीं रहती
जो शमअ सरे आम लुटाती है उजाले
उस शमअ की घर में कोई इज़्ज़त नहीं रहती
तस्लीम कि परदा हुआ करता है नज़र का
नज़रों में भी बर्दाश्त की क़ुव्वत नहीं रहती
मर्दों के अगर शाना बशाना रहे औरत
कुछ और ही बन जाती है, औरत नहीं रहती
झांक अपने गरेबान में क्या हो गया तुझ को
हैरत से तुझे तकता है आईनाए अय्याम
ऐ दुख़्तरे इस्लाम

ख़ुद अपनी जड़ों पर ही चलाती है दरांती
बर्बादी एहसास नमू मांग रही है
कब बख़्शी गई हैं तुझे आज़ादियां इतनी
जो हक़ ही नहीं है तेरा तू मांग रही है
मैं तो तेरे माथे पर पसीना भी न देखूं
मुझ से मेरी ग़ैरत का लहू मांग रही है

जन्नत है तेरे पांव में फ़रमाया नबी ने
दरिया पे खड़ी हो के सुबू मांग रही है
वह रुतबाए आली कोई मज़हब नहीं देता
करता है जो औरत को अता मज़हब इस्लाम

ऐ दुख़्तरे इस्लाम

(7)

औरत और निकाह में वली (बाप) का मसला

बेपरदगी ने जहां और बहुत से मसाइल पैदा किए हैं, जिनमें कुछ एक पर हम पिछले पृष्ठों में ज़रूरी बहस कर आए हैं, वहां नोजवान लड़की का मां बाप की इजाज़त और रज़ामन्दी के बिना स्वयं निकाह करने का भी अहम मसला है। आज कल यह मसला काफ़ी ज़ोर पकड़ गया है और इस प्रकार के कुछ मामलात अदालत में भी आते रहते हैं और समाचार पत्रों में आए दिन की घटनाओं के छपने से अंदाज़ा होता है कि नोजवान लड़कियों में पश्चिमी समाज की तरह स्वयं निकाह करने का रुझान बढ़ रहा है और मां बाप के हक़ में वली को एक बेकार बोझ और ज़ुल्म समझा जा रहा है और कुछ फ़िक़्ह हनफ़ी के हवाले से बालिग लड़की के इस क़िस्म के काम को जाइज़ क़रार दे रहे हैं और अदालतें भी इन्हें सही होने का प्रमाण पत्र दे रही हैं इसलिए ज़रूरी है कि इस बारे में मसले को सही तौर पर स्पष्ट किया जाए।

बात यह है कि उल्लिखित धारणा इस्लाम के आदेशों के अनुसार है न फ़िक़्ह हनफ़ी की व्याख्याओं के अनुसार, अलबत्ता पश्चिम की निर्लज्ज सभ्यता के ठीक ठीक अनुसार है, जिसमें जवान होने के बाद औलाद का कोइ संबंध मां बाप के साथ बाक़ी नहीं रहता। बालिग लड़की जो चाहे करे, मां बाप को उसमें दख़ल देने का कोई हक़ हासिल नहीं। अगर मां बाप हस्तक्षेप करते हैं तो लड़की पुलिस के द्वारा मां बाप को थाने भिजवाकर जिसके साथ चाहे रंग रलियां मना सकती है।

इस्लाम में तो अल्लाह तआला की उपासना के बाद, दूसरे नम्बर पर जो हुक्म है, वह मां बाप के आज्ञा पालन और उनके साथ सद व्यवहार करने का है, क़ुरआन करीम में तो यहां तक कहा गया है कि तुम मां बाप

के सामने (अगर कोई बात तुम्हें अप्रिय गुज़रे तो) उफ़ तक न क़हो, उससे ज़्यादा मां बाप के आदर व सम्मान और आज्ञापालन की ताकीद क्या हो सकती है?

यह ठीक है कि मां बाप को सख़्त ताकीद है कि वे लड़की की रज़ामन्दी के बिना उसका निकाह न करें यहां तक कि अगर कोई बाप लड़की की रज़ामन्दी के बिना निकाह कर देता है और लड़की को वह पसन्द न हो तो शरीअत ने लड़की को हक़ दिया है कि वह यह निकाह ख़त्म करा ले, लेकिन दूसरी तरफ़ लड़की को कदापि यह हक़ नहीं दिया गया है कि वह वली (बाप) की इजाज़त के बिना जहां चाहे, निकाह कर ले, बल्कि उसके लिए ज़रूरी क़रार दिया गया है कि वह अपने वली (बाप) की इजाज़त और रज़ामन्दी से ही निकाह का मसला हल करे। अगर वह वली की इजाज़त के बिना निकाह करेगी तो वह निकाह ही नहीं होगा। नबी करीम सल्ल० का फ़रमान है :

«لاَ نِكَاحَ إِلاَّ بِوَلِيٍّ» (سنن أبي داود، النكاح، باب في الولي، ح: ٢٠٨٥)

''वली के बिना निकाह नहीं।''

दूसरी रिवायत में है :

«أَيُّمَا امْرَأَةٍ نَكَحَتْ بِغَيْرِ إِذْنِ مَوَالِيهَا فَنِكَاحُهَا بَاطِلٌ ثَلَاثَ مَرَّاتٍ»

(سنن أبي داود، النكاح، باب في الولي، ح: ٢٠٨٣)

''जिस औरत ने अपने वली की इजाज़त के बिना निकाह किया तो उसका निकाह ग़लत है। उसका निकाह ग़लत है, उसका निकाह ग़लत है।''

इसका मतलब यह है कि इस्लाम ने दोनों को एक दूसरे की भावनाओं का सम्मान करने और एक दूसरे को राज़ी करने की ताकीद की है। मां बाप को ज़बरदस्ती करने की इजाज़त दी है, न लड़की में ज़बरदस्ती का पहलू पाया जाए, या मां बाप की इजाज़त ठुकराकर मनमानी की

जाए, तो दोनों सूरतों में अदालत के द्वारा इस ज़ुल्म व जब्र की क्षतिपूर्ति की जा सकती है। यह है इस्लाम की सही ताबीर व व्याख्या।

इससे स्पष्ट है कि लड़की के मुक़ाबले में मां बाप का हक़ सर्वोपरि है और तमाम इमाम इसी बात के क़ायल हैं। कोई भी इमाम लड़की को यह हक़ नहीं देता कि वह मां बाप की इजाज़त और रज़ामन्दी को ठुकराकर स्वयं निकाह कर ले, फ़िक़्ह हनफ़ी से इसका जो जवाज़ साबित किया जाता है, वह सही नहीं है। फ़िक़्ह हनफ़ी में बयान किए गए जवाज़ को उसके पूरे संदर्भ में देखा जाए तो फ़िक़्ह हनफ़ी से उसका कोई जवाज़ साबित नहीं होता।

एक तो इमाम अबू हनीफ़ा के प्रिय शिष्य इमाम अबू यूसुफ़ और इमाम मुहम्मद, जिन्हें साहिबैन कहा जाता है, फ़रमाते हैं कि बुद्धिमान व व्यस्क लड़की भी वली की रज़ामन्दी और इजाज़त के बिना निकाह नहीं कर सकती, अलबत्ता इमाम अबू हनीफ़ा के निकट ऐसा करना जाइज़ है, लेकिन इमाम साहब के निकट व्यस्क लड़की का यह हक़ सशर्त है कुफ़ू के तक़ाज़ों को सामने रखने के साथ। अगर किसी लड़की ने वली की इजाज़त के बिना "ग़ैर कुफ़ू" में निकाह कर लिया तो वली को न केवल आपत्ति करने बल्कि निकाह तोड़ने के लिए अदालती कार्रवाई का हक़ हासिल है।

दूसरे इमाम अबू हनीफ़ा के एक शिष्य व हज़रत हसन बिन ज़ियाद की रिवायत की रू से इमाम अबू हनीफ़ा का यह मसलक है कि अगर लड़की वली की इजाज़त के बिना ग़ैर कुफ़ू में निकाह कर लेगी, तो यह निकाह ही ग़लत होगा (अर्थात वली को निकाह ख़त्म करने के लिए) अदालत में जाने की भी ज़रूरत नहीं है। (विवरण के लिए देखिए फ़ैज़ुलबारी, अल्लामा अनवर शाह कश्मीरी, 4/282-287)

कुफ़ू का मतलब फ़िक़्ह के यहां यह है कि लड़की किसी ऐसी जगह निकाह न करे जिसमें लड़की के वली और घर वाले अपने को कमतर

महसूस करें। इस शर्त या वीटोपावर की मौजूदगी में, जो इमाम अबू हनीफ़ा के निकट वली को हासिल है, यह कहना क्योंकर सही हो सकता है कि हनफ़ी मज़हब में व्यस्क लड़की को वली की इजाज़त के बिना शादी करने का बिना किसी शर्त हक़ हासिल है? इस शर्त के तो साफ़ मायना यह हैं कि वली की रज़ामन्दी और इजाज़त को ठुकराया नहीं जा सकता। अगर कोई लड़की ऐसा करेगी तो एक रिवायत की रू से यह निकाह ही ग़लत होगा और एक रिवायत की रू से वली को यह हक़ हासिल है कि वह उसे ख़त्म करा दे।

हनफ़ी उलमा को इस नुक्ते पर सोच विचार करना चाहिए कि जब कुफ़ू को ठुकराने की सूरत में इमाम साहब के निकट वली को लड़की का हक़ ख़त्म करने और निकाह के रद्द करने और करवाने का हक़ हासिल है, या हसन बिन ज़ियाद के कथनानुसार इमाम साहब के निकट सिरे से निकाह ही ग़लत है, तो फिर वह यह फ़तवा या राय क्यों देते हैं कि व्यस्क लड़की को स्वयं निकाह करने का हक़ हासिल है? यह उल्लिखित शर्त को साथ साथ बयान क्यों नहीं करते? जिससे इमाम साहब का दृष्टिकोण दूसरे इमामों के दृष्टिकोण के क़रीब हो जाता है। अहनाफ़ के मौजूदा तौर तरीक़ों अमल से लव मैरिज, कोर्ट मैरिज और सीकरेट मैरिज (मुहब्बत की शादी, अदालत के द्वारा शादी और खुफ़िया शादी) की प्रेरणा मिल रही है। जज भी यह समझते हैं कि उल्लिखित क़िस्म की शादियों को, जिनमें लड़की अपने वली की रज़ामन्दी और इजाज़त को ठुकराकर इस्लामी इक़्दार व परम्पराओं से मुंह मोड़ती है, फ़िक़्ह हनफ़ी की हिमायत हासिल है और वे उसके हक़ में फ़ैसला कर देते हैं, यद्यपि उसके कुफ़ू के तक़ाज़ों को ध्यान में नहीं रखा गया होता है। जो उसके जायज़ होने की बुनियादी शर्त है, क्योंकि अगर कुफ़ू के तक़ाज़ों को ध्यान में रखते हुए लड़की शादी करे, तो मां बाप आम तौर से उससे सहमति न करने के बावजूद क़ुबूल या गवारा कर लेते हैं। इस प्रकार की शादियों में जितने भी केस अदालतों

में जाते हैं वे सब ऐसे ही होते हैं कि मां बाप के निकट लड़की ऐसी जगह शादी कर लेती है या करने पर आग्रह करती है। जिसमें लड़की के वली और ख़ानदान वाले अपने को कमतर महसूस करते हैं, लेकिन दुर्भाग्य से अदालतें लड़कियों के हक़ में फ़ैसला दे देती हैं। हनफ़ी उलमा से पूछा जाता है, तो वे भी उल्लिखित शर्त को ठुकराकर इसके जायज़ होने का फ़तवा दे देते हैं।

बात यह है कि यह फ़ैसला और फ़तवे शरीअते इस्लामिया की नसूस के भी ख़िलाफ़ हैं और इमाम अबू हनीफ़ा के मसलक के भी ख़िलाफ़। इसके अलावा इनसे वह ख़ानदानी परम्पराएं तबाही का शिकार हो रही हैं जो एक इस्लामी समाज की विशिष्ठ विशेषताओं के तौर पर सदियों से क़ायम चली आ रही हैं और उनकी जगह पश्चिमी समाज की वे बुराइयां बढ़ रही हैं जिनमें शर्म व ग़ैरत की कोई धारणा नहीं है और इस नंगी सभ्यता ने वहां उनकी ख़ानदानी व्यवस्था को तबाह कर दिया है।

तो "कुफ़ू" की शर्त की मौजूदगी में इमाम अबू हनीफ़ा का मसलक दूसरे इमामों से ज़्यादा भिन्न नहीं रहता, क्योंकि कुफ़ू की शर्त का लाभ यह है कि निकाह में लड़की और उसके वली दोनों की मर्ज़ी का इकट्ठा होना ज़रूरी है, क्योंकि अगर वली लड़की की रज़ामन्दी को ठुकराएगा, तो लड़की को इन्कार करने का हक़ है और अगर लड़की वली की रज़ामन्दी को महत्व नहीं देगी तो वली को निकाह ख़त्म करा देने का हक़ हासिल है और यही मसलक दूसरे इमामों का भी है और नसूस शरीअत का तक़ाज़ा भी यही है। स्वयं नबी करीम सल्ल० ने लड़की की रज़ामन्दी के बिना उसकी शादी करने से मना फ़रमाया है और अगर वली ने लड़की की रज़ामन्दी को ठुकराकर लड़की की शादी कर दी है तो हमारे पैग़म्बर ने लड़की को निकाह ख़त्म करने का हक़ प्रदान किया है (ये तमाम चीज़ें हदीसों में मौजूद हैं जिनके विवरण की यहां गुंजाइश नहीं, इसलिए केवल हवाले पर बस किया जा रहा है।)

इसलिए मसला यह नहीं है कि दूसरे इमाम लड़की पर ज़ोर ज़बरदस्ती को ठीक समझते हैं और इमाम अबू हनीफ़ा नहीं समझते। यह ज़िंदगी भर का मसला है, इसे दबाव द्वारा हल नहीं किया जा सकता, अतः कोई भी मसलक दबाव को ठीक नहीं समझता। सबके निकट दोनों की रज़ामन्दी ज़रूरी है। शरीअत न केवल यह कहती है कि नोजवान लड़की, ज़िंदगी के उतार चढ़ाव से अवगत नहीं होती, इसके अलावा जवानी की भावना और जोश में वह ग़लत फ़ैसला कर सकती है इसलिए वली की इजाज़त और रज़ामन्दी के बिना वह शादी करने का फ़ैसला न करे, और यह सत्य है कि कुछ बदमाश और स्वार्थी लोगों को छोड़कर, मां बाप से बढ़कर दुनिया में औलाद का और ख़ासकर लड़कियों का कोई हितैषी नहीं। हर बाप अपनी बच्ची के लिए बेहतर से बेहतर और सही रिश्ते का इच्छुक ही नहीं होता, उसके लिए भरपूर कोशिश भी करता है और अपवादी सूरतों में जहां वली की तरफ़ से ज़ुल्म व दबाव का प्रयोग किया गया, वहां शरीअत ने स्वयं लड़की को अदालत या पंचायत के द्वारा फ़रियाद करने की इजाज़त दी है। इस प्रकार के अपवादी केसों में निश्चय ही लड़की के हक़ में फ़ैसला दिया जा सकता है और दिया जाना चाहिए, लेकिन जहां ज़ुल्म व अत्याचार का कोई पहलू न हो, वहां केवल उस बुनियाद पर लड़की के हक़ में फ़ैसला देना कि लड़की बुद्धिमान व व्यस्क है, पूरी तरह ग़लत है जो इस्लामी शिक्षाओं के ख़िलाफ़ है और तमाम इमामों की भी राय के ख़िलाफ़ है। लड़कियों की बेजा आज़ाद रवी और बिगाड़ की हिमायत बहुत ख़तरनाक है।

मर्द को अल्लाह तआला ने क़व्वाम बनाया है जिसके मायना हैं हाकिम और निगरां। मर्द औरत के मुक़ाबले में घर का सरबराह और उसका मुहाफ़िज़ व निगरां है। इस बरतरी और श्रेष्ठता की दो वजह बयान की गई हैं। एक तो यह कि अल्लाह ने मर्द को औरत के मुक़ाबले में ज़्यादा अक़्ल व समझ और ज़्यादा शारीरिक ताक़त प्रदान की है। दूसरी,

यह कि कमाने का ज़िम्मेदार केवल और केवल मर्द है। हर छोटे बड़े इदारे के प्रबन्ध के लिए एक प्रबन्धक, शासक और मुहाफ़िज़ व निगरां का वजूद ज़रूरी है, इसके बिना कोई संस्थान क़ायम हो सकता है और न बाक़ी ही रह सकता है। इस हिसाब से घर की सरबराही अल्लाह तआला ने उल्लिखित प्रमुख गुणों की वजह से, मर्द को प्रदान की है जो प्राकृतिक तौर पर उसे हासिल है। इसको माने बिना घर का प्रबन्ध सही तरीक़े से नहीं चल सकता।

जब पति पत्नी में से सरबराही मर्द को हासिल है तो औलाद पर भी सरबराही का फ़ितरी हक़ मर्द ही को हासिल है। औलाद के मुक़ाबले में मर्द के सरबराही होने के हक़ का नाम निगरां की बजाए वलायत है। जिस तरह क़व्वामियत के शाब्दिक मतलब तक में भी सरबराही का भाव शामिल है। इसी तरह वलायत के दो शाब्दिक मायना हैं। एक मुहब्बत व मदद और दूसरे सलतनत व क़ुदरत। इन दोनों अर्थों के हिसाब से वली को औलाद पर हर तरह की श्रेष्ठता हासिल है। वली को औलाद से मुहब्बत भी होती है और उसके अंदर उसकी मदद और उसके हक़ों व हितों की हिफ़ाज़त की भावना भी। इसके अलावा इसको औलाद पर अधिकार व ज़ोर भी हासिल हैं एक तो फ़ितरी तौर पर ही, जैसा कि अभी बताया गया। दूसरे, बाप की शफ़क़त व रिआयत और उसके आर्थिक और अन्य हर प्रकार के सहयोग ही से औलाद का लालन पालन होता है। अब यह कैसे संभव है कि यह औलाद जवान होने के बाद वली पर श्रेष्ठ और हावी हो जाए? यह प्रकृति के भी ख़िलाफ़ है और उपकार व आभार की भावना के भी विपरीत। इसलिए शरीअत की मन्शा भी यही है और इंसाफ़ का तक़ाज़ा भी कि वली का हक़ हर तरह से ग़ालिब और सर्वोपरि रहे और वली और औलाद में मतभेद की सूरत में केवल औलाद की व्यस्कता को देखकर वली की वलायत को ठुकरा देना शरीअत की रूह के भी ख़िलाफ़ है और न्याय के तक़ाज़ों से भी मुंह मोड़ना। हां! अगर वली

अपने वलायत के हक़ को ग़लत इस्तेमाल करे और दबाव द्वारा ज़ुल्म व अत्याचार करे, तो और बात है। इस प्रकार की सूरतों में स्वयं शरीअत ने भी दूसरे लोगों को हस्तक्षेप करके न्याय करने की ताकीद की है। फ़िक़्ही परिभाषा में ऐसे सख़्त स्वभाव बाप को "वली आज़िल" की संज्ञा दी गई है और इसकी वलायत को मानने से इन्कार कर दिया गया है। इस सूरत में चचा, ताया आदि वली क़रार पाएंगे या फिर समय का इमाम, जज और शासक। (और विवरण के लिए देखें मेरी किताब "मफ़रूर लड़कियों का निकाह और हमारी अदालतें, मसला वलायत निकाह का तहक़ीक़ी जायज़ा" मत्बूआ दारुल इस्लाम, लाहौर)

हालात की तब्दीली से इज्तिहादी आदेश परिवर्तित हो सकते हैं न कि क़ुरआनी आदेश

कुछ लोग कहते हैं कि अब हालात बदल गए हैं और समाज में समाजी, राजनीति और क़ानूनी हिसाब से औरत की हैसियत पहले से भिन्न हो चुकी है, अतः औरतों के हवाले से नसूस इस्लामी की नई व्याख्या या दूसरे शब्दों में औरतों से संबंधित इज्तिहादी क़ानूनों पर पुनर्निरीक्षण की ज़रूरत है। (नवाए वक़्त, लाहौर, 2 मई 1996 ई० में शाया शुदा एक इस्लामी बुद्धिजीवी के लेख से साभार)

लेकिन हम कहेंगे कि ऐसे विद्वान और बुद्धिजीवी या तो पश्चिमी विचारों से प्रभावित हैं, या मानसिक विभेद का शिकार हैं। एक तरफ़ ये लोग इमामों के मसालिक और उनके तर्कों को भी नक़ल करते हैं और दूसरी तरफ़ उन्हें उनका इज्तिहाद क़रार देकर उनमें तब्दीली का मशवरा भी देते हैं। यह ठीक है कि इज्तिहादी मसाइल, सर्वकालिक नहीं हैं, उनमें हालात के अनुसार परिवर्तन के तमाम उलमा क़ायल हैं, लेकिन विचारणीय बात यह है कि औरतों से संबंधित अहकाम व मसाइल इज्तिहादी हैं, या नसूस शरीअत पर आधारित? इज्तिहादी मसला तो वह होता है जिसकी

बाबत क़ुरआन करीम या हदीस रसूल सल्ल० में कोई आदेश न हो और उलमा ने उससे मिलते जुलते किसी मसले पर क़यास करके उसके जायज़ होने या जायज़ न होने का हुक्म लिया हो। क्या कम अक़्ल, या बुद्धिमान व्यस्क लड़की के वली की इजाज़त के बिना स्वयं शादी कर लेने, या पर्दे आदि के मसाइल इज्तिहादी हैं, या क़ुरआन व हदीस पर आधारित? अगर यह फ़ुक़्हा के इज्तिहादी मसाइल हैं फिर तो निश्चय ही उनमें हालात के अनुसार परिवर्तन का मशवरा सही है और अगर ऐसा नहीं है और निश्चय ही नहीं है, क्योंकि स्वयं ये लोग भी इमामों के तर्कों को नक़ल फ़रमाते हैं जो नसूस क़ुरआन व हदीस पर आधारित हैं न कि वह इज्तिहादी कथन व राए हैं तो फिर उन मसाइल में परिवर्तन का मशवरा पश्चिमी मानसिकता का शिकार नवीनीकरण वालों के सिवा क्या है? जो हालात के परिवर्तन के नाम पर सारी शरीअत ही को तब्दील करना चाहते हैं। क्या ये लोग भी नसूस में तब्दीली के क़ायल हैं? अगर नहीं हैं तो फिर उन लोगों की तरफ़ से इस प्रकार का मशवरा उनके वैचारिक विभेद ही का दर्पण कहलाएगा।

उनकी एक दलील उनका यह कहना भी है कि मदीना और हिजाज़ का समाज बदवी था और वहां दूसरी सभ्यताओं के प्रभाव कम थे। यह वही बात है जो नवीनीकरण कर्त्ता भी कहते हैं और वह इस हवाले से औरत को पश्चिम की तरह नंगी आज़ादी देना चाहते हैं और इस्लामी आदेशों में ऐसा संशोधन करना पसन्द करते हैं जिससे इस्लामी सभ्यता की विशेषता ख़त्म और पश्चिम की निर्लज्ज सभ्यता का औचित्य साबित हो जाएं यद्यपि इस्लाम एक सर्वकालिक मज़हब है उसके साथ ही नुबुवत का ख़ात्मा भी कर दिया गया है जसका मतलब यह है कि इस्लाम एक विश्वव्यापी मज़हब है, किसी विशेष इलाक़े और देश के लिए नहीं है और क़यामत तक के लिए है, किसी सीमित दौर के लिए नहीं है। जब ऐसा है तो इस्लामी शिक्षाओं के बारे में यह कहना कि अरब का समाज बदवी

था और उन शिक्षाओं व आदेशों में उस समय के समाज और हालात को ध्यान में रखा गया है, यह कहां तक सही है? अगर ऐसा है तो इस्लाम की विश्वव्यापी हैसियत और उसका क़यामत तक के लिए होने का स्वीकरण क्योंकर हो सकता है? फिर तो इस्लाम को एक विशेष इलाक़े और सीमित दौर के लिए मानना पड़ेगा।

इसलिए आधुनिक दार्शनिकों और वर्तमान बुद्धिजीवियों का यह दावा कि मदीना व हिजाज़ का समाज बदवी था, पूरी तरह ग़लत और निराधार है। अल्लाह तआला ने आदेश किसी समाज के अनुसार और उसकी रिआयत में अवतरित नहीं किए हैं, बल्कि इंसानी प्रकृति के अनुसार उतारे हैं, जिसमें कोई तब्दीली भोगौलिक दृष्टि से आ सकती है न दिन व रात की किसी गर्दिश से, अर्थात ज़बान व मकान और उसकी तब्दीलियों से उनका कोई संबंध नहीं है। इंसान किसी भी इलाक़े और देश से संबंध रखता हो और क़यामत तक किसी भी ज़माने में वह पैदा हुआ हो। इस्लामी आदेश व शिक्षाएं उसके लिए रोशनी का मीनार, हिदायत की शमअ और जीवन व्यवस्था है। इससे मुंह मोड़ने में उसके लिए गुमराही, पथभ्रष्टता और बर्बादी है शान्ति व सुकून और निजात नहीं। अल्लाह तआला ने इस्लामी आदेश क़यामत तक के लिए अवतरित किए हैं, इंसानी प्रकृति से भी वह आगाह है, बल्कि केवल वही आगाह है, क्योंकि वही इंसान का स्रष्टा है, इसलिए हर दौर के इंसान की निजात, चाहे वह प्रगति करके चांद पर पहुंच जाए, अल्लाह के आदेशों की पैरवी ही में है। इसमें किसी प्रकार की तब्दीली का न कोई हक़ रखता है और न उससे सुधार ही संभव है। इसमें परिवर्तन व संशोधन ऐसे ही है जैसे किसी प्रसिद्ध हकीम के नुस्ख़े में कोई नीम हकीम अपनी तरफ़ से, कोई दवा, उसे बेहतर बनाने के लिए मिला दे।

पश्चिम की कामयाबी, अधर्मवाद की नहीं, निरंतर काम करने और ज्ञान एवं कला का नतीजा है

हमें यह देखकर कि पश्चिम में औरत, मर्द के साथ हर काम में हिस्सा ले रही है, इस पर परदे की या अपने सतीत्व की सुरक्षा की कोई पाबन्दी नहीं है, वह हर मामले में अपनी मर्ज़ी की मालिक, मां बाप का इस पर कोई दबाव है न पति का कोई प्रभाव और न ख़ानदान का कोई निज़ाम। वह मां बाप की मौजूदगी में भी अपने जीवन साथी के चयन में आज़ाद है और निकाह में बंधने के बावजूद केवल अपने पति के साथ ही जुड़े रहने की पाबन्द नहीं। वह एक मर्द की पत्नी होने के साथ साथ कई मर्दों से दोस्ताना संबंध क़ायम कर सकती और रख सकती है। पश्चिम में औरत की यह आज़ादी देखकर बहुत से लोग समझते हैं कि पश्चिम की तरक़्क़ी का राज़ इसी औरत मर्द की समानता के दृष्टिकोण में है। इसका चकित कर देने वाले और आश्चर्यजनक अविष्कार की वजह औरत की बेपरदगी और उसका बिगाड़ है और भौतिक आसानियों और सहूलतों की अधिकता, हर प्रकार की पाबन्दी से आज़ादी का नतीजा है। इसलिए वे मशवरा देते हैं कि अब समाज बहुत बदल गया है। ज़माना कहां से कहां पहुंच गया है। हमें भी पश्चिम की तरह औरत को कुछ न कुछ आज़ादी देनी चाहिए। यद्यपि सत्यता यह है कि पश्चिम की तरक़्क़ी अधर्मवाद अपनाने और औरत को घर से बाहर निकाल कर बेपरदा कर देने का नतीजा नहीं, बल्कि उसकी पुश्त पर असल चीज़ उनकी मंसूबा बन्दी और उस पर अमल, ज्ञान एवं कला की प्राप्ती और उसका सही इस्तेमाल, व्यवस्था और क़ानून की पाबन्दी आदि, विशेषताएं हैं। अल्लामा इक़बाल रह०, जिन्होंने स्वयं पश्चिम में रहकर हर चीज़ का अवलोकन किया था, यूरोप की प्रगति पर रौशनी डालते हुए फ़रमाते हैं :

क़ुव्वत मग़रिब न अज़ चन्ग व रबाब
ने ज़ रक़्स दुख़्तराने बे हिजाब

ने ज़ सहरे साहिराने लाला रू अस्त
ने ज़ उरयां साक़ व ने अज़ं क़तअ मू अस्त
मुहकमी ओ न अज़ लादीनी अस्त
ने फ़रोग़श अज़ ख़ित्ते लातीनी अस्त
क़ुव्वते अफ़रन्ग अज़ इल्म व फ़न अस्त
अज़ हमीं आतिश चराग़श रौशन अस्त
हिक्मत अज़ क़तअ व बरीद जामा नीस्त
मानेअ इल्म व हुनर अमामा नीस्त

बहरहाल औरत के बारे में इस्लाम ने जो कुछ भी आदेश दिए हैं, उससे एक तो इस्लाम के लाज व सतीत्व की सुरक्षा की धारणा अभिप्राय है। पश्चिम ने औरत के सतीत्व व पवित्रता की चादर को तार तार करके फेंक दिया है, इसलिए उसकी हिफ़ाज़त का उनके यहां कोई महत्व बाक़ी नहीं रहा है। दूसरा उद्देश्य, इस्लाम का औरत की अपनी विशेष मजबूरियों और उसकी प्राकृतिक योग्यता व क्षमता का सम्मान व रिआयत है। इससे कोई व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता कि मर्द और औरत दोनों की उत्पत्ति का उद्देश्य एक दूसरे से भिन्न है और इसी हिसाब से अल्लाह तआला ने दोनों की प्राकृतिक क्षमताओं और कार्य क्षमता में भी फ़र्क़ रखा है। शरीअते इस्लामिया ने इसी लिए दोनों का कार्यक्षेत्र भी एक दूसरे से अलग रखा है। एक का कार्य क्षेत्र घर की चार दीवारी है, वहां घरेलू मामले हैं, बच्चों की निगरानी और देखभाल है, पति की सेवा व आज्ञापालन है। दूसरे का कार्य क्षेत्र घर से बाहर है, वह मेहनत मज़दूरी करे या नौकरी, खेती बाड़ी करे या तिजारत, कमाना उसी की ज़िम्मेदारी है। औरत केवल घर की मलिका है, उसका काम सड़कों की ख़ाक छानना नहीं है, नौकरी के लिए दर बदर की ठोकरें खाना नहीं है, ग़ैरों के नखरे या अपनी अदाओं से उनका दिल बहलाना नहीं है।

इसलिए हमारा पक्का ईमान है कि अन्य शिक्षाओं की तरह, औरत के बारे में भी इस्लाम का एक एक हुक्म तत्वदर्शिता पर आधारित है और इंसानी समाज का सुधार और इंसानियत की सफ़लता व कल्याण उन आदेशों की पाबन्दी ही में निर्भर है। उनसे मुंह मोड़ने में फ़साद और बर्बादी ही बर्बादी है उनसे केवल विमुखता, या इससे बचकर कोई समाज वास्तविक सफ़लता और शान्ति व सुकून से माला माल नहीं हो सकता, और इसके किसी हुक्म में हालात व ज़माने के हिसाब से संशोधन और वृद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि वह उस ज़ात के अवतरित किए हुए हैं जो "आलिमे मा का-न वमा यकू-न" है, जो अतीत और वर्तमान व भविष्य में प्रकट होने वाली घटनाओं से अवगत है।

(8)

बहुपत्नि विवाह और उसकी हिक्मतें

औरत के विशिष्ठ मसाइल में एक मसला बहुपत्नि विवाह का भी है जिसका मतलब यह है कि मर्द एक साथ एक से ज़्यादा (चार तक) पत्नियां रख सकता है, जबकि औरत एक मर्द से ज़्यादा पति से संबंध क़ायम नहीं कर सकती। यह मसला क़ुरआन व हदीस की शिक्षाओं से साबित है जिसमें किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं। क़ुरआन में अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿ وَإِنْ خِفْتُمْ أَلَّا تُقْسِطُوا فِي الْيَتَامَىٰ فَانكِحُوا مَا طَابَ لَكُم مِّنَ النِّسَاءِ مَثْنَىٰ وَثُلَاثَ وَرُبَاعَ ۖ فَإِنْ خِفْتُمْ أَلَّا تَعْدِلُوا فَوَاحِدَةً أَوْ مَا مَلَكَتْ أَيْمَانُكُمْ ۚ ذَٰلِكَ أَدْنَىٰ أَلَّا تَعُولُوا ﴾ (النساء/٣)

"अगर तुम इस बात से डरो कि तुम यतीम लड़कियों से (निकाह करके) न्याय नहीं कर सकोगे, तो तुम दूसरी औरतों से, जो तुम्हें ज़्यादा पसन्द हों, निकाह कर लो, दो दो, तीन तीन और चार चार से, लेकिन अगर तुम्हें यह डर हो कि तुम (एक से ज़्यादा पत्नियां रखने की सूरत में उनके बीच) न्याय नहीं कर सकोगे तो फिर एक ही औरत से निकाह करो, या जिसके मालिक तुम्हारे दाएं हाथ हैं, यह ज़्यादा क़रीब है इस बात के कि तुम अन्याय न करो।" (निसा : 3)

इस आयत से एक समय में चार औरतों तक शादी करने की इजाज़त साबित होती है। इस आयत की टीका हज़रत आइशा रज़ि० से इस तरह मरवी है कि हैसियत वाली और सुन्दर यतीम लड़की किसी वली के अधीन परवरिश होती तो वह उसके माल और हुस्न व जमाल की वजह

से उससे शादी तो कर लेता लेकिन उसको दूसरी औरतों की तरह उसका पूरा मेहर न देता। अल्लाह तआला ने इस ज़ुल्म से रोका, कि अगर तुम घर की यतीम बच्चियों के साथ न्याय नहीं कर सकते तो तुम उनसे निकाह ही मत करो, तुम्हारे लिए दूसरी औरतों से निकाह करने का रास्ता खुला है। (सहीह बुख़ारी, तफ़्सीर)

बल्कि एक की बजाए दो से तीन से यहां तक कि चार औरतों तक से तुम निकाह कर सकते हो, बशर्ते कि उनके बीच न्याय के तक़ाज़े पूरे कर सको। वर्ना एक ही से निकाह करो या उसकी बजाए लौंडी पर गुज़ारा करो। इस आयत से मालूम हुआ कि एक मुसलमान मर्द (अगर वह ज़रूरतमन्द है और पत्नियों के बीच न्याय भी कर सकता है) तो चार औरतें एक समय अपने निकाह में रख सकता है। लेकिन उनसे ज़्यादा नहीं, जैसा कि सहीह अहादीस में इसका स्पष्टीकरण और उल्लेख कर दिया गया है।

नबी करीम सल्ल० ने जो चार से अधिक शादियां कीं वह आपकी विशिष्ठता में से है जिस पर किसी उम्मती के लिए अमल करना जाइज़ नहीं। (इब्ने कसीर) फिर भी उसकी इजाज़त के साथ यह भी स्पष्ट कर दिया कि राहत एक ही औरत से शादी करने में है, क्योंकि एक से अधिक पत्नियां रखने की सूरत में न्याय करना बहुत मुश्किल है जिसकी तरफ़ दिली झुकाव ज़्यादा होगा, ज़िंदगी की ज़रूरतों की उपलब्धता में ज़्यादा ध्यान भी उसी की तरफ़ होगा। यूं पत्नियों के बीच वह न्याय करने में नाकाम रहेगा और अल्लाह के यहां अपराधी ठहराया जाएगा। क़ुरआन ने इस हक़ीक़त को दूसरे स्थान पर बड़े अच्छे अंदाज़ में इस तरह बयान फ़रमाया :

﴿ وَلَنْ تَسْتَطِيعُوا أَنْ تَعْدِلُوا بَيْنَ النِّسَاءِ وَلَوْ حَرَصْتُمْ فَلَا تَمِيلُوا كُلَّ الْمَيْلِ فَتَذَرُوهَا كَالْمُعَلَّقَةِ ﴾ (النساء/١٢٩)

"और तुम कदापि इस बात की ताक़त न रखोगे कि पत्नियों के बीच न्याय कर सको, यद्यपि तुम लालच रखो। (इसलिए यह तो अवश्य करो) कि एक ही तरफ़ न झुक जाओ कि छोड़ दो तुम उस दूसरी औरत को बीच में लटकी हुई औरत की तरह।"

(निसा : 129)

यह दूसरी आयत भी एक से ज़्यादा पत्नियां रखने की इजाज़त में खुला आदेश है, इसलिए कि यहां भी अल्लाह ने अनेक पत्नियों के बीच न्याय करने को बड़ा मुश्किल काम बतलाया है, लेकिन उसके बावजूद इस इजाज़त को ख़त्म नहीं किया, बल्कि किसी पत्नी को एकदम भुला देने से मना किया है और यह ताकीद की है कि अगर दिली झुकाव में तुम इच्छा रखने के बावजूद न्याय नहीं कर सकते, तो तुम नम्बर तै करने और भरण पोषण और अन्य सामान उपलब्ध करने में तो न्याय करो और किसी एक पत्नी को बिल्कुल न भुला दिया करो।

इससे मालूम हुआ कि एक से ज़्यादा शादी अत्यन्त ज़रूरत के बिना करना ठीक ही नहीं बल्कि बड़ी ख़तरनाक है, लेकिन ज़रूरत के समय इसके करने में कोई बात नहीं। जैसा कि क़ुरआन करीम की दोनों आयात से स्पष्ट है।

और पहली आयत से विवेचन की बुनियाद यह है कि आयत में न्याय के तीनों कलिमात न्याय और गुण की बुनियाद पर फिरे हुए हैं। यह किससे फिरे हुए हैं? यह फिरे हुए हैं इसनै-नि, सलास-त और अरबअ-त से। और उनमें से हर एक अपनी प्रकार की तकरार पर दलालत करता है। अतः "मुसना" इसनै-नि इसनैनि "सुला-स" सलास-त सलास-त और "रुबाअ" अरबअ-त अरबअ-त, पर दलालत करता है। जैसे कहा जाए 'जा-अ निल क़ौमु मसना अव सुलास अव रुबाअ', तो इसके मायना होंगे, मेरे पास क़ौम के लोग दो दो, या तीन तीन या चार चार करके आए। यह अरबी भाषा की ऐसी शैली है जिसमें कोई सन्देह नहीं है। इस

हिसाब से आयत में यहां उन शब्दों का अनुवाद, दो दो, तीन तीन और चार चार ही होगा, जिससे एक समय में एक से ज़्यादा औरतों से निकाह करने का जायज़ होना और चार से अधिक ज़ायज़ न होना साबित होता है। इसके अलावा आगे "फ़वाहिदतन" से भी इसकी हिमायत हो रही है। अर्थात अगर तुम महसूस करो कि एक से अधिक 2 या 3 या 4 पत्नियों के बीच तुम न्याय नहीं कर सकोगे, तो फिर एक ही औरत से निकाह करो।

इस टीका की हिमायत सही हदीसों से हो जाती है। कुछ सहाबा जब मुसलमान हुए तो उनके निकाह में चार से अधिक पत्नियां थीं, जैसे क़ैस बिन हारिस के निकाह में आठ और ग़ीलान बिन सलमा सक़फ़ी के निकाह में 10 पत्नियां थीं। इस्लाम लाने के बाद नबी सल्ल० ने उनसे फ़रमाया :

«اخْتَرْ مِنْهُنَّ أَرْبَعًا»(سنن أبي داود، الطلاق، باب في من أسلم وعنده نساء اكثر من أربع أو أختان، ح:٢٢٤١ وجامع الترمذي، النكاح، باب ماجاء في الرجل يسلم وعنده عشر نسوة، ح:١١٢٨ وسنن ابن ماجة، أيضا، ح:١٩٥٢، ١٩٥٣)

"इनमें से चार को पसन्द कर लो।"

अर्थात बाक़ी को तलाक़ देकर अपने निकाह से बाहर कर दो। बहरहाल क़ुरआन व हदीस से एक समय में ज़्यादा से ज़्यादा चार पत्नियां रखना साबित है, बशर्ते कि उनके बीच न्याय किया जा सके और पत्नियों के बीच न्याय का मतलब यह है कि उनकी बारियां तै करने में, उन्हें ख़ूराक, पोशाक, आवास और अन्य ज़रूरतें उपलब्ध करने में समानता बरते। यह न करे कि जिसके साथ मुहब्बत और ज़्यादा समीपता हो, तो भौतिक ज़रूरतें उपलब्ध करने में भी उसके साथ अच्छा व्यवहार करे। अगर ऐसा करेगा, तो यह ज़ुल्म होगा! ऐसे व्यक्ति के बारे में रसूलुल्लाह सल्ल० ने फ़रमाया :

«إِذَا كَانَ عِنْدَ الرَّجُلِ امْرَأَتَانِ، فَلَمْ يَعْدِلْ بَيْنَهُمَا، جَاءَ يَوْمَ الْقِيَامَةِ وَشِقُّهُ سَاقِطٌ»(جامع الترمذي، النكاح، باب ماجاء في التسوية بين

الصراط، ح: ۱۱٤۱)

"जिस व्यक्ति की दो पत्नियां हों और वह उनके बीच न्याय न करे, तो वह क़यामत के दिन इस हाल में आएगा कि उसके शरीर का एक हिस्सा (अर्थात आधा) अलग होगा।"

बहुपत्नि विवाह की हिक्मतें

उपरोक्त उल्लिखित विवरण से स्पष्ट है कि अल्लाह तआला ने मर्द को यह इजाज़त दी है कि अगर वह एक से ज़्यादा पत्नी की ज़रूरत महसूस करता है, तो न्याय करने के साथ वह एक समय में चार तक पत्नियां रख सकता है और यह केवल इजाज़त है जिससे ज़रूरत के समय फ़ायदा उठाया जा सकता है, एक से ज़्यादा पत्नियां करने का हुक्म यह नहीं है कि जिस पर अमल करने की हर मुसलमान कोशिश करे।

इजाज़त और हुक्म के फ़र्क़ की अवहेलना करके कुछ लोग इस्लाम की इस बड़ी अहम इजाज़त पर बड़ी आलोचना करते हैं, यद्यपि यह इजाज़त इस्लाम की महान विशेषताओं में से एक बड़ी विशेषता है, क्योंकि कभी कभी मर्द के लिए एक से ज़्यादा पत्नी अत्यन्त ज़रूरी हो जाती हैं और कभी कभी कुछ और बातें इसकी ज़रूरत होती हैं। इसलिए जहां कोई ज़रूरत हो, वहां दूसरी, तीसरी और चौथी शादी करना जाइज़ होगा। इसकी कुछ हिक्मतें और ज़रूरतें, जो उलमा ने बयान की हैं, ये हैं :

(1) निकाह का उद्देश्य जहां जिन्सी इच्छा की पूर्ति है, वहां दूसरा उद्देश्य औलाद की प्राप्ती भी है। इसी लिए नबी करीम सल्ल० ने उस व्यक्ति को, जो एक ऐसी औरत से शादी करना चाहता था जो सुन्दर भी थी और उच्च वंश वाली भी, लेकिन उससे औलाद की उम्मीद नहीं थी। आपने उस औरत से शादी करने की इजाज़त नहीं दी। वह दूसरी बार आया तब भी इजाज़त नहीं दी, तीसरी बार जब वह उसी औरत से शादी करने के लिए इजाज़त लेने आया तो नबी सल्ल० ने फ़रमाया :

«تَزَوَّجُوا الْوَدُودَ الْوَلُودَ فَإِنِّي مُكَاثِرٌ بِكُمُ الْأُمَمَ» (سنن أبي داود، النكاح، باب النهي عن تزويج من لم يلد من النساء، ح: ٢٠٥٠)

"तुम ज़्यादा मुहब्बत करने वाली और ज़्यादा बच्चे जनने वाली औरत से शादी करो, इसलिए कि मैं तुम्हारी वजह से दूसरी उम्मतों पर गर्व करूंगा।"

अधिक मुहब्बत करने वाली पत्नी से इंसान को पूर्ति और ज़्यादा बच्चे जनने वाली पत्नी से औलाद हासिल होती है और ये दोनों ही इच्छाएं प्राकृतिक हैं। जिन्सी भावना भी इंसान की प्रकृति का एक हिस्सा है और इंसान मेहनत और संघर्ष करके माल व दौलत हासिल करता और जायदाद बनाता है तो इसकी इच्छा होती है कि उसके तर्के का कोई वारिस भी हो, यह इच्छा भी जाइज़ और प्राकृतिक है, लेकिन कभी कभी एक मर्द जिस औरत से शादी करता है, वह बांझ होती है और मर्द का वारिस पैदा करने की क्षमता से महरूम यहां तक कि हर तरह का इलाज करने के बावजूद औरत का बांझपन ख़त्म नहीं होता। ऐसी सूरत में मर्द के लिए दो रास्ते हैं।

1. वह अपनी पत्नी को तलाक़ देकर अपने घर से विदा कर दे और उसे हालात के धारे पर छोड़ दे।

2. या उसके साथ साथ एक और शादी कर ले ताकि उसकी पहली पत्नी की ज़िंदगी भी बर्बाद न हो और उसकी औलाद की इच्छा भी पूरी हो जाए। दूसरी पत्नी से भी यह इच्छा पूरी न हो, तो संसाधन, ताक़त और न्याय की शर्त के साथ वह चार तक शादियां कर सकता है।

अब बतलाया जाए कि पहला रास्ता बेहतर है जिसमें एक जवान औरत बेसहारा भी हो जाती है और जिन्सी इच्छा की पूर्ति के जाइज़ तरीक़े से महरूम भी और उसके बांझपन की वजह से उसकी दोबारा शादी की संभावना भी बहुत कम होती है? या दूसरा रास्ता बेहतर है, जिसमें पहली

पत्नी उल्लिखित दोनों ख़राबियों से बची रहती है?

इसके अलावा इस सूरत में इस्लाम ने मर्द को दूसरी शादी की इजाज़त देकर औरत पर ज़ुल्म किया है, या उसकी इज़्ज़त व मान सम्मान की सुरक्षा की? हर समझदार आदमी का जवाब यही होगा कि दूसरा रास्ता ही हर तरह से बेहतर और औरत की इज़्ज़त व मान सम्मान का रक्षक है।

(2) इसी तरह कभी कभी औरत बीमार और मर्द की जिन्सी इच्छा पूरी करने की क्षमता से महरूम होती है इस सूरत में भी मर्द के लिए उल्लिखित दो रास्तों में से कोई एक रास्ता अपनाना ज़रूरी हो जाता है। साफ़ सी बात है यहां भी औरत के लिए दूसरा रास्ता ही बेहतर है, क्योंकि वह बेसहारा और बेमर्द होने से बच जाएगी।

(3) कभी कभी ऐसा होता है कि समाज में औरतों की अधिकता और मर्दों की कमी हो जाती है, ख़ासकर जंगों में ऐसा होता रहता है। अब एक शादी पर आग्रह करके बदचलनी का रास्ता खोलना सही होगा, या अनेक शादियों की इजाज़त देकर इस रास्ते को बन्द कर देना?

इस्लाम ने यहां भी दूसरा रास्ता अपनाकर औरतों की किफ़ालत का सम्मानजनक प्रबन्ध किया है और उनकी इज़्ज़त व सतीत्व की सुरक्षा का आयोजन भी।

(4) कुछ मर्द ऐसे होते हैं कि उनके अंदर जिन्सी इच्छा और क़ुव्वत ज़्यादा होती है, एक औरत से उनकी यह इच्छा पूरी नहीं होती, विशेष रूप से मासिक धर्म के दिनों में, जबकि औरत से संभोग शरअन मना है, ऐसे मर्दों के लिए बदकारी की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। शरीअत ने ऐसे लोगों को चार तक पत्नियां रखने की इजाज़त देकर बदकारी का रास्ता बन्द कर दिया है।

पश्चिम में एक से ज़्यादा शादी करना वैधानिक रूप से मना है, तो

इसका नतीजा यह है कि वहां उल्लिखित प्रकार के मर्दों ने बिना शादी किए कई कई औरतों से जिन्सी संबंध क़ायम कर रखे हैं और यूं बदकारी वहां आम है। क्या ऐसे मर्दों के लिए एक से ज़्यादा पत्नियों की इजाज़त उचित रास्ता है जिसमें वह उनसे संबंध रखने के नतीजे व प्रभाव का ज़िम्मेदार होता है, या हरामकारी का रास्ता उचित है जिसमें मर्द केवल जिन्सी इच्छा की पूर्ति तो कर लेता है, लेकिन उसके नतीजों का ज़िम्मेदार नहीं होता? साफ़ सी बात है कि समझदार आदमी पहले ही रास्ते को उचित क़रार देगा, जिससे समाज में जिन्सी बुराई फैलती है न हराम औलाद का मसला पैदा होता है।

(5) कभी कभी एक औरत जवानी ही में विधवा हो जाती है, ऐसी सूरत में उसके क़रीबी संबंधी का उसके साथ दूसरी शादी करके उसको सहारा देना, उसकी इज़्ज़त व सम्मान की हिफ़ाज़त करना और उसके बच्चों पर दया का हाथ रखना ज़्यादा उचित रास्ता है या दूसरी शादी पर रोक लगाकर, विधवा औरत और उसके मासूम बच्चों को हालात के धारे पर छोड़ देना उचित रास्ता है? यहां भी हर समझदार आदमी पहले रास्ते ही को बेहतर क़रार देगा।

बहरहाल यह और इसी प्रकार की अन्य हिक्मतों ही की वजह से इस्लाम ने दूसरी, तीसरी और चौथी शादी की इजाज़त दी है। इस्लाम के इस तत्वदर्शी निज़ाम की बरकत है कि :

- मुसलमान समाज में बदकारी आम नहीं है।
- वहां हराम औलाद का मसला इतना ज़्यादा नहीं है।
- वहां ख़ानदानी निज़ाम बहुत हद तक टूट फूट से बचा हुआ है।
- और लाज व सतीत्व की सुरक्षा का एहसास आम और शक्तिशाली है।

इसके विपरीत पश्चिमी समाज में, जहां एक से ज़्यादा शादी तो मना

है, लेकिन मर्द व औरत को एक दूसरे के साथ दोस्तियां क़ायम करने की इजाज़त है, बदकारी आम है, हराम औलाद की अधिकता है, ख़ानदानी व्यवस्था बिखर गई है और लाज व सतीत्व की कल्पना ख़त्म हो गई है। मानो एक से ज़्यादा औरतों से संबंध क़ायम करने और उनसे "मेल मिलाप" करने की तो पश्चिम में आम इजाज़त है, लेकिन उसके नतीजों को सहन करने के लिए तैयार नहीं। यह औरत पर ज़ुल्म नहीं तो क्या है? इस्लाम इस ज़ुल्म की बजाए यह बात कहता है कि अगर तुम्हारा किसी वजह से एक औरत से गुज़ारा नहीं होता, तो तुम चार तक, एक से ज़्यादा, पत्नियां रख सकते हो, लेकिन उसकी जो ज़रूरतें और ज़िम्मेदारियां हैं, उन्हें भी पूरा करना होगा। यह इजाज़त मात्र जिन्सी मनोरंजन व वासना ही तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके क़ानूनी और सामाजिक तक़ाज़ों की पूर्ति भी ज़रूरी है।

औरत एक समय में एक से ज़्यादा मर्दों से निकाह नहीं कर सकती

मर्द को तो अल्लाह तआला ने यह इजाज़त दे दी है कि वह एक समय में चार तक शादियां कर सकता है बशर्ते कि वह उसकी ताक़त रखता और न्याय के तक़ाज़े पूरे कर सकता हो, लेकिन औरत को यह इजाज़त नहीं दी कि वह एक समय में चार मर्दों से पति पत्नी का संबंध पैदा कर ले। इसमें औरत की कमज़ोरी के अलावा वंश की हिफ़ाज़त आदि उद्देश्य भी शामिल हैं। हर व्यक्ति यह बात समझता और मानता है कि औरत मर्द के मुक़ाबले में कमज़ोर है, इसलिए मर्द तो एक समय में एक से ज़्यादा पत्नियों से पति पत्नी का संबंध क़ायम कर सकता और निभा सकता है। लेकिन औरत (आम तौर से) ऐसा नहीं कर सकती।

इसके अलावा एक औरत के तीन चार पति हों, तो उनके बीच दुश्मनी और बैर वाली कशमकश रहेगी जो औरत की ज़िंदगी को अजीरन

बनाने के लिए काफ़ी है। इसका अंदाज़ा उन घटनाओं से आसानी से लगाया जा सकता है जो उन बदकार औरतों के साथ पेश आते रहते हैं जो एक समय में कई मर्दों से मुहब्बत और जिन्सी संबंध क़ायम कर लेती हैं। वे या तो आपस में एक दूसरे को क़त्ल कर देते हैं, क्योंकि महबूब की मुहब्बत में दूसरों की शिरकत उनको गवारा नहीं होती, या कोई प्रेमी उस प्रेमिका को ही यह कहकर मौत के घाट उतार देता है कि यह हरजाई और बेवफ़ा है। मानो अल्लाह तआला ने मर्द की प्रकृति में यह बात रखी है कि वह जिस औरत से मुहब्बत रखता है, उसमें वह किसी और की शिरकत सहन नहीं कर सकता। इस हिसाब से औरत की बाबत अल्लाह का यह फ़ैसला कि वह केवल एक ही मर्द की पत्नी बन सकती है, एक समय में कई मर्दों की नहीं, इंसानी प्रकृति के ठीक अनुसार है और इसी में औरत की इज़्ज़त व मान सम्मान और उसकी जान की सुरक्षा है और सबसे बढ़कर वंश की सुरक्षा का मसला है।

इस्लाम में वंश की सुरक्षा के महत्व का अंदाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि विवाहित मर्द या औरत अगर ज़िना का शिकार हो जाए, तो इस्लाम में उसकी सज़ा रजम है। इतनी सख़्त सज़ा क्यों है? इसलिए कि विवाहित मर्द व औरत की ज़िनाकारी से वंश का मामला संदिग्ध हो जाता है। कुंवारे ज़ानी या ज़ानिया के अपराध से वंश का मसला पैदा नहीं होता, इसलिए उनकी सज़ा भी हल्की अर्थात सौ कोड़े हैं और यही वजह है कि तलाक़शुदा औरत या मृत पति की पत्नी इद्दत के अंदर किसी दूसरे मर्द से शादी नहीं कर सकती। तलाक़शुदा की इद्दत 3 मासिक धर्म (या 3 महीने) या बच्चा पैदा होने तक और मृत पति की पत्नी की इद्दत 4 महीने और 10 दिन या बच्चा होने तक है।

इस इद्दत का उद्देश्य भी गर्भ है, अर्थात उस इद्दत से स्पष्ट हो जाता है कि उसके गर्भ में उसके पति का नुतफ़ा नहीं है और बच्चा हो जाने से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इसके बाद उन औरतों

को इजाज़त है कि वह नई जगह शादी कर लें। अब सोचें कि अगर औरत के दो, या तीन या चार पति हों तो उस औरत को जो हमल ठहरेगा, वह किस पति का माना जाएगा? और होने वाली औलाद का बाप कौन होगा? अगर वह सारे ही पति औलाद की ज़िम्मेदारी क़ुबूल करने से बचते होंगे, तो उनमें से हर एक यह दावा करेगा कि यह औलाद मेरे नुतफ़े से नहीं है और अगर उनमें से सारे ही औलाद के इच्छुक होंगे, तो हर एक कहेगा कि यह होने वाला बच्चा मेरे मिलाप का नतीजा है। क्या इस सूरत में गारंटी के साथ बच्चे के असल बाप का मसला हल किया जा सकता है? और क्या इसे हल किए बिना वंश की हिफ़ाज़त संभव है जिसकी इस्लाम में बड़ी ताकीद है?

इसी के साथ औरत के बारे में यह विशेष हुक्म कि वह मर्द की तरह एक से ज़्यादा पति नहीं कर सकती, अनेक हिक्मतों पर आधारित है। इसमें औरत की प्राकृतिक कमज़ोरी का भी ध्यान रखा है और वंश की हिफ़ाज़त का भी। इसके अलावा सुन्दरता की दुनिया में ईर्ष्या व दुश्मनी का ख़ात्मा भी और ये सब बातें ऐसी हैं जिनसे अभिप्राय औरत की सुरक्षा और समाज को बदकारी से बचाना है।

(9)

मर्द का तलाक़ का हक़ और उसके शिष्टाचार

मर्द व औरत के बीच निकाह का रिश्ता क़ायम हो जाने के बाद अधिकांश धर्मों में अलेहदगी और तलाक़ की कोई धारणा नहीं है, यद्यपि कभी कभी जब दोनों के स्वभावों में एकरूपता और समझौता पैदा न हो सके तो तलाक़ और अलेहदगी ही में दोनों की भलाई होती है, इसलिए इस्लाम ने मर्द को तलाक़ का हक़ दिया है, लेकिन इस हक़ को आख़िरी चाराकार के तौर पर इस्तेमाल करने की ताकीद की गई है।

यही वजह है कि इस्लाम ने एक तरफ़ मर्द को तलाक़ का हक़ दिया है तो दूसरी तरफ़ उसे ऐसे निर्देश भी दिए हैं जिन्हें अपनाने से आम तौर पर तलाक़ तक नौबत ही नहीं पहुंचती। लेकिन लोगों की बड़ी संख्या चूंकि इस्लामी शिक्षाओं की सही समझ नहीं रखती, इसलिए मामूली कड़वाहट भी तलाक़ पर पहुंचती हैं। जबकि ज़रूरी है कि मर्द उन निर्देशों और शिक्षाओं की भी सही समझ हासिल करें जो इस्लाम ने पत्नी के साथ निबाह करने के लिए दीं और बतलाई हैं।

1. औरत के साथ निबाह करने का तरीक़ा

इस सिलसिले में अल्लाह तआला ने क़ुरआन मजीद में पहली हिदायत यह फ़रमाई :

﴿وَعَاشِرُوهُنَّ بِالْمَعْرُوفِ فَإِن كَرِهْتُمُوهُنَّ فَعَسَىٰ أَن تَكْرَهُوا شَيْئًا وَيَجْعَلَ اللَّهُ فِيهِ خَيْرًا كَثِيرًا ﴿١٩﴾﴾ (النساء/١٩)

"और तुम उन औरतों के साथ अच्छे तरीक़े से रहो, तो अगर तुम उन्हें नापसन्द करो, तो बहुत संभव है कि तुम एक चीज़ को नापसन्द करो और अल्लाह तआला उसमें बहुत भलाई रख दे।" (निसा : 19)

अर्थात अपने तौर पर तुम अपनी पत्नी को कुछ कारणों की बिना पर नापसन्द करो, लेकिन इस नापसन्दीदगी के बावजूद अल्लाह तआला तुम्हें इससे भली औलाद प्रदान फ़रमा दे या उसकी वजह से तुम्हारे कारोबार में बरकत डाल दे, दोनों सूरतों में तुम्हारे लिए भलाई ही भलाई है। मानो इस आयत में अल्लाह तआला ने नापसन्दीदगी के बावजूद पत्नियों से अच्छा व्यवहार और निवाह करने की ताकीद की और इसी बात को नबी अकरम सल्ल० ने इस तरह बयान किया है :

«لَا يَفْرَكْ مُؤْمِنٌ مُؤْمِنَةً، إِنْ كَرِهَ مِنْهَا خُلُقًا رَضِيَ مِنْهَا آخَرَ» (صحيح مسلم، الرضاع، باب الوصية بالنساء، ح:١٤٦٧)

"कोई मोमिन मर्द (पति) किसी मोमिन औरत (पत्नी) से बैर न रखे। अगर उसे उसकी कोई आदत नापसन्द है, तो उसकी दूसरी आदत पसन्द भी होगी।"

मतलब यह है कि मात्र नापसन्दीदगी की वजह से पत्नी को तलाक़ न दो, बल्कि उसके अंदर जो दूसरी भलाइयां हैं उन्हें सामने रखो। ऐसा करने से उसकी कुछ नापसन्दीदा बातें तुम्हारे लिए सहन योग्य हो जाएंगी। पत्नी के साथ निबाह करने का यह कितना बेहतरीन नुस्ख़ा और तरीक़ा है, क्योंकि कोई कितना भी बुरा हो, लेकिन कुछ गुण भी उसके अंदर ज़रूर होते हैं। अगर इंसान गुणों पर नज़र ज़्यादा रखे, तो कोताहियों और कमियों को भुला देना आसान हो जाता है और यूं मामला ज़्यादा ख़राब नहीं होता। काश मर्द नबी की इस हिदायत को अपने सामने रखें।

2. औरत की एक प्राकृतिक कमज़ोरी का ध्यान रखने की हिदायत

इसी तरह एक और हदीस में नबी अकरम सल्ल० ने फ़रमाया :

«إِنَّ الْمَرْأَةَ خُلِقَتْ مِنْ ضِلَعٍ، لَنْ تَسْتَقِيمَ لَكَ عَلَى طَرِيقَةٍ، فَإِنِ اسْتَمْتَعْتَ بِهَا، اسْتَمْتَعْتَ بِهَا وَبِهَا عِوَجٌ، وَإِنْ ذَهَبْتَ تُقِيمُهَا كَسَرْتَهَا؛ وَكَسْرُهَا طَلَاقُهَا»(صحيح مسلم، الرضاع، باب الوصية بالنساء، ح:١٤٦٦)

"औरत पसली से पैदा की गई है (इसलिए उसमें पसली ही की तरह टेढ़ है) वह तेरे लिए किसी तरीक़े पर कदापि सीधी नहीं रहेगी, तो अगर तू उससे (बतौर पत्नी के) लाभ उठाना चाहता है तो उस टेढ़ (के सहन करने) के साथ लाभ उठा सकता है और अगर तू उसे सीधा करना शुरू कर देगा तो उसे तोड़ देगा और उसका तोड़ना उसको तलाक़ देना है।"

यह औरत के साथ निबाह करने की नबी की दूसरी हिदायत है और इसका मतलब यह है कि औरत के स्वभाव में प्राकृतिक तौर पर कुछ टेढ़ (अर्थात कम अक़्ली और कट्टरपन) है। औरत के इस स्वभाव की वजह से कभी कभी घर में कड़वाहट और तनाव पैदा हो जाता है, जो मर्द साहसी, सूझ बूझ वाले, सहन शक्ति का मालिक औरत के इस स्वभाव को समझने वाला होता है, वह सूझ बूझ और साहस का प्रदर्शन करके ऐसा रवैया अपनाता है जिससे कड़वाहट में वृद्धि नहीं होती और इस तरह हालात पर क़ाबू पा लेता है। लेकिन जो लोग इसके विपरीत इस नाज़ुक मोती (औरत) के साथ सख़्त रवैया अपनाते और अपने तौर पर यह सोचते हैं कि हम उसको सीधा करके छोड़ेंगे तो वह उसको सीधा करने में तो नाकाम रहते हैं (क्योंकि पैदाइश, स्वभाव और प्रकृति को कोई नहीं बदल सकता) अलबत्ता अपना घर उजाड़ लेते हैं, अर्थात मामला तलाक़ तक पहुंच जाता है और जल्दबाज़ी में तलाक़ देना भी डरपोक और बेसब्रे क़िस्म ही के लोगों का तरीक़ा है।

3-4-5. उपदेश व नसीहत, अलेहदगी और हल्की मार

उल्लिखित निर्देशों पर अमल करने के बावजूद घर का माहौल सुखद और औरत का बर्ताव सही न हो, तो अल्लाह तआला ने तीन दूसरी बातें अपनाने की नसीहत की है। वे तीन बातें ये हैं :

﴿وَالّٰتِيْ تَخَافُوْنَ نُشُوْزَهُنَّ فَعِظُوْهُنَّ وَاهْجُرُوْهُنَّ فِي الْمَضَاجِعِ وَاضْرِبُوْهُنَّ ۚ فَاِنْ اَطَعْنَكُمْ فَلَا تَبْغُوْا عَلَيْهِنَّ سَبِيْلًا﴾ (النساء ٤/٣٤)

"और वे औरतें जिनकी अवज्ञा और कम अक़्ली से तुम डरो, तो उन्हें उपदेश व नसीहत करो और उन्हें अलग बिस्तरों में छोड़ दो और उन्हें मार की सज़ा दो। तो अगर वे तुम्हारी आज्ञा पालक बन जाएं तो उन पर कोई रास्ता तलाश न करो।"

इन तीन चीज़ों को जिस क्रम से बयान किया गया है, यह हालात व परिस्थिति पर निर्भर है कि उन पर अमल इसी क्रम से संभव है या नहीं? निश्चय ही प्राकृतिक क्रम यही है। जब कोई अप्रिय बात सामने आती है तो उपदेश व नसीहत व हिदायत ही से उसकी इस्लाह की कोशिश की जाती है। यह कोशिश कारगर साबित नहीं होती, तो मर्द अपनी नाराज़ी आम तौर से औरत से मेल जोल और बोल चाल बन्द करके ही व्यक्त करता है, लेकिन कभी कभी ऐसा होता है कि क्रम बिल्कुल उलट जाता है और डांट उपट की नौबत पहले आ जाती है। बहरहाल यह क्रम ज़रूरी नहीं है, उन हिदायतों पर अमल करना ज़रूरी है।

तीसरी बात पर अमल करते समय बड़ी सावधानी की ज़रूरत है। कुछ लोग इस मारने की इजाज़त को बड़े भौंडे और बर्बर तरीक़े से इस्तेमाल करके इस्लाम को बदनाम करते हैं कि इस्लाम ने औरतों को खूब मारने पीटने की और उन पर ज़ुल्म करने की इजाज़त दी है। यद्यपि ऐसा नहीं है, इस्लाम में किसी के साथ भी ज़ुल्म व अत्याचार की इजाज़त नहीं है। औरत तो इंसान की हमसफ़र और उसकी ज़िंदगी की गाड़ी का दूसरा

पहिय्या है। इसके बिना इंसान की ज़िंदगी निडर भी है और मेहनत वाली भी। औरत उसकी ज़िंदगी में मनोरंजन भी पैदा करती है और उसकी घरेलू ज़िम्मेदारियों का बोझ भी उठाती है। उसको थोड़ा बहुत मारने की इजाज़त का मतलब, केवल पहिय्ये का सुधार है, ताकि ज़िंदगी की गाड़ी सही तरीक़े से चलती रहे। इसी लिए नबी सल्ल० ने फ़रमाया है कि अगर मारने की ज़रूरत पेश आ ही जाए तो ऐसी हल्की मार मारो कि जिससे कोई निशान न पड़े और इसी तरह चेहरे पर भी न मारो। (सुनन अबी दाऊद, निकाह, अध्याय फ़ी हक़ मिरअत, हदीस : 2142)

6. दो मध्यस्थ नियुक्त करने की ताकीद

घर की चार दीवारी के अंदर अपने तौर पर उल्लिखित तीनों हिदायतों पर अमल करने के बावजूद पति पत्नी के बीच कड़वाहट और तनाव दूर न हो, तो फिर आख़िरी चाराकार के तौर पर अल्लाह तआला ने बाहर के लोगों को हस्तक्षेप करके उनके बीच समझौता कराने का हुक्म दिया, अतः अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿ وَإِنْ خِفْتُمْ شِقَاقَ بَيْنِهِمَا فَابْعَثُوا حَكَمًا مِّنْ أَهْلِهِ وَحَكَمًا مِّنْ أَهْلِهَا إِن يُرِيدَا إِصْلَاحًا يُوَفِّقِ اللَّهُ بَيْنَهُمَا ﴾ (النساء ٤/ ٣٥)

"अगर तुम्हें पति पत्नी के बीच मतभेद का डर हो (कि वह ख़त्म नहीं हो रहा) तो एक मध्यस्थ मर्द वालों की तरफ़ से और एक मध्यस्थ औरत के घर वालों की तरफ़ से नियुक्त करो। अगर ये दोनों सुधार के इच्छुक होंगे, तो अल्लाह उनके बीच मेल मिलाप पैदा कर देगा।" (निसा : 35)

उनकी सुलह की कोशिश कामयाब न हो, तो फिर उनको समझौता का अगर अधिकार होगा तो यह उसके अनुसार अलेहदगी का फ़ैसला कर देंगे या यह जज को रिपोर्ट देंगे, वह उनका फ़ैसला कर देगा।

तलाक़ देने से पहले यह सारे मामले पूरे करने की ताकीद इसी लिए

की गई है कि तलाक़ तक पहुंचने वाला मतभेद तलाक़ के बिना ही हल हो जाए। लेकिन उसके बावजूद भी अगर तलाक़ के बिना चारा न हो, तो तलाक़ के लिए भी ऐसे शिष्टाचार बतलाए गए हैं कि उनसे तलाक़ देने के बाद भी सुलह व वापसी की संभावनाएं बाक़ी रहती हैं। वे शिष्टाचार निम्न हैं :

तलाक़ के शिष्टाचार

इस सिलसिले में पहली हिदायत यह है कि तलाक़ पाकी की हालत में संभोग किए बिना दी जाए। क़ुरआन में आगे है : "तुम तलाक़ इद्दत के आरंभ में दो" (तलाक़ : 1) और इद्दत के आरंभ से तात्पर्य, औरत का हैज़ से पाक होना है, पाकी की हालत इद्दत का आरंभ है। इस पहली हिदायत ही को ध्यान में रखने से तलाक़ की दर बहुत कम हो सकती है। आम तौर पर ग़ुस्सा और उत्तेजना में तुरन्त तलाक़ दे दी जाती है। अगर इंसान तलाक़ देने के समय इस बात को ध्यान में रखे तो ऐसे पाकी के इंतिज़ाम में, जिसमें वह संभोग न कर सके, उसका ग़ुस्सा और उत्तेजना ख़त्म या कम हो जाएगी और केवल वही व्यक्ति तलाक़ देगा जिसने तलाक़ देने का पक्का और पूर्ण फ़ैसला कर रखा होगा।

दूसरा शिष्टाचार यह है कि तलाक़ केवल एक ही दे। एक समय में तीन तलाक़ें देना किसी भी मसलक की रू से सही तरीक़ा नहीं है। नबी अकरम सल्ल० ने भी इस पर सख़्त नाराज़ी और ग़ुस्सा व्यक्त किया और इसे अल्लाह की किताब के साथ खेलना क़रार दिया है।

(नसाई, तलाक़, हदीस : 3430)

इस एक तलाक़ का फ़ायदा यह है कि पति को अगर तलाक़ के बाद नदामत और ग़लती का आभास हो तो वह इद्दत (3 हैज़ या 3 महीने) के अंदर वापसी कर सकता है। इद्दत गुज़र जाए तो उनके बीच आम सहमति से दोबारा निकाह के द्वारा संबंध क़ायम हो सकता है। इसमें

किसी भी मसलक का मतभेद नहीं है।

दूसरी बार तलाक़ देने के बाद भी इसी तरह इद्दत के अंदर वापसी और इद्दत गुज़रने के बाद दोबारा निकाह हो सकता है। मतलब यह है कि अल्लाह ने मर्द को ज़िंदगी में दो बार तलाक़ देकर वापस होने का हक़ दिया है, अर्थात एक बार वह तलाक़ देकर पलट जाए। फिर कुछ समय के बाद दोबारा तलाक़ देकर पलटे। तो ऐसा करना जाइज़ है, लेकिन उसने इस तरह करके अपने दोनों हक़ इस्तेमाल कर लिए हैं। अब अगर किसी अवसर पर तीसरी बार तलाक़ देगा, तो उसके लिए इद्दत के अंदर पलटना जाइज़ होगा न इद्दत गुज़रने के बाद उससे निकाह करना जाइज़ जब तक कि उसकी तलाक़शुदा पत्नी किसी और जगह अपनी मर्ज़ी (और औलिया की इजाज़त) से बाक़ायदा शादी कर ले, फिर संयोग से वह पति मर जाए या अपनी मर्ज़ी से तलाक़ दे दे तब पहले पति से उसका निकाह जाइज़ होगा।

पहले पति से निकाह जाइज़ करने की नीयत से किसी से शर्त से निकाह करना, जिसे "हलाला" कहा जाता है, निकाह नहीं, ज़िनाकारी है। उस पर नबी करीम सल्ल० ने लानत फ़रमाई है :

«لَعَنَ رَسُوْلُ اللهِ ﷺ اَلْمُحَلِّلَ وَالْمُحَلَّلَ لَهُ»(سنن النسائي، الطلاق، باب إحلال المطلقة ثلاثا.. الخ، ح:٣٤٤٥ وسنن الترمذي، النكاح، باب ماجاء في المحل والمحلل له، ح:١١١٩)

"हलाला करने वाले और जिसके लिए हलाला किया जाए, दोनों पर अल्लाह के रसूल ने लानत फ़रमाई है।"

जिस काम पर नबी सल्ल० लानत और बद्दुआ फ़रमाएं, वह काम किस तरह जाइज़ हो सकता है? इसलिए प्रचलित हलाला लानती काम है। इसका कोई औचित्य नहीं है।

अतः एक समय में तीन तलाक़ें देने की बजाए, एक तलाक़ देना ही तलाक़ का भला तरीक़ा है। इस तरीक़ा तलाक़ से वे ख़राबियां पैदा नहीं

होतीं जो एक समय में तीन तलाक़ें देने से पैदा होती हैं और न उलमा के बीच कोई मतभेद ही पैदा होता है। इसके अलावा इससे तलाक़ का मसला भी हल हो जाता है, तलाक़ देने के बाद अगर पलटा न जाए यहां तक कि तीन हैज़ गुज़र जाएं, तो तलाक़ प्रभावी हो जाती है और औरत का संबंध पहले पति से ख़त्म हो जाता है। इसके बाद वह जहां चाहे, निकाह कर सकती है।

एक समय में तीन तलाक़ें देने की हानियां

❖ एक समय में तीन तलाक़ें देना, एक तो नबी अकरम सल्ल० की हिदायतों के ख़िलाफ़ है। मानो उसमें सुन्नत से खुली विमुखता है।

❖ इसे रसूलुल्लाह सल्ल० ने अल्लाह की किताब के साथ हंसी, मज़ाक़ क़रार दिया है और अल्लाह की किताब के साथ हंसी मज़ाक़ भी किसी मुसलमान का तरीक़ा नहीं हो सकता।

❖ इसे फ़िक़्ही मज़ाहिब को महत्व देने वाले तीन ही मान लेते हैं जिससे अल्लाह तआला की वह हिक्मत और मन्शा ख़त्म हो जाती है जो अल्लाह तआला ने पहली और दूसरी तलाक़ में रखी है कि इंसान उसमें तलाक़ देने के बाद आने वाली मुश्किलात पर सोच विचार कर ले। अगर वह महसूस करे कि तलाक़ से उसकी पेचीदगियों और परेशानियों में वृद्धि हो रही है, तो वह उन दोनों तलाक़ों में इद्दत के अंदर पलट सकता है और इद्दत गुज़र जाने के बाद अपनी तलाक़शुदा पत्नी से दोबारा निकाह कर सकता है।

❖ एक समय में तीनों तलाक़ों के लागू होने से सुलह व मेल मिलाप की तमाम संभावनाएं ख़त्म हो जाती हैं जिससे ख़ानदान उजड़ जाते और मासूम बच्चे बेसहारा हो जाते हैं।

❖ यही वजह है कि एक समय में तीन तलाक़ें तमाम फ़िक़्ही मज़ाहिब वालों के निकट भी जाइज़ नहीं (यद्यपि वे उसके लागू किए जाने

के क़ायल हैं) यहां तक कि सितम्बर 2001 ई० के समाचार पत्रों में इस्लामी नज़रियाती कौन्सिल की सिफ़ारिश भी प्रकाशित हुई है कि एक समय में तीन तलाक़ों को सज़ा योग्य अपराध क़रार दिया जाए। यह एक अच्छा प्रस्ताव है, लेकिन उसके साथ साथ अगर उन सभी तलाक़ों को, जबकि तलाक़ देने वाले की नीयत केवल एक तलाक़ देना ही हो और तीन का शब्द उसने ताकीद के तौर पर इस्तेमाल किया हो, उसे एक ही तलाक़ माना जाए, तो उस क़ानून से जनता को तात्कालिक रूप से सहारा (Relief) मिलेगा, जनता को तत्काल सहारे की ज़रूरत है न कि ताज़ीर (सज़ा) की। मौजूदा हालात और जनता की अज्ञानता को ध्यान में रखते हुए हमारे इस दृष्टिकोण की बहुत से हनफ़ी उलमा ने भी हिमायत की है, जिसका ज़रूरी विवरण मेरे इस लेख में मौजूद है जो "एक मज्लिस की तीन तलाक़ों का मसला और अहनाफ़ के दावे" के शीर्षक से किताब "सिराते मुस्तक़ीम और मतभेद उम्मत" में शामिल है।

तीसरा शिष्टाचार तलाक़ का यह है कि तलाक़ देने के बाद (अर्थात पहली और दूसरी तलाक़ में) औरत को घर से न निकाला जाए, न वह स्वयं घर से निकले, बल्कि वह पति ही के घर में रहे। अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿لَا تُخْرِجُوهُنَّ مِن بُيُوتِهِنَّ وَلَا يَخْرُجْنَ﴾ (الطلاق٦٥/١)

"(तलाक़ देने के बाद) उन औरतों को घरों से मत निकालो और न स्वयं वे निकलें।"

इसकी हिक्मत स्वयं अल्लाह तआला ने यह बतलाई है :

﴿لَا تَدْرِي لَعَلَّ اللَّهَ يُحْدِثُ بَعْدَ ذَٰلِكَ أَمْرًا ۝١﴾ (الطلاق٦٥/١)

"तुम नहीं जानते, शायद अल्लाह तआला उसके बाद कोई नई बात पैदा कर दे।" (तलाक़ : 1)

इसका मतलब यह है कि शायद अल्लाह तआला मर्द के दिल में

तलाक़शुदा औरत की चाहत पैदा कर दे, उसके घर ही में रहने की वजह से उसे उस पर तरस आ जाए और वह रुजूअ करने पर तैयार हो जाए। इसी लिए कुछ टीकाकारों ने कहा है कि इस आयत में अल्लाह ने केवल एक तलाक़ देने की बात कही है और एक समय में तीन तलाक़ें देने से मना फ़रमाया है, क्योंकि अगर वह एक ही समय में तीन तलाक़ें दे दे और शरीअत उसे जाइज़ क़रार देकर लागू भी कर दे, तो फिर यह कहना निरर्थक है कि शायद अल्लाह कोई नई बात पैदा कर दे। (फ़त्हुल क़दीर)

हमारे समाज में इस हिदायत की भी कोई परवाह नहीं की जाती और मर्द के तलाक़ देते ही औरत को उसके मां बाप या बहन भाई आदि ले जाते हैं और औरत को पति के घर में रहने ही नहीं देते। यद्यपि तलाक़ बतह (तलाक़ बाईना अर्थात तीसरी तलाक़) के बाद तो ऐसा करना सही है, क्योंकि उसके बाद पति को रुजूअ करने का हक़ ही नहीं है, लेकिन पहली और दूसरी तलाक़ के बाद ऐसा करना सही नहीं है, क्योंकि पहली और दूसरी तलाक़ के बाद पति को रुजूअ का हक़ हासिल है। इसलिए उसके घर में रहने से सुलह व समझौते की संभावना मौजूद रहती है, उसे खोना नहीं चाहिए।

एक चौथा शिष्टाचार यह भी बतलाया गया है कि तलाक़ देने के बाद रुजूअ न हो सके, तो तलाक़शुदा औरत को अच्छे तरीक़े से विदा किया जाए। अव तसरीहु बि-इहसानिन का मतलब यही है। इसके अलावा इस अवसर पर उन्हें कोई हदिया या उपहार देने का हुक्म दिया। फ़रमाया :

﴿وَمَتِّعُوهُنَّ عَلَى الْمُوسِعِ قَدَرُهُ وَعَلَى الْمُقْتِرِ قَدَرُهُ مَتَاعًا بِالْمَعْرُوفِ حَقًّا عَلَى الْمُحْسِنِينَ ﴿٢٣٦﴾﴾ (البقرة: ٢٣٦)

"और उन (तलाक़शुदा) औरतों को लाभ पहुंचाओ! सम्पन्न लोगों पर उनकी ताक़त के अनुसार (लाभ पहुंचाना) है और

तंगदस्त पर उनकी ताक़त के अनुसार, दस्तूर के अनुसार लाभ पहुंचाना है, यह उपकार करने वालों के लिए ज़रूरी है।"

(बक़रा : 236)

दूसरे स्थान पर फ़रमाया :

﴿ وَلِلْمُطَلَّقَٰتِ مَتَٰعٌۢ بِٱلْمَعْرُوفِ ۖ حَقًّا عَلَى ٱلْمُتَّقِينَ ﴿٢٤١﴾ ﴾ (البقرة/٢٤١)

"और तलाक़शुदा औरतों को दस्तूर के अनुसार लाभ पहुंचाना है। यह परहेज़गारों के लिए ज़रूरी है।" (बक़रा : 241)

इस "मुताअ" (लाभ) की बाबत कुछ उलमा ने कहा है कि सेवक या 500 दिरहम या एक या कुछ सूट आदि हैं, लेकिन यह निर्धारण शरीअत की तरफ़ से नहीं है। शरीअत में हर व्यक्ति को अपनी ताक़त के अनुसार मुताअ (लाभ) देने का अधिकार और हुक्म है। इसके अलावा यह मुताअ तलाक़ हर क़िस्म की तलाक़ शुदा औरत को देना चाहिए। क़ुरआन करीम की उल्लिखित दूसरी आयत से आम ही मालूम होता है।

इस हुक्म मुताअ में जो हिक्मत और लाभ हैं, वे स्पष्टीकरण के मोहताज नहीं। कड़वाहट, तनाव और मतभेद के अवसर पर, जो तलाक़ का सबब होता है, उपकार करना और औरत का दिल रखना और उसका आयोजन करना, भविष्य की प्रत्याशित दुश्मनियों के रोकने का बड़ा महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन हमारे समाज में इस उपकार व व्यवहार की बजाए, तलाक़शुदा को ऐसे बुरे तरीक़े से विदा किया जाता है कि दोनों ख़ानदानों के आपस के संबंध हमेशा के लिए ख़त्म हो जाते हैं। अगर क़ुरआनी हुक्म के अनुसार दुश्मनी के इस अवसर पर सद व्यवहार और दिल रखने का आयोजन किया जाए तो उसके असंख्य सामाजिक लाभ हैं। काश मुसलमान इस अत्यन्त ही अहम नसीहत पर अमल करें जिसे उन्होंने भुला रखा है।

आजकल के कुछ "मुज्तहिदीन" ने मताउन और मत्तिऊहुन्न से यह

विवेचन किया है कि तलाक़शुदा औरत को अपनी जायदाद में से बाक़ायदा हिस्सा दो। या उम्र भर भरण पोषण देते रहो। ये दोनों बातें निराधार हैं, भला जिस औरत को मर्द ने अत्यन्त नापसन्दीदा समझकर अपनी ज़िंदगी से बाहर कर दिया, वह सारी उम्र किस तरह उसके ख़र्चों की अदाएगी के लिए तैयार होगा? या अपनी जायदाद में से उसे हिस्सा देगा?

मर्द अपना तलाक़ का हक़ सही तरीक़े से इस्तेमाल करके अपने आपको उस हक़ के योग्य साबित करें

तलाक़ के उल्लिखित शिष्टाचार तो गोण रूप से इसलिए बयान किए गए हैं, ताकि मर्द अपना यह हक़ सही तरीक़े से इस्तेमाल करें और उसे ग़लत तरीक़े से इस्तेमाल करके इस्लाम की बदनामी का कारण न बनें, क्योंकि इस्लाम ने उन्हें यह हक़ इसलिए नहीं दिया है कि वह उसके द्वारा औरतों पर ज़ुल्म करें या इस्लाम को बदनाम करें। अल्लाह तआला ने मर्द को यह हक़ देकर उसकी श्रेष्ठता का स्वीकरण किया है, उन्हें अपने आपको इसका अहल साबित करना चाहिए न कि वह उसका इन्कार करें।

औरत को अल्लाह ने तलाक़ का हक़ नहीं दिया

औरत को अल्लाह ने यह हक़ नहीं दिया कि वह मर्द को जब चाहे तलाक़ देकर मर्द से अलग हो जाए। इसलिए औरत मर्द के मुक़ाबले में शारीरिक रूप से भी कमज़ोर है और मानसिक योग्यताओं में भी कमतर। शारीरिक कमज़ोरी की वजह से उसके अंदर सहनशीलता की कमी है और दिमाग़ी क्षमताओं में फ़र्क़ की वजह से उसके अंदर सोचने समझने की योग्यता भी कम है और इन दोनों कमज़ोरियों की वजह से उसके फ़ैसले में जल्दबाज़ी और भावुकता का तत्व अधिक रहता है। अगर औरत को भी तलाक़ का हक़ मिल जाता, तो वह अपना यह हक़ बड़ी जल्दबाज़ी या

भावना में आकर इस्तेमाल कर लिया करती और अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मार लिया करती। इससे सामाजिक जीवन में जो बिगाड़ पैदा होता, उसकी कल्पना ही बड़ी कष्टदायक है। इसका अंदाज़ा आप पश्चिम और यूरोप की उन सामाजिक रिपोर्टों से लगा सकते हैं जो वहां औरतों को तलाक़ का हक़ मिल जाने के बाद प्रकाशित हुई हैं।

उन रिपोर्टों के अध्ययन से इस्लामी शिक्षाओं की सच्चाई का और औरत की इस कमज़ोरी का स्वीकरण होता है जिसकी बिना पर मर्द को तो तलाक़ का हक़ दिया गया है लेकिन औरत को यह हक़ नहीं दिया गया। औरत के लिए जल्दबाज़ी, नाशुक्रे पन और भावुक होने का हम ज़िक्र कर रहे हैं, हदीस से भी इसका स्वीकरण होता है। अतः एक हदीस में रसूलुल्लाह सल० ने फ़रमाया :

«وَرَأَيْتُ النَّارَ فَإِذَا أَكْثَرُ أَهْلِهَا النِّسَاءُ يَكْفُرْنَ، قِيلَ: أَيَكْفُرْنَ بِاللهِ؟ قَالَ: يَكْفُرْنَ الْعَشِيرَ، وَيَكْفُرْنَ الإِحْسَانَ، لَوْ أَحْسَنْتَ إِلَى إِحْدَاهُنَّ الدَّهْرَ ثُمَّ رَأَتْ مِنْكَ شَيْئًا قَالَتْ: مَا رَأَيْتُ مِنْكَ خَيْرًا قَطُّ» (صحيح البخاري، الإيمان، باب كفران العشير وكفر دون كفر، ح:٢٩)

"मैंने जहन्नम का निरीक्षण किया तो उसमें बड़ी संख्या औरतों की थी, (इसकी वजह यह है कि) वह नाशुक्री करती हैं। पूछा गया, क्या वह अल्लाह की नाशुक्री करती हैं? आपने फ़रमाया (नहीं) वह पति की नाशुक्री और एहसान फ़रामोशी करती हैं। अगर तुम उम्र भर एक औरत के साथ उपकार करते रहो, फिर वह तुम्हारी तरफ़ से कोई ऐसी चीज़ देख ले जो उसे अप्रिय हो, तो वह तुरन्त कह उठेगी कि मैंने तेरे यहां कभी सुख देखा ही नहीं।"

जब एक औरत की प्रकृति और स्वभाव ही ऐसा है कि वह उम्र भर के उपकार को मर्द की किसी एक अप्रिय बात पर भुला देती है तो उसे

अगर तलाक़ का हक़ मिल जाता, तो आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि किस आसानी के साथ वह अपना घर उजाड़ लिया करती। और औरत के उस स्वभाव को नबी करीम सल्ल० ही ने बयान नहीं फ़रमाया, बल्कि पश्चिमी बुद्धिजीवियों और उनके विचारकों ने भी माना है। मतलब औरत की यही वह कमज़ोरी है जिसकी वजह से अल्लाह ने मर्द को तलाक़ का हक़ दिया है, लेकिन औरत को नहीं दिया। इसलिए कि उसमें ही औरत का लाभ है औरत का लाभ एक मर्द से जुड़े रहने और उसका जीवन साथी बनकर रहने ही में है न कि घर उजाड़ने में और औरत के इस लाभों को, औरत के मुक़ाबले में मर्द ही सहनशीलता और साहस का प्रदर्शन करके ज़्यादा ध्यान रखता और रख सकता है। फिर इस्लाम का यह हुक्म भी औरत के हित ही में है, यद्यपि आज की औरत, भटकाने वाले प्रोपगंडे का शिकार होकर, उसे अपने पर ज़ुल्म समझे। लेकिन अल्लाह रहमान और रहीम ने इस क़ानून तलाक़ के द्वारा उस पर उसकी प्राकृतिक कमज़ोरी को ध्यान में रखते हुए, दया ही फ़रमाई है, उस पर ज़ुल्म नहीं किया है।

﴿وَمَا رَبُّكَ بِظَلَّامٍ لِّلْعَبِيدِ﴾ (السجدة ٤١/٤٦)

(10)

तीन तलाक़ का मसला?

मसले की क़िस्म और उसके संक्षिप्त तर्क : तलाक़ देने का सही तरीक़ा यह है कि पाकी की हालत में केवल एक तलाक़ दी जाए और वह भी केवल इस सूरत में कि उसके बिना चारा न हो। उसके बाद अगर रुजूअ और सुलह की सूरत बन जाए तो मुहद्दिसीन और चारों फ़ुक़हा के निकट तीन मासिक धर्म या तीन महीने के अंदर रुजूअ और इद्दत गुज़र जाने के बाद दोबारा निकाह हो सकता है। और अगर तलाक़ देने के बाद रुजूअ न हो और इद्दत (तीन मासिक धर्म) गुज़र जाए, तो उनके बीच पति पत्नी का संबंध ख़त्म हो जाएगा। तलाक़शुदा पत्नी उसके बाद आज़ाद है, जहां चाहे निकाह करे, यहां तक कि पहले पति से भी निकाह कर सकती है। इस तरीक़े में दूसरी और तीसरी तलाक़ देने की ज़रूरत ही पेश नहीं आती। और मोटी सी बात है कि जब एक बार ही तलाक़ देने में मसला हल हो जाता है तो एक समय में तीन तलाक़ें क्यों दी जाएं?

लेकिन हमारे देश में जिहालत आम है, यहां तक कि वकील और मुन्शी भी बिल्कुल जाहिल हैं और जिस तरह जाहिल लोग बेसोचे समझे एक ही सांस में तीन तलाक़ें दे देते हैं, अगर कोई वकील या मुन्शी से तलाक़ लिखवाता है तो वह भी तीन तलाक़ें लिखकर उसके हवाले कर देते हैं। यद्यपि नबी अकरम सल्ल० ने एक ही बार तीन तलाक़ें देने पर सख़्त ग़ुस्सा व्यक्त किया है और उसे अल्लाह की किताब के साथ हंसी मज़ाक़ क़रार दिया है और इसी ग़लत तरीक़े की वजह से फिर मतभेद भी हो जाता है, कुछ उलमा कहते हैं कि इस तरह तीनों तलाक़ें हो गई हैं और अब हलाला के सिवा कोई चारा नहीं, उसके बिना दोनों का दोबारा निकाह नहीं हो सकता। यद्यपि हलाले की कोई अवधारणा इस्लाम में नहीं है, यह

एक लानती काम है जिसे कोई ग़ैरतमन्द मर्द और औरत सहन नहीं कर सकती और नबी सल्ल० ने हलाला करने वाले और करवाने वाले दोनों पर लानत भेजी है और हलाला करने वाले को किराये का सांड क़रार दिया है। इसके विपरीत दूसरे उलमा का दृष्टिकोण यह है कि एक मज्लिस की तीन तलाक़ें एक ही तलाक़ रजई मानी जाएगी, अर्थात उसके बाद पति अगर रुजूअ करना चाहे तो वह तीन महीने की इद्दत के अंदर रुजूअ कर सकता है, इसके लिए उसे निकाह की भी ज़रूरत नहीं है। हां अगर इद्दत गुज़रने के बाद समझौता करना चाहेंगे तो फिर निकाह ज़रूरी है और हलाले के बिना उनका आपस में निकाह करना जाइज़ होगा। पहली बार और दूसरी बार तलाक़ में यही हुक्म होगा। अलबत्ता तीसरी बार तलाक़ के बाद न रुजूअ हो सकता है और न निकाह (हत्ता तनकि-ह ज़ोजन ग़ैरहु) यहां तक कि किसी दूसरे मर्द से निकाह न कर ले। इस दृष्टिकोण के तर्क निम्न हैं :

क़ुरआनी दलील : क़ुरआन करीम में अल्लाह तआला का आदेश है :

﴿ الطَّلَاقُ مَرَّتَانِ فَإِمْسَاكٌ بِمَعْرُوفٍ أَوْ تَسْرِيحٌ بِإِحْسَانٍ ﴾ (البقرة:٢/٢٢٩)

"तलाक़ दो बार है, फिर (उसके बाद) भलाई के साथ रोक लेना है या उपकार के साथ छोड़ देना।" (बक़रा : 229)

मतलब यह है कि मुसलमान को तलाक़ देने के बाद पत्नी से रुजूअ करके अपने पास रोक लेने या तलाक़ को प्रभावी करके उपकार के साथ उसे अपने से जुदा कर देने का दो बार हक़ हासिल है। अलबत्ता तीसरी तलाक़ के बाद यह हक़ नहीं। तीसरी तलाक़ के बाद पत्नी हमेशा के लिए जुदा हो जाती है, उससे रुजूअ हो सकता है न निकाह। यहां तक कि वह किसी और व्यक्ति से आबाद होने की नीयत से बाक़ायदा निकाह करे। फिर वह अपनी इच्छा से उसे तलाक़ दे दे या मर जाए, तो पहले पति से उसका दोबारा निकाह हो सकता है।

क़ुरआन करीम की इस शैली से साफ़ स्पष्ट है कि एक ही बार तीन तलाक़ें देना या एक मज्लिस की तीन तलाक़ों को तीन मान करके पत्नी को हमेशा के लिए जुदा कर देना, क़ुरआन के उल्लिखित हुक्म से टकराना है। अल्लाह तआला तो यह फ़रमाता है कि पहली और दूसरी तलाक़ के बाद सोचने और विचार करने का अवसर और गुंजाइश बाक़ी है। लेकिन लोग एक मज्लिस की तीन तलाक़ों को तीन ही मान करके अल्लाह तआला के दिए हुए अवसर और गुंजाइश को ख़त्म कर देते हैं जो किसी तरह से भी सही और सराहनीय नहीं, क्योंकि इस तरह वह हिक्मत ख़त्म हो जाती है जो पहली और दूसरी तलाक़ के बाद रुजूअ करने की गुंजाइश में मौजूद है। इसलिए एक मज्लिस की तीन तलाक़ों को एक ही तलाक़ रजई मानना, जिसके बाद इद्दत के अंदर पति को रुजूअ करने का हक़ हासिल हो, क़ुरआन करीम की रू से ज़्यादा सही है और निम्न हदीसों से भी इसकी पुष्टि होती है।

हदीसों से विवेचन : हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० से रिवायत है :

«طَلَّقَ رُكَانَةُ بْنُ عَبْدِ يَزِيدَ أَخُو بَنِي مُطَّلِبِ امْرَأَتَهُ ثَلَاثًا فِي مَجْلِسٍ وَاحِدٍ، فَحَزِنَ عَلَيْهَا حُزْنًا شَدِيدًا، قَالَ: فَسَأَلَهُ رَسُولُ اللهِ ﷺ كَيْفَ طَلَّقْتَهَا؟ قَالَ: طَلَّقْتُهَا ثَلَاثًا، قَالَ: فَقَالَ: فِي مَجْلِسٍ وَاحِدٍ؟ قَالَ: نَعَمْ، قَالَ: فَإِنَّمَا تِلْكَ وَاحِدَةٌ، فَارْجِعْهَا إِنْ شِئْتَ، قَالَ: فَرَجَعَهَا» (مسند احمد: ١/ ٢٦٥)

"हज़रत रुकाना रज़ि० ने अपनी पत्नी को एक मज्लिस में तीन तलाक़ें दे दीं, लेकिन बाद में सख़्त दुखी हुए। रसूलुल्लाह सल्ल० ने उनसे पूछा : तुमने उसे किस तरह तलाक़ दी थी? उन्होंने कहा : तीन बार। आपने पूछा : एक ही मज्लिस में तलाक़ें दी थीं? उन्होंने कहा : हां। आपने फ़रमाया : फिर यह एक ही तलाक़ हुई है, अगर तुम चाहो तो रुजूअ कर सकते हो।

रावी हदीस हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० ने बयान किया कि उसके बाद हज़रत रुकाना रज़ि० ने अपनी पत्नी से रुजूअ कर लिया।"

हज़रत अब्दुल्लाह बिन अब्बास रज़ि० बयान फ़रमाते हैं :

«كَانَ الطَّلَاقُ عَلَى عَهْدِ رَسُولِ اللهِ ﷺ وَأَبِي بَكْرٍ وَسَنَتَيْنِ مِنْ خِلَافَةِ عُمَرَ، طَلَاقُ الثَّلَاثِ وَاحِدَةً» (صحيح مسلم، الطلاق، باب طلاق الثلاث، ح: ١٤٧٢)

"रिसालत दौर और अबूबक्र रज़ि० और हज़रत उमर फ़ारूक़ रज़ि० की ख़िलाफ़त के प्रारंभिक दो सालों तक एक मज्लिस की तीन तलाक़ें एक ही तलाक़ मानी जाती थीं।"

इन दोनों हदीसों से भी स्पष्ट है कि एक मज्लिस की तीन तलाक़ें एक ही तलाक़ रजई मान्य होगी।

अनेक हनफ़ी उलमा का स्वीकार : इन्हीं उल्लिखित क़ुरआन व हदीस के तर्कों की बुनियाद पर मौजूदा दौर के बहुत से उलमाए अहनाफ़ ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है कि एक मज्लिस की तीन तलाक़ों को एक ही तलाक़ मान करके पति को इद्दत के अंदर रुजूअ करने का और इद्दत गुज़रने के नए निकाह के बाद (बिना प्रचलित हलाला के) अपनी तलाक़शुदा पत्नी को अपने घर बसाने का हक़ हासिल है। जैसे मौलाना सईद अहमद अकबराबादी, (सम्पादक माहनामा "बुरहान" दिल्ली) मौलाना अब्दुल हलीम क़ासमी, (जामिया हनफ़िया गुलबर्ग, लाहौर) मौलाना पीर करम शाह अज़हरी, (जज सुप्रीम एपीलेट शरीअत पंच, पाकिस्तान) मौलाना हसीन अली वां भचरां और अन्य लोग हैं जिसका विवरण "एक मज्लिस की तीन तलाक़ें" नामक किताब में देखा जा सकता है। इस किताब में पीर करम शाह अज़हरी का एक तर्कसंगत लेख भी शामिल है, जिसमें इसी मसलक की हिमायत की गई है।

इसके अलावा मौलाना अब्दुल हई लखनवी हनफ़ी से पूछा गया कि ज़ैद ने अपनी पत्नी को तीन तलाक़ें दे दीं। लेकिन ज़ैद को अपनी पत्नी से बड़ी मुहब्बत है और जुदाई सहन योग्य नहीं है, तो मजबूरी में मज़हब शाफ़ई की तक़्लीद करते हुए निकाह जाइज़ होगा या नहीं? इसके जवाब में मौलना अब्दुल हई मरहूम ने फ़रमाया : "सख़्त ज़रूरत के समय मज़हब शाफ़ई की तक़्लीद करना जाइज़ है।"

(फ़तावा मौलाना अब्दुल हई, पृ० : 166)

मतलब मौलाना मरहूम का यह है कि अगर बिगाड़ का ख़तरा हो तो दूसरे मज़हब के फ़तवा के अनुसार निकाह करके अपना घर आबाद कर लिया जाए। यही इजाज़त मौलाना किफ़ायतुल्लाह मरहूम मुफ़्ती आज़म हिन्द ने भी ख़ास हालात के लिए दी है। अतः उनके मज्मूआ फ़तावा में एक सवाल जवाब मौजूद है। जिसका सारांश यह है कि एक हनफ़ी ने तीन तलाक़ के बाद अहले हदीस आलिम से फ़तवा लेकर अपनी पत्नी से रुजूअ कर लिया, जिस पर दूसरे उलमा ने अहले हदीस मुफ़्ती पर कुफ़्र का फ़तवा लगा दिया और उसके बहिष्कार का हुक्म दिया और मस्जिद में आने से रोक दिया। (सवाल किया गया कि) क्या यह काम जाइज़ है? उसका जवाब दिया गया।

एक मज्लिस में तीन तलाक़ें देने से तीनों तलाक़ें पड़ जाने का मज़हब जमहूर उलमा का है और चारों इमाम उस पर सहमत हैं। जमहूर उलमा और चारों इमाम के अलावा कुछ उलमा उसके क़ायल ज़रूर हैं कि एक तलाक़ रजई होती है और यह मज़हब अहले हदीस ने भी अपनाया है और हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० और ताऊस व इकरमा व इब्ने इसहाक़ से मंक़ूल है। अतः किसी अहले हदीस को इस हुक्म की वजह से काफ़िर कहना सही नहीं और न वह बहिष्कार किए जाने योग्य और न मस्जिद से निकाले जाने योग्य है। हां हनफ़ी का अहले हदीस से फ़तवा हासिल करना और उस पर अमल करना, तो यह फ़तवा के हिसाब से नाजाइज़ था।

लेकिन अगर उसने भी मजबूरी और परेशानी की हालत में ऐसा किया हो, तो क्षमा योग्य है। (किफ़ायतुल मुफ़्ती, भाग : 6, पृ० : 361)

इस विवरण से स्पष्ट है कि एक मज्लिस की तीन तलाक़ों के एक ही मानने में अहले हदीस अकेले नहीं हैं, बल्कि सहाबा से वर्त्तमान दौर तक हर दौर में ऐसे उलमा व इमाम मौजूद रहे हैं जो उसे एक तलाक़ रजई में मानते हैं। लेकिन इसके बावजूद कुछ लोग इस मसले में अहले हदीस को अकारण बुरा कहते हैं। जैसे मौलाना मुहम्मद यूसुफ़ लुधियानवी मरहूम सम्पादक "बैनात" कराची ने अपनी किताब "मतभेद उम्मत और सिराते मुस्तक़ीम" पहले भाग के अन्त में इस सिलसिले में अहले हदीस के ख़िलाफ़ ज़हर उगला है।

हम मुनासिब समझते हैं कि इस विषय के ज़रूरी गोशों का स्पष्टीकरण कर दिया जाए ताकि अहले हदीस पर उड़ाई हुई धूल मिट्टी साफ़ और मसले की सफ़ाई हो जाए। सम्पादक "बैनात" की बातचीत का सारांश यह है :

1. एक मज्लिस में दी गई तीन तलाक़ों को तीन ही मानने का फ़तवा उमर रज़ि० ने दिया था।
2. किसी सहाबी व ताबई का विरोध उनकी जानकारी में नहीं।
3. यही मज़हब चारों इमामों का है, जो सम्पादक "बैनात" के निकट उम्मत की सहमति के जैसा है।
4. इस मसले में अहले हदीस इज्माअ उम्मत से हटकर शीयों के नक़्शे क़दम पर हैं।

हमारी विनती : असल मसले की हैसियत और उसके संक्षिप्त तर्क हम बयान कर आए हैं। अगले पृष्ठों में हम इस विषय के विवरण से हटते हुए केवल उल्लिखित चार बातों ही पर बहस करेंगे। इन्शाअल्लाह इसी से मसले के अहम पहलू भी स्पष्ट हो जाएंगे और मसलक अहले

हदीस की सच्चाई भी।

1. हज़रत उमर रज़ि० का फ़तवा : हज़रत उमर रज़ि० के उपरोक्त फ़तवे पर ही अगर फ़िक़्ही पक्षपात से अलग होकर सोच विचार कर लिया जाए तो मसले की कुंजी हाथ में आ जाती और मसले का हल निकल आता है। हज़रत उमर रज़ि० के इस फ़तवे के शब्द ये हैं :

«عَنِ ابْنِ عَبَّاسٍ قَالَ: كَانَ الطَّلَاقُ عَلَى عَهْدِ رَسُولِ اللهِ ﷺ وَأَبِي بَكْرٍ وَسَنَتَيْنِ مِنْ خِلَافَةِ عُمَرَ، طَلَاقُ الثَّلَاثِ وَاحِدَةً، فَقَالَ عُمَرُ بْنُ الْخَطَّابِ: إِنَّ النَّاسَ قَدِ اسْتَعْجَلُوا فِي أَمْرٍ كَانَتْ لَهُمْ فِيهِ أَنَاةٌ، فَلَوْ أَمْضَيْنَاهُ عَلَيْهِمْ فَأَمْضَاهُ عَلَيْهِمْ»(صحيح مسلم، الطلاق، باب طلاق الثلاث، ح:١٤٧٢)

हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० फ़रमाते हैं कि रसूलुल्लाह सल्ल० के ज़माना, हज़रत अबूबक्र के दौर और हज़रत उमर की ख़िलाफ़त के प्रारंभिक दो सालों में तीन तलाक़ को एक ही माना जाता था। लेकिन हज़रत उमर ने फ़रमाया : "जिस मामले (अर्थात तलाक़) में लोगों को सोच विचार से काम लेना चाहिए था, उसमें वे जल्दबाज़ी से काम लेने लगे हैं, अतः हम क्यों न उसको लागू कर दें।"

अतः आपने उसको उन पर लागू कर दिया।

इस हदीस को एक शब्द या एक मज्लिस में तीन तलाक़ों को तीन ही तलाक़ें शुमार करने के सुबूत में पेश किया जाता है और दावा किया जाता है कि उस पर सहाबा की सहमति हो गई है। लेकिन इसी हदीस से यह भी तो स्पष्ट रूप से मालूम हो रहा है कि स्वयं रिसालत दौर में और आपके बाद हज़रत अबूबक्र सिद्दीक़ बल्कि स्वयं हज़रत उमर की स्वयं ख़िलाफ़त के प्रारंभिक दो साल में किया था? यही न कि तीन तलाक़ों को एक ही तलाक़ माना जाता था। इंसाफ़ से सोचने की बात यह है कि वह तआम्मुल ज़्यादा सही है जो रिसालत व सिद्दीक़ी दौर और उसके दो

साल बाद तक रहा या वह तआम्मुल जिस का आरंभ हज़रत उमर रज़ि० की ख़िलाफ़त के दो साल बाद से हुआ? अर्थात तआम्मुल रिसालत व सिद्दीक़ी दौर का प्रमुखता रखता है या हज़रत उमर रज़ि० के दौर का?

घटना यह है कि सहीह मुस्लिम की यह हदीस, जिसे हमारे भाई तीन तलाक़ के स्वीकरण में पेश करते हैं। इसी मसलक की हिमायत करती है जिसमें एक मज्लिस में दी गई तीन तलाक़ें एक ही तलाक़ मानने का फ़तवा दिया जाता है।

फ़ारूक़ी फ़तवा की हक़ीक़त : रही यह बात कि रिसालत व सिद्दीक़ी दौर के विपरीत हज़रत उमर रज़ि० ने क्यों हुक्म लागू किया? तो विनती है कि इसी हदीस में उसकी यह वजह बयान कर दी गई है कि लोग अधिकता से तलाक़ें देने लगे थे जबकि शरीअत ने उसमें बड़े सोच विचार और सब्र व सहनशीलता से काम लेने की ताकीद की है। और एक साथ तीन तलाक़ें शरीअते इस्लामिया में सख़्त नापसन्दीदा काम है जो क़ुरआनी आदेश (अत्तलाक़ु मर्रतानि) के भी ख़िलाफ़ है और नबी सल्ल० के आदेश के भी बिल्कुल विरुद्ध। नबी सल्ल० ने एक साथ तीन तलाक़ों को ''किताबुल्लाह के साथ खेल'' क़रार दिया है।

सुनन नसाई में हदीस है कि एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी को तीन तलाक़ें दे डालीं, आपको जब मालूम हुआ तो आप बड़े क्रोधित हुए और फ़रमाया :

«أَيُلْعَبُ بِكِتَابِ اللهِ وَأَنَا بَيْنَ أَظْهُرِكُمْ؟» (سنن النسائي، الطلاق، باب الثلاث المجموعة وما فيه من التغليظ، ح: ٣٤٣٠)

''मेरी मौजूदगी में अल्लाह की किताब के साथ इस तरह हंसी मज़ाक़ की जा रही है।''

हज़रत उमर रज़ि० उसको इतना नापसन्द फ़रमाते थे कि जिस

व्यक्ति के बारे में उनको पता चलता कि उसने एक समय में तीन तलाक़ें दी हैं तो उसकी पुश्त पर कोड़े लगाते।

«أَنَّ عُمَرَ كَانَ إِذَا أُتِيَ بِرَجُلٍ طَلَّقَ امْرَأَتَهُ ثَلَاثًا أَوْجَعَ ظَهْرَهُ»(فتح

الباري، باب من جوّز الطلاق الثلاث:٩/٤٤٩)

लेकिन जब हज़रत उमर रज़ि० ने देखा कि लोग तलाक़ के मसले में इस सावधानी व सूझ बूझ से काम नहीं लेते जो शरीअत का मन्शा है और तलाक़ का वह सही तरीक़ा इख़्तियार नहीं करते जो शरीअत ने बतलाया है कि तलाक़ एक शब्द पाकी की हालत में दी जाए, बल्कि एक समय में तीन तलाक़ें अधिकता से देने लगे हैं तो हज़रत उमर के ज़ेहन में यह बात आई कि क्यों न तीन तलाक़ों को तीन ही मानने की बात लागू कर दी जाए ताकि इस सख़्त काम से लोगों को कुछ भय हो और अधिकता से एक समय में तलाक़ देने के रुझान का साहस न हो। यह मानो एक ताज़ीरी व चेताने वाला क़दम था जो इज्तिहाद के तौर पर हज़रत उमर रज़ि० ने इख़्तियार किया था जैसा कि और भी कई मसाइल में उन्होंने ऐसे ही इज्तिहादी क़दम उठाए थे।

ये ज़रूरतें और हज़रत उमर रज़ि० के क़दम उठाने की पृष्ठ भूमि चूंकि सहाबा किराम रज़ि० की जानकारी में थी। इसलिए उस समय सहाबा किराम रज़ि० ने भी ख़ामोशी इख़्तियार की। अतः हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम रह० लिखते हैं :

«رَأَى أَمِيرُ الْمُؤْمِنِينَ عُمَرُ رَضِيَ اللهُ عَنْهُ، أَنَّ النَّاسَ قَدِ اسْتَهَانُوا بِأَمْرِ الطَّلَاقِ، وَكَثُرَ مِنْهُمْ إِيقَاعُهُ جُمْلَةً وَاحِدَةً، فَرَأَى مِنَ الْمَصْلَحَةِ عُقُوبَتَهُمْ بِإِمْضَائِهِ عَلَيْهِمْ، لِيَعْلَمُوا أَنَّ أَحَدَهُمْ إِذَا أَوْقَعَهُ جُمْلَةً بَانَتْ مِنْهُ الْمَرْأَةُ وَحَرُمَتْ عَلَيْهِ حَتَّى تَنْكِحَ زَوْجًا غَيْرَهُ نِكَاحَ رَغْبَةٍ يُرَادُ لِلدَّوَامِ لَا نِكَاحَ تَحْلِيلٍ، فَإِنَّهُ كَانَ مِنْ أَشَدِّ النَّاسِ فِيهِ، فَإِذَا عَلِمُوا ذٰلِكَ كَفُّوا عَنِ الطَّلَاقِ الْمُحَرَّمِ، فَرَأَى

عُمَرُ أَنَّ هٰذَا مَصْلَحَةٌ، لَهُمْ فِي زَمَانِهِ، وَرَأٰى أَنَّ مَا كَانُوا عَلَيْهِ فِي عَهْدِ النَّبِيِّ ﷺ وَعَهْدِ الصِّدِّيقِ وَصَدْرًا مِّنْ خِلَافَتِهِ كَانَ الْأَلْيَقُ بِهِمْ، لِأَنَّهُمْ لَمْ يَتَتَابَعُوا فِيهِ، وَكَانُوا يَتَّقُونَ اللّٰهَ فِي الطَّلَاقِ، وَقَدْ جَعَلَ اللّٰهُ لِكُلِّ مَنِ اتَّقَاهُ مَخْرَجًا، فَلَمَّا تَرَكُوا تَقْوَى اللّٰهِ وَتَلَاعَبُوا بِكِتَابِ اللّٰهِ وَطَلَّقُوا عَلٰى غَيْرِ مَا شَرَعَهُ اللّٰهُ أَلْزَمَهُمْ بِمَا الْتَزَمُوهُ عُقُوبَةً لَهُمْ، فَإِنَّ اللّٰهَ تَعَالٰى إِنَّمَا شَرَعَ الطَّلَاقَ مَرَّةً بَعْدَ مَرَّةٍ، وَلَمْ يَشْرَعْهُ كُلَّهُ مَرَّةً وَاحِدَةً، فَمَنْ جَمَعَ الثَّلَاثَ فِي مَرَّةٍ وَاحِدَةٍ فَقَدْ تَعَدّٰى حُدُودَ اللّٰهِ، وَظَلَمَ نَفْسَهُ، وَلَعِبَ بِكِتَابِ اللّٰهِ، فَهُوَ حَقِيقٌ أَنْ يُعَاقَبَ، وَيُلْزَمَ بِمَا الْتَزَمَهُ، وَلَا يُقَرُّ عَلٰى رُخْصَةِ اللّٰهِ وَسِعَتِهِ، وَقَدْ صَعَّبَهَا عَلٰى نَفْسِهِ، وَلَمْ يَتَّقِ اللّٰهَ وَلَمْ يُطَلِّقْ كَمَا أَمَرَهُ اللّٰهُ وَشَرَعَهُ لَهُ، بَلِ اسْتَعْجَلَ فِيمَا جَعَلَ اللّٰهُ لَهُ الْأَنَاةَ فِيهِ رَحْمَةً مِنْهُ وَإِحْسَانًا، وَلَبَّسَ عَلٰى نَفْسِهِ، وَاخْتَارَ الْأَغْلَظَ وَالْأَشَدَّ فَهٰذَا مِمَّا تَغَيَّرَتْ بِهِ الْفَتْوٰى لِتَغَيُّرِ الزَّمَانِ، وَعَلِمَ الصَّحَابَةُ رَضِيَ اللّٰهُ عَنْهُمْ حُسْنَ سِيَاسَةِ عُمَرَ وَتَأْدِيبَهُ لِرَعِيَّتِهِ فِي ذٰلِكَ فَوَافَقُوهُ عَلٰى مَا أَلْزَمَ بِهِ (اعلام الموقعين: ٣/٣٥، ٣٦ طبع جديد ١٩٦٩ء)

हज़रत उमर रज़ि० ने जो कुछ किया वह एक समय की ज़रूरत था न कि शरई मसला, एक काम जो मना था, जो ख़िलाफ़े सुन्नत था लेकिन अगर किसी से हो जाए तो शरीअत उसे पकड़ती न थी जब लोगों ने अधिकता से निडर होकर उसे शुरू कर दिया तो आपने क़ानून की हैसियत से यह हुक्म दिया कि मैं आगे से तीन को तीन ही गिन लूंगा। यह केवल इसलिए था कि लोग एक साथ तीन तलाक़ें देने से रुक जाएं। वर्ना फिर तीन साल तक यह हुक्म शरई क्यों जारी न किया? तो यह हुक्म शरई नहीं बल्कि क़ानूनी हैसियत रखता है कि लोग डर जाएं कि अगर अब हमने ऐसा किया तो पत्नी निकाह से बाहर हो जाएगी जब तक

वह दूसरे से निकाह न करे। और निकाह भी बाक़ायदा चाहत के साथ हमेशा के लिए हो, न यह कि हलाला करके छोड़ दे क्योंकि हज़रत उमर रज़ि० हलाला के बड़े सख़्त विरोधी थे। अतः जनाब फ़ारूक़ रज़ि० का विचार यह हुआ कि पहले के लोगों के योग्य जो था उससे इस समय के लोग महरूम कर दिए जाने के योग्य हो गए हैं वे इस प्रकार लगातार तलाक़ें नहीं देते थे, तलाक़ के मामले में तरीक़ा तलाक़ को ध्यान में रखते थे। खुदा से डरते थे इसलिए अल्लाह तआला ने भी उनके साथ असानी कर रखी थी। अब जबकि यही चीज़ लगातार होने लगी तो क्या वजह जो हम उन्हें उस खुदा के इनाम से महरूम न कर दें ताकि उनके दिमाग़ और उनके काम फिर सही हो जाएं अतः यह फ़तवा मानो एक फ़ारूक़ी कोड़ा था जो उनकी सज़ा के लिए था न यह कि हज़रत उमर रज़ि० ने हुक्म शरई बदल दिया।

शरई तलाक़ एक के बाद एक है न कि सब एक साथ। जो ऐसा करता है वह हद से गुज़र जाता है, अपने नफ़्स पर ज़ुल्म करता है और खुदा के आदेशों के साथ खेल करता है तो वह इस योग्य हो गया कि समय का शासक सज़ा के तौर पर उस पर कोई सख़्ती कर दे। यह खुदा की आयतों से खेलता है तो क्यों न खुदा की छूट से महरूम कर दिया जाए ताकि उसकी आंखें खुल जाएं अतः यह तो इसी क़बील से है कि ज़माना के बदलने से हुक्म भी बदल जाता है। इस हिक्मत को ध्यान में रखकर फ़ारूक़ी राजनीति का साथ सहाबा ने भी दिया और ऐसे ही फ़तवे देने शुरू किए।" (दीने मुहम्मदी, भाग : 2, हिस्सा पांच, पृ० : 804, तबअ लाहौर)

इसी तरह इमाम इब्ने क़य्यिम रह० ने हज़रत उमर रज़ि० के इस इज्तिहादी काम की सामाजिक ज़रूरतें और उसमें मौजूद अन्य कारण अग़ासतुल हफ़ान मिन मसायदिश्शैतान में भी बयान किए हैं।

(देखिए, भाग : 1, पृ० : 315, 349, 351, 352 तबा जदीद)

स्वयं हनफ़ी फ़ुक़हा भी मानते हैं कि हज़रत उमर रज़ि० के प्रारंभिक

ज़माने तक तीन तलाक़ें एक ही तलाक़ समझी जाती थीं। फिर लोगों की अधिकता से तलाक़ देने की वजह से हज़रत उमर रज़ि० ने तीन तलाक़ को तीन ही मानने का हुक्म राजनीतिक सूझ बूझ के तौर पर लागू कर दिया। अतः इमाम तहतावी दुर्रे मुख़्तार के हाशिये में क़हस्तानी के हवाले से लिखते हैं :

«إِنَّهُ كَانَ فِي الصَّدْرِ الْأَوَّلِ إِذَا أَرْسَلَ الثَّلَاثَ جُمْلَةً لَمْ يُحْكَمْ إِلَّا بِوُقُوعِ وَاحِدَةٍ إِلَى زَمَنِ عُمَرَ ثُمَّ حَكَمَ بِوُقُوعِ الثَّلَاثِ سِيَاسَةً لِكَثْرَتِهِ مِنَ النَّاسِ» (الدر مختار: ۲/۱۰۵ وجامع الرموز، ص: ۳۲۱)

हज़रत उमर रज़ि० का पश्चाताप : इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हज़रत उमर रज़ि० का यह फ़तवा सज़ा के तौर पर था। और कुछ सज़ाएं हालात व ज़रूरत के हिसाब से तब्दील होती रहती हैं। हज़रत उमर रज़ि० ने इस हुक्म को जारी करते समय यह कदापि नहीं फ़रमाया था कि यह रसूलुल्लाह सल्ल० का आदेश है बल्कि उन्होंने उसकी निस्बत अपनी तरफ़ ही की है।

अतः आख़िरी दिनों में उन्हें इस बात का एहसास भी हुआ कि मुझे सज़ा के तौर पर भी यह काम नहीं करना चाहिए था जिस पर उन्होंने पश्चाताप भी किया। (देखें : अग़ासतुल हफ़ान, भाग : 1, पृ० 351)

फिर एक ताज़ीरी और इज्तिहादी काम को दीन व शरीअत का दर्जा नहीं दिया जा सकता ख़ासकर जबकि रिसालत व सिद्दीक़ी दौर में तीन तलाक़ों को एक ही तलाक़ समझा जाता था।

2. सहाबा व ताबईन के फ़तवे : दूसरी बात सम्पादक महोदय ने यह फ़रमाई है कि किसी सहाबी व ताबई का हज़रत उमर रज़ि० से भिन्न फ़तवे का उन्हें पता नहीं।

महोदय! आपको अगर पता नहीं तो आपकी सूचना के लिए अर्ज़ है कि सहाबा रज़ि० ताबईन व तबअ ताबईन रह० के अनेक ऐसे फ़तावे

मौजूद हैं कि एक समय में तीन तलाक़ें एक ही के हुक्म में होते हैं अतः बहुत सी किताबों टीकाओं, हदीस, हदीस की व्याख्याओं और फ़िक़्ह की किताबों में वे मौजूद हैं। ऐसे कुछ हवाले प्रस्तुत हैं जिनसे ऐसे अनेक सहाबा व ताबईन के फ़तवों का पता चलता है जिनके बारे में सम्पादक ने बिल्कुल अज्ञानता व्यक्त की।

शैख़ुल इस्लाम इमाम इब्ने तैमिया रह० : ने अनेक स्थानों पर इस विषय पर विस्तार से लिखा है। यहां इमाम मौसूफ़ की एक इबारत पेश की जाती है। लिखते हैं :

«(وَكَذَلِكَ) إِذَا طَلَّقَهَا ثَلَاثًا بِكَلِمَةٍ أَوْ كَلِمَاتٍ فِي طُهْرٍ وَاحِدٍ فَهُوَ مُحَرَّمٌ عِنْدَ جُمْهُورِ الْعُلَمَاءِ، وَتَنَازَعُوا فِيمَا يَقَعُ بِهَا، فَقِيلَ: يَقَعُ بِهَا الثَّلَاثُ، وَقِيلَ لَا يَقَعُ بِهَا إِلَّا طَلْقَةٌ وَاحِدَةٌ، وَهَذَا هُوَ الْأَظْهَرُ الَّذِي يَدُلُّ عَلَيْهِ الْكِتَابُ وَالسُّنَّةُ، كَمَا قَدْ بُسِطَ فِي مَوْضِعِهِ» (فتاوى ابن تيمية: ٢/٨٦)

"अगर कोई व्यक्ति एक पाकी में एक कलिमा के साथ या तीन कलिमों के साथ तीन तलाक़ें दे तो जमहूर उलमा के निकट यह काम (एक समय में तीन तलाक़ देना) हराम है। फिर भी उनके होने में मतभेद है। एक कथन यह है कि तीनों हो जाएंगी और एक कथन यह है कि एक ही तलाक़ होगी और यही बात ज़्यादा सही है जिस पर क़ुरआन व सुन्नत तर्क प्रस्तुत करते हैं जैसा कि अपनी जगह विस्तार से बयान किया जा चुका है।"

हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम : ने भी इस विषय पर बड़े विस्तार से बहस की है। एक जगह लिखते हैं : "सहाबा में से हज़रत इब्ने अब्बास, ज़ुबैर बिन अवाम, अब्दुर्रहमान बिन औफ़ और एक रिवायत की रू से हज़रत अली व अब्दुल्लाह बिन मसऊद रज़ि० भी। ताबईन में से हज़रत इकरमा और इमाम ताऊस और तबअ ताबईन और उनके बाद के इमामों में से

मुहम्मद बिन इसहाक़, हल्लास बिन अम्र, हारिस अकली, दाऊद बिन अली और उनके अधिकांश साथी, कुछ मालिकी, कुछ हनफ़ी मुहम्मद बिन मुक़ातिल आदि और कुछ अहमदी इस बात के क़ायल रहे हैं कि एक मज्लिस में दी गई तीन तलाक़ें एक ही तलाक़ शुमार होंगी।" (आलामुल मौक़िईन, भाग : 3, पृ० : 44, और देखिए अग़ासातुल हफ़ान, भाग : 1, पृ० : 339-341)

अल्लामा अबू हयान उन्दुलुसी : "अत्तलाक़ु मर्रतानि" की टीका में पहले उन लोगों की हिमायत करते हैं जो इससे भिन्न समयों में तलाक़ दिए जाने पर विवेचन करते हैं :

«وَمَازَالَ يَخْتَلِجُ فِي خَاطِرِي أَنَّهُ لَوْ قَالَ أَنْتِ طَالِقٌ مَرَّتَيْنِ أَوْ ثَلَاثًا أَنَّهُ لَا يَقَعُ إِلَّا وَاحِدَةً لِأَنَّهُ مَصْدَرٌ لِلطَّلَاقِ وَيَقْتَضِي الْعَدَدَ فَلَابُدَّ أَنْ يَكُونَ الْفِعْلُ الَّذِي هُوَ عَامِلٌ فِيهِ يَتَكَرَّرُ وُجُودًا كَمَا تَقُولُ ضَرَبْتُ ضَرْبَتَيْنِ أَوْ ثَلَاثَ ضَرَبَاتٍ» (تفسير البحر المحيط: ١/١٩٢ وتفسير النهر الماد برحاشيه تفسير مذكور، ص: ١٩١)

"इसका सारांश यह है कि क़ुरआन के शब्द "अत्तलाक़ु मर्रतानि" से मेरे दिल में हमेशा यही बात आई है कि तलाक़ देने वाला मर्द एक मज्लिस और एक समय में अगर दो या तीन तलाक़ें दे तो वह एक ही तलाक़ हो।"

हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० : फ़त्हुलबारी में सही बुख़ारी के अध्याय 'मन जव्व-ज़ तला-क़स्सलासि' के तहत लिखते हैं :

«وَفِي التَّرْجَمَةِ إِشَارَةٌ إِلَى أَنَّ مِنَ السَّلَفِ مَنْ لَمْ يُجِزْ وُقُوعَ الطَّلَاقِ الثَّلَاثِ»

"तर्जुमतुल बाब में इस बात की तरफ़ इशारा है कि सल्फ़ में ऐसे लोग रहे हैं जो तीन तलाक़ के हो जाने को जाइज़ क़रार नहीं देते हैं।"

फिर वह इसी एक तलाक़ तीन शब्दों की हिमायत करते हुए आम सहमति की हक़ीक़त यूं बेनक़ाब करते हैं :

«نُقِلَ عَنْ عَلِيٍّ وَابْنِ مَسْعُودٍ وَعَبْدِالرَّحْمٰنِ بْنِ عَوْفٍ وَالزُّبَيْرِ مِثْلُهُ، نَقَلَ ذٰلِكَ ابْنُ مُغِيثٍ فِي «كِتَابِ الْوَثَائِقِ» لَهُ وَعَزَاهُ لِمُحَمَّدِ بْنِ وَضَّاحٍ، وَنَقَلَ الْغَنَوِيُّ ذٰلِكَ عَنْ جَمَاعَةٍ مِنْ مَشَايِخِ قُرْطُبَةَ كَمُحَمَّدِ بْنِ تَقِيِّ بْنِ مَخْلَدٍ وَمُحَمَّدِ بْنِ عَبْدِالسَّلَامِ الْخُشَنِيِّ وَغَيْرِهِمَا، وَنَقَلَهُ ابْنُ الْمُنْذِرِ عَنْ أَصْحَابِ ابْنِ عَبَّاسٍ كَعَطَاءٍ وَطَاوُسٍ وَعَمْرِو بْنِ دِينَارٍ وَيُتَعَجَّبُ مِنِ ابْنِ التِّينِ حَيْثُ جَزَمَ بِأَنَّ لُزُومَ الثَّلَاثِ لَا اخْتِلَافَ فِيهِ، وَإِنَّمَا الاخْتِلَافُ فِي التَّحْرِيمِ مَعَ ثُبُوتِ الاخْتِلَافِ كَمَا تَرَى»(فتح الباري، الطلاق:٩/ ٤٥٠)

अर्थात "हज़रत अली, इब्ने मसऊद, अब्दुर्रहमान बिन औफ़ और हज़रत ज़ुबैर रज़ि० भी एक तलाक़ तीन शब्दों के क़ायल हैं। इसी तरह मशाइख़ क़ुरतबी की एक जमाअत जैसे मुहम्मद बिन तक़ी बिन मुख़ल्लद और मुहम्मद बिन अब्दुस्सलाम ख़शनी आदि और असहाबे इब्ने अब्बास जैसे अता, ताऊस, अम्र बिन दीनार भी इसी के क़ायल हैं। इब्ने तीन पर हैरत है कि उन्होंने किस यक़ीन के साथ यह दावा किया है कि तीन तलाक़ के मामले में मतभेद नहीं है, मतभेद केवल पाकी में है। बावजूद इस बात के कि मतभेद साबित है। जैसा कि तुम देख रहे हो।"

इससे पहले हाफ़िज़ साहब ने मुहम्मद बिन इसहाक़ साहब मग़ाज़ी का भी यही मसलक बताया है।

इमाम ऐनी हनफ़ी रह० लिखते हैं :

«وَفِيهِ خِلَافٌ، فَذَهَبَ طَاوُسٌ وَمُحَمَّدُ بْنُ إِسْحَاقَ وَالْحَجَّاجُ بْنُ أَرْطَاةَ وَالنَّخَعِيُّ وَابْنُ مُقَاتِلٍ وَالظَّاهِرِيَّةُ إِلٰى أَنَّ الرَّجُلَ إِذَا طَلَّقَ امْرَأَتَهُ ثَلَاثًا مَعًا فَقَدْ وَقَعَتْ عَلَيْهَا وَاحِدَةٌ»[illegible]

अर्थात "इस मसले में मतभेद है, इमाम ताऊस, मुहम्मद बिन इसहाक़, हज्जाज बिन इरताह, नख़ई, इब्ने मुक़ातिल और ज़ाहिरियह यह इस तरफ़ गए हैं कि जब आदमी अपनी पत्नी को एक साथ तीन तलाक़ें दे तो वह एक ही शुमार होंगी।"

इमाम नववी रह० सहीह मुस्लिम की व्याख्या में लिखते हैं :

«قَدِ اخْتَلَفَ الْعُلَمَاءُ فِيمَنْ قَالَ لِامْرَأَتِهِ: أَنْتِ طَالِقٌ ثَلَاثًا، فَقَالَ الشَّافِعِيُّ وَمَالِكٌ وَأَبُوحَنِيفَةَ وَأَحْمَدُ وَجَمَاهِيرُ الْعُلَمَاءِ مِنَ السَّلَفِ وَالْخَلَفِ: يَقَعُ الثَّلَاثُ وَقَالَ طَاوُسٌ وَبَعْضُ أَهْلِ الظَّاهِرِ لَا يَقَعُ بِذٰلِكَ إِلَّا وَاحِدَةً، وَهُوَ رِوَايَةٌ عَنِ الْحَجَّاجِ بْنِ أَرْطَاةَ، وَمُحَمَّدِ بْنِ إِسْحَاقَ وَالْمَشْهُورُ عَنِ الْحَجَّاجِ بْنِ أَرْطَاةَ أَنَّهُ لَا يَقَعُ بِهِ شَيْءٌ، وَهُوَ قَوْلُ ابْنِ مُقَاتِلٍ، وَرِوَايَةٌ عَنْ مُحَمَّدِ بْنِ إِسْحَاقَ»

(صحيح مسلم مع شرح نووي، باب طلاق الثلاث: ١٠/١٠٤)

"इसमें मतभेद है कि एक समय में तीन तलाक़ें दे देने का क्या हुक्म है। इमाम शाफ़ई, इमाम मालिक, इमाम अबू हनीफ़ा, इमाम अहमद और जमहूर उलमाए सल्फ़ व ख़ल्फ़ रह० कहते हैं कि इस तरह तीन तलाक़ें हो जाएंगी, और इमाम ताऊस (ताबई) और कुछ अहले ज़ाहिरियह इसके क़ायल हैं कि इस तरह एक ही तलाक़ होगी। यही हज्जाज बिन इरताह और मुहम्मद बिन इसहाक़ से मरवी है, यद्यपि हज्जाज बिन इरताह का मशहूर कथन यह है कि इस तरह कुछ भी नहीं होता और यही कथन इब्ने मुक़ातिल का है और एक रिवायत मुहम्मद बिन इसहाक़ से भी यही है।"

सहमति का दावा : उलमाए उम्मत के इन स्पष्टीकरण से स्पष्ट हो गया है कि उनका वह मसला सर्व सम्मत नहीं बल्कि उसमें आरंभ ही से मतभेद चला आ रहा है। इस सिलसिले का और स्पष्टीकरण देखिए।

जिससे सहमति के दावे की हक़ीक़त भी बेनक़ाब हो जाती है।

इमाम तहावी हनफ़ी रह० : हनफ़िया के उच्च कोटि विद्वान इमाम तहावी इसी एक समय में तीन तलाक़ के मसले पर बहस करते हुए लिखते हैं :

«فَذَهَبَ قَوْمٌ إِلَى أَنَّ الرَّجُلَ إِذَا طَلَّقَ امْرَأَتَهُ ثَلَاثًا مَعًا، فَقَدْ وَقَعَتْ عَلَيْهَا وَاحِدَةٌ إِذَا كَانَتْ فِي وَقْتِ سُنَّةٍ وَذٰلِكَ أَنْ تَكُونَ طَاهِرًا فِي غَيْرِ جِمَاعٍ وَاحْتَجُّوا فِي ذٰلِكَ بِهٰذَا الْحَدِيثِ»(شرح معاني الآثار، باب الرجل يطلق امرأته ثلاثا معا: ٣/ ٥٥)

अर्थात "एक गिरोह इस तरफ़ गया है कि मर्द जब अपनी पत्नी को एक साथ तीन तलाक़ें दे तो एक ही तलाक़ होगी जबकि उस समय दी गई हो कि वह पाक हो और उससे मुबाशरत न की गई हो और दलील उनकी यही हदीस है।" (अर्थात सही मुस्लिम की वह हदीस जिसका पहले ज़िक्र हुआ है। जिसमें यह स्पष्टीकरण है कि रिसालत दौर व सिद्दीक़ी दौर और हज़रत उमर रज़ि० के आरंभिक दो सालों में तीन तलाक़ें एक ही मानी जाती थीं।)

मौलाना अब्दुल हई हनफ़ी लखनवी : एक और हनफ़ी शोध कर्त्ता मौलाना अब्दुल हई लखनवी लिखते हैं :

«وَالْقَوْلُ الثَّانِي، أَنَّهُ إِذَا طَلَّقَ ثَلَاثًا تَقَعُ وَاحِدَةٌ رَجْعِيَّةٌ وَهٰذَا هُوَ الْمَنْقُولُ عَنْ بَعْضِ الصَّحَابَةِ وَبِهِ قَالَ دَاوُدُ الظَّاهِرِيُّ وَاتْبَاعُهُ وَهُوَ أَحَدُ الْقَوْلَيْنِ لِمَالِكٍ وَلِبَعْضِ أَصْحَابِ أَحْمَدَ»(عمدة الرعاية: ٢/ ٧١ مطبع انوار محمدي لكهنو)

अर्थात "इस मसले में मतभेद है (पहले शीआ मसलक नक़ल करके लिखते हैं) और दूसरा कथन यह है कि जब एक साथ

तीन तलाक़ें दी जाएं तो वह एक रजअी तलाक़ होंगी। और यही कुछ सहाबा से मंक़ूल है और इसी के क़ायल दाऊद ज़ाहिरी और उनके मानने वाले हैं और एक कथन के अनुसार यही मज़हब इमाम मालिक और इमाम अहमद के कुछ साथियों का है।"

इमाम क़ुरतबी रह० : ने भी इस मसले को विवादित क़रार दिया है और निम्न सहाबा व ताबअीन और अन्य इमामों को इस मसलक का हिमायती बताया है।

"हज़रत अली, इब्ने मसऊद, इब्ने अब्बास, ज़ुबैर बिन अवाम, अब्दुर्रहमान बिन औफ़ रज़ि०, ताऊस कुछ अहले ज़ाहिर, मुहम्मद बिन इसहाक़, हज्जाज बिन इरताह और शुयूख़ क़ुरतबी में से इब्ने ज़म्बाअ शैख़ हुदी, मुहम्मद बिन तक़ी बिन मुख़ल्लद, मुहम्मद बिन अब्दुस्सलाम, असबग़ बिन अल हबाब रह० और उनके अलावा एक जमाअत। (तफ़्सीर क़ुरतबी, ज़ेरे तहत आयत अत्तलाक़ु मर्रतानि, भाग : 3, पृ० 129, 132, तबा मिस्र)

इमाम राज़ी रह० : कबीर में अत्तलाक़ु मर्रतानि के तहत लिखते हैं :

«ثُمَّ الْقَائِلُونَ بِهٰذَا الْقَوْلِ اخْتَلَفُوا عَلٰى قَوْلَيْنِ الأَوَّلُ: وَهُوَ اخْتِيَارُ كَثِيرٍ مِنْ عُلَمَاءِ الدِّينِ، أَنَّهُ لَوْ طَلَّقَهَا اثْنَتَيْنِ أَوْ ثَلاَثًا لاَ يَقَعُ إِلاَّ الْوَاحِدَةُ، وَهٰذَا الْقَوْلُ هُوَ الأَقْيَسُ، لأَنَّ النَّهْيَ يَدُلُّ عَلٰى اشْتِمَالِ الْمَنْهِيِّ عَنْهُ عَلٰى مَفْسَدَةٍ رَاجِحَةٍ، وَالْقَوْلُ بِالْوُقُوعِ سَعْيٌ فِي إِدْخَالِ تِلْكَ الْمَفْسَدَةِ فِي الْوُجُودِ وَإِنَّهُ غَيْرُ جَائِزٍ، فَوَجَبَ أَنْ يَحْكُمَ بِعَدَمِ الْوُقُوعِ» (التفسير الكبير، الجزء السادس، ص:٩٦)

"बहुत से उलमाए दीन का मसलक है कि एक समय में दो या तीन तलाक़ें देने की सूरत में एक ही तलाक़ होगी और यही कथन क़यास के सबसे ज़्यादा निकट है क्योंकि किसी चीज़ से

मना करना उस पर दलालत करता है कि वह चीज़ किसी बड़े बिगाड़ पर आधारित है और यह मसलक (एक समय में तीन तलाक़ों को तीनों मान लेना) इस बिगाड़ और ख़राबी को वजूद में लाने का कारण है और यह बात जाइज़ नहीं अतः न होने (अर्थात एक समय में तीन तलाक़ों के न होने) का हुक्म लगाना ज़रूरी है।''

क़ाज़ी सनाउल्लाह हनफ़ी पानीपती रह० : लगभग यही बात क़ाज़ी सनाउल्लाह हनफ़ी पानीपती रह० ने इस आयत की टीका में लिखी है :

«فَكَانَ الْقِيَاسُ أَنْ لَا يَكُونَ الطَّلْقَتَيْنِ الْمُجْتَمِعَتَيْنِ مُعْتَبَرَةً شَرْعًا وَإِذَا لَمْ يَكُنِ الطَّلْقَتَيْنِ مُعْتَبَرَةً لَمْ يَكُنِ الثَّلَاثُ مُجْتَمِعَةً مُعْتَبَرَةً بِالطَّرِيقِ الأَوْلَى»

''अतः क़यास का तक़ाज़ा यह है कि दो तलाक़ पूरी तरह शरअन विश्वसनीय न हों और जब दो तलाक़ पूरी तरह (इकट्ठी) विश्वसनीय न होंगी तो एक समय में तीन तलाक़ें अपने आप ही विश्वसनीय न होंगी।''

यद्यपि आगे चलकर उन्होंने मज़हब हनफ़ी की हिमायत में होने वाली तीन तलाक़ों पर सहमति का दावा किया है और मज़े की बात यह है कि उससे पहले भी इस मसले का विवादित होना तस्लीम कर आए हैं और कुछ हनाबिला के विरोध का ज़िक्र किया है। फिर मालूम नहीं कि मसला सहमति वाला क्योंकर हो गया?

अल्लामा आलूसी बग़दादी साहब रूहुल मआनी भी इस मसले को विवादित तस्लीम करते हैं :

«وَخَالَفَ فِي ذٰلِكَ الإِمَامِيَّةُ وَبَعْضٌ مِنْ أَهْلِ السُّنَّةِ كَالشَّيْخِ، أَحْمَدَ بْنِ تَيْمِيَّةَ وَمَنْ اتَّبَعَهُ» (تفسير روح المعاني: ٢/٢٠٦)

"इस बारे में मशहूर कथन का विरोध इमामिया ने किया है और अहले सुन्नत के कुछ लोग भी इस तरफ़ गए हैं। जैसे इमाम इब्ने तैमिया और उनके अनुयायी।"

इमाम शौकानी रह० लिखते हैं :

«وَاعْلَمْ أَنَّهُ قَدْ وَقَعَ الْخِلَافُ فِي الطَّلَاقِ الثَّلَاثِ إِذَا أُوْقِعَتْ فِي وَقْتٍ وَاحِدٍ، هَلْ يَقَعُ جَمِيعُهَا وَيَتْبَعُ الطَّلَاقُ الطَّلَاقَ أَمْ لَا؟»
(نيل الأوطار: ٦/ ٢٦٠)

"जब एक समय में तीन तलाक़ें दी जाएं तो इस बारे में मतभेद है कि तीनों की तीनों ही हो जाती हैं और तलाक़ के पीछे तलाक़ हो जाती है या नहीं?"

फिर जमहूर उलमा का मसलक (कि ऐसी सूरत में तीनों तलाक़ें ही हो जाएंगी) नक़ल करने के बाद लिखते हैं :

"और विद्वानों के एक गिरोह का कहना है कि तलाक़ के पीछे तलाक़ नहीं होती बल्कि ऐसी सूरत में एक ही तलाक़ पड़ेगी। हज़रत अबू मूसा और एक रिवायत की रू से हज़रत अली, इब्ने अब्बास, ताऊस, अता, जाबिर बिन ज़ैद मआवी, क़ासिम, बाक़र, नासिर, अहमद बिन ईसा, अब्दुल्लाह बिन मूसा बिन अब्दुल्लाह और एक रिवायत के अनुसार ज़ैद बिन अली का यही मसलक है। और बाद वालों की एक जमाअत भी इस तरफ़ गई है जिसमें इब्ने तैमिया, इब्ने क़य्यिम और शोध कर्त्ताओं का एक गिरोह शामिल है और इब्ने मुग़ीस ने किताबुल वसाइक़ में मुहम्मद बिन वज़ाह का भी यही मसलक नक़ल किया है। और इसी मसलक पर आधारित मशाइख़ क़ुरतबा (जैसे मुहम्मद बिन तक़ी और मुहम्मद बिन अब्दुस्सलाम) का भी एक फ़तवा मंक़ूल है। इसके अलावा इसी किताब में उन्होंने

हज़रत अली, इब्ने मसऊद, अब्दुर्रहमान बिन औफ़ और हज़रत ज़ुबैर रज़ि० का यही मसलक बयान किया है।"

फिर आगे चलकर एक शब्द में तीन तलाक़ के मसलक पर लोगों के स्पष्टीकरण का रद्द करते हुए (कि शायद एक तलाक़ वाला हुक्म निरस्त हो गया हो) लिखते हैं :

«ويجاب بأن النسخ إن كان بدليل من كتاب أو سنة فما هو؟ وإن كان بالإجماع فأين هو؟ على أنه يبعد أن يستمر الناس أيام أبي بكر وبعض أيام عمر على أمر منسوخ وإن كان الناسخ قول عمر المذكور فحاشاه أن ينسخ سنة ثابتة بمحض رأيه، وحاشا أصحاب رسول الله ﷺ أن يجيبوه إلى ذلك ومن الأجوبة دعوى الاضطراب كما زعمه القرطبي في المفهم، وهو زعم فاسد لا وجه له، ومنها ما قاله ابن العربي: إن هذا حديث مختلف في صحته فكيف يقدم على الإجماع؟ ويقال أين الإجماع الذي جعلته معارضا للسنة الصحيحة ... والحاصل أن القائلين بالتتابع قد استكثروا من الأجوبة على حديث ابن عباس وكلها غير خارجة عن دائرة التعسف والحق أحق بالاتباع، فإن كانت تلك المحاماة لأجل مذاهب الأسلاف فهي أحقر وأقل من أن تؤثر على السنة المطهرة وإن كانت لأجل عمر بن الخطاب فأين يقع المسكين من رسول الله ﷺ، ثم أي مسلم من المسلمين يستحسن عقله وعلمه ترجيح قول صحابي على قول المصطفى ﷺ»(نيل الأوطار: ٦/ ٢٦٢، ٢٦٣)

"निरस्त के जवाब में हम कहेंगे कि अगर पहला हुक्म (एक तलाक़ वाला) किताब व सुन्नत की किसी दलील से निरस्त हुआ है तो वह दलील कहां है? और अगर कहा जाए कि

''सहमति'' से वह हुक्म निरस्त हो गया है तो सहमति साबित कब है? इसके अलावा यह बात भी बड़ी सुदूर है कि लोग हज़रत अबूबक्र रज़ि० की ख़िलाफ़त और हज़रत उमर रज़ि० के प्रारंभिक दौर में एक निरस्त हुक्म पर निरंतर अमल करते रहे हों? और अगर दावा किया जाए कि निरस्त करने वाले हज़रत उमर रज़ि० का कथन उल्लिखित (तीन तलाक़ वाला तदबीरी क़दम) है तो यह भी विश्वास योग्य नहीं है कि हज़रत उमर रज़ि० मात्र अपनी राय से एक साबित सुन्नत को निरस्त कर दें? और सहाबा किराम रज़ि० के बारे में भी इस कल्पना से हम पनाह मांगते हैं कि वे इस मामले (अपनी राय से सुन्नत को निरस्त करने) में हज़रत उमर रज़ि० का साथ देते। हदीस इब्ने अब्बास रज़ि० के बारे में परेशानी का दावा भी अनुचित है जिसकी कोई उचित वजह नहीं है इसी तरह यह कहना कि हदीस इब्ने अब्बास की सेहत विवादित है, इसलिए इसे सहमति पर श्रेष्ठ नहीं समझा जा सकता, ग़लत है, आख़िर वह सहमति है कहां जो एक सुन्नत सहीहा की विरोधी है...? बहरहाल लगातार एक समय में तीन तलाक़ के मानने वालों ने हदीस इब्ने अब्बास के बहुत से जवाब दिए हैं लेकिन उनमें से कोई भी मानने योग्य नहीं। अनुसरण के योग्य हक़ बात ही है। इसके अलावा यह वाद विवाद अगर अपने बुज़ुर्गों के दृष्टिकोण की हिमायत के लिए है तो स्पष्ट है कि यह इस योग्य नहीं कि उन्हें सुन्नत के मुक़ाबले में वरीयता दी जाए और अगर यह उमर बिन ख़त्ताब की हिमायत में है तब भी स्पष्ट है कि हज़रत उमर रज़ि० की क्या हैसियत रसूलुल्लाह सल्ल० के मुक़ाबले में हो सकती है? फिर कौन सा मुसलमान ऐसा है कि उसकी अक़्ल और उसका ज्ञान सहाबी के कथन को मुस्तफ़ा सल्ल० के कथन पर वरीयता देने को पसन्द करे?''

इब्ने रुश्द रह० : मशहूर मालिकी फ़क़ीह अबू वलीद इब्ने रुश्द क़ुरतबी लिखते हैं :

«جُمْهُورُ فُقَهَاءِ الأَمْصَارِ عَلَى أَنَّ الطَّلَاقَ بِلَفْظِ الثَّلَاثِ حُكْمُهُ حُكْمُ الطَّلْقَةِ الثَّالِثَةِ، وَقَالَ أَهْلُ الظَّاهِرِ وَجَمَاعَةٌ: حُكْمُهُ حُكْمُ الْوَاحِدَةِ وَلَا تَأْثِيرَ لِلَّفْظِ فِي ذٰلِكَ» (بداية المجتهد، الطلاق: ٢/١٠٤)

"जमहूर फ़ुक़्हा का कहना यह है कि तीन के शब्द से जो तलाक़ दी जाएगी। उसका हुक्म तीसरी तलाक़ (अर्थात मुग़ल्लिज़ा) का है और अहले ज़ाहिर और एक जमाअत का कथन यह है कि ऐसी तलाक़ (अर्थात तीन के शब्द से) का हुक्म एक तलाक़ का हुक्म है और उसमें शब्द का कोई प्रभाव नहीं।"

इसके बाद दोनों मसलक के तर्कों का ज़िक्र करते हैं और फिर आख़िर में लिखते हैं :

«كَأَنَّ الْجُمْهُورَ غَلَّبُوا حُكْمَ التَّغْلِيظِ فِي الطَّلَاقِ سَدًّا لِلذَّرِيعَةِ وَلٰكِنْ تَبْطُلُ بِذٰلِكَ الرُّخْصَةُ الشَّرْعِيَّةُ، وَالرِّفْقُ الْمَقْصُودُ»

"मानो जमहूर ने हमेशा के तौर पर तलाक़ में तग़लीज़ का हुक्म लगाया लेकिन सच्चाई यह है कि उससे वह शरऔ छूट और सुविधा असत्य हो जाती है जो अभिप्राय है।"

अर्थात एक समय में तीन तलाक़ों को तीन मान लेने से वह छूट व आसानी ख़त्म हो जाती है जो अनेक मौक़ों पर तलाक़ देने में है। इस तरह उनका अपना रुझान यही मालूम होता है कि एक समय में तीन तलाक़ों को एक ही तलाक़ मान लेना चाहिए ताकि शरऔ छूट व आसानी से लोग महरूम न हों।

हमारे दौर के अरब व ग़ैर अरब के उलमा : ये तो हवाले थे पहले व बाद वाले उलमा के, जिनमें हर मक्तब फ़िक्र के उलमा शामिल हैं। इन कुछ हवालों से यह बात स्पष्ट है कि सहाबा के दौर ही से यह

मसला विवादित चला आ रहा है और इसकी बाबत सहमति का दावा करना और यह कहना कि "मुझे किसी सहाबी या ताबई का पता नहीं जिसने इस मसले में मतभेद किया हो।" पूरी तरह ग़लत है सहाबा व ताबईन में भी एक समय में दी गई तीन तलाक़ों को एक तलाक़ मानने वाले मौजूद थे और बाद के इमामों व मुजतहिदीन में भी एक जमाअत इसकी क़ायल चली आ रही है ख़ासकर अहले हदीस जो हर दौर में हक़ का चिराग़ जलाते आए हैं, इसी के क़ायल चले आ रहे हैं।

यह बात और भी दिलचस्पी का कारण है कि मौजूदा दौर के उलमा ने भी इस मसले को न केवल अपने सोच विचार का विषय बनाया है बल्कि अहले हदीस के दृष्टिकोण की ज़ोरदार हिमायत व वकालत की है। उन उलमा में हिन्द व पाक के उलमा भी हैं और मिस्र व शाम के उलमा भी और वे हर मसलक का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं यहां तक कि उनमें देवबन्दी हनफ़ी भी हैं और बरेलवी हनफ़ी भी। लीजिए अब इसका विवरण भी देख लीजिए जो हक़ीक़त में इस मसले पर सहमति का दावा करने वालों के लिए शायद एक "रहस्योदघाटन" से कम न हो।

अरब उलमा : मिस्र के प्रख्यात विद्वान अब्दुर्रहमान अल जज़ीरी अपनी मशहूर किताब "फ़िक़्ह अलल मज़ाहिबुल अरबअ" में मतभेद का ज़िक्र करते हुए पहले उन सहाबा व ताबईन के नाम दर्ज करते हैं जो एक तलाक़ को मानते हैं, फिर सहीह मुस्लिम की वह हदीस नक़ल करके जो उनके मसलक की मज़बूत बुनियाद है, लिखते हैं :

«وَهٰذَا الْحَدِيثُ صَرِيحٌ فِي أَنَّ الْمَسْأَلَةَ لَيْسَتْ إِجْمَاعِيَّةً»

"यह हदीस इस बात में स्पष्ट है कि यह मसला सहमति वाला नहीं है।"

फिर हज़रत उमर रज़ि० के काम का स्पष्टीकरण करते हुए सहमति का दावा का यूं इन्कार करते हैं :

«وَلٰكِنْ الْوَاقِعَ أَنَّهُ لَمْ يُوجَدْ إِجْمَاعٌ، فَقَدْ خَالَفَهُمْ كَثِيرٌ مِنَ الْمُسْلِمِينَ، وَمِمَّا لاَ شَكَّ فِيهِ أَنَّ ابْنَ عَبَّاسٍ مِنَ الْمُجْتَهِدِينَ الَّذِينَ عَلَيْهِمِ الْمُعَوَّلُ فِي الدِّينِ، فَتَقْلِيدُهُ جَائِزٌ، كَمَا ذَكَرْنَا، وَلاَ يَجِبُ تَقْلِيدُ عُمَرَ فِيمَا رَاهُ، لأَنَّهُ مُجْتَهِدٌ وَمُوَافَقَةُ الأَكْثَرِينَ لَهُ لاَ تُحَتِّمُ تَقْلِيدَهُ، عَلَى أَنَّهُ يَجُوزُ أَنْ يَكُونَ قَدْ فَعَلَ ذٰلِكَ لِتَحْذِيرِ النَّاسِ مِنْ إِيقَاعِ الطَّلاَقِ عَلَى وَجْهٍ مُغَايِرٍ لِلسُّنَّةِ فَإِنَّ السُّنَّةَ أَنْ تُطَلَّقَ الْمَرْأَةُ فِي أَوْقَاتٍ مُخْتَلِفَةٍ عَلَى الْوَجْهِ الَّذِي تَقَدَّمَ بَيَانُهُ، فَمَنْ يَجْرَأُ عَلَى تَطْلِيقِهَا دَفْعَةً وَاحِدَةً فَقَدْ خَالَفَ السُّنَّةَ، وَجَزَاءُ هٰذَا أَنْ يُعَامَلَ بِقَوْلِهِ زَجْرًا لَهُ وَبِالْجُمْلَةِ فَإِنَّ الَّذِينَ قَالُوا أَنَّ الطَّلاَقَ الثَّلاَثَ بِلَفْظٍ وَاحِدٍ يَقَعُ بِهِ وَاحِدَةً لاَ ثَلاَثَ لَهُمْ وَجْهٌ سَدِيدٌ وَهُوَ أَنَّ ذٰلِكَ هُوَ الْوَاقِعُ فِي عَهْدِ الرَّسُولِ، وَعَهْدِ خَلِيفَةِ الأَعْظَمِ أَبِي بَكْرٍ، وَسَنَتَيْنِ مِنْ خِلاَفَةِ عُمَرَ، وَاجْتِهَادُ عُمَرَ بَعْدَ ذٰلِكَ خَالَفَهُ فِيهِ غَيْرُهُ، فَيَصِحُّ تَقْلِيدُ الْمُخَالِفِ، كَمَا يَصِحُّ تَقْلِيدُ عُمَرَ» (الفقه على مذاهب الأربعة: ٤/٣٤١، ٣٤٢)

''लेकिन हक़ीक़त यह है कि इस पर सहमति मौजूद ही नहीं, क्योंकि बहुत से मुसलमानों ने उन (जमहूर) का विरोध किया है। (जैसे) इब्ने अब्बास निःसन्देह मुज्तहिदीन में से थे और ऐसे कि जिन पर दीन के मामले में भरोसा किया जाता है। अतः आपकी तक़्लीद (आपकी राय को मान लेना) भी सही है। हज़रत उमर रज़ि० की राय की तक़्लीद वाजिब नहीं क्योंकि इब्ने अब्बास रज़ि० भी मुज्तहिद थे। अधिसंख्या का हज़रत उमर रज़ि० से सहमति कर लेना उनकी तक़्लीद को ज़रूरी नहीं कर देता। इसके अलावा यह भी तो संभव है कि आपने ताज़ीर (दंड) की मन्शा से उसे लागू किया हो यह देखकर कि लोग सुन्नत के विरुद्ध तरीक़े पर तलाक़ दे रहे हैं। क्योंकि सुन्नत

यही है कि औरत को विभिन्न समयों में बयान किए गए तरीक़े के अनुसार तलाक़ दी जाए। अतः जो व्यक्ति एक बार में (तीन) तलाक़ देने की हिम्मत करता है वह सुन्नत के विरुद्ध करता है और उसका तक़ाज़ा है कि उसके साथ चेतावनी व सख़्ती का मामला किया जाए। सार यह कि जो लोग कहते हैं कि तीन तलाक़ें एक शब्द से एक ही होती है तीन नहीं। उनका कहना अपने अंदर बड़ी उचित वजह रखता है क्योंकि रिसालत काल, ख़लीफ़ा आज़म अबूबक्र के काल और ख़िलाफ़त उमर के प्रारंभिक दो सालों तक एक ही तलाक़ होती थी। उसके बाद हज़रत उमर रज़ि० ने जो इज्तिहाद किया, उसका दूसरे कई लोगों ने विरोध किया है। अतः विरोध करने वालों की तक़्लीद भी इसी तरह सही है जिस तरह हज़रत उमर रज़ि० की तक़्लीद को सही क़रार दिया जा रहा है।"

अल्लामा सय्यद रशीद रज़ा मिस्री मरहूम : तफ़्सीर "अलमिनार" में इस आयत के अन्तर्गत (अत्तलाक़ु मर्रतानि) पहले इस मसले का विवादित होने का ज़िक्र करते हैं। (इस मसले में पहले दिन से आज तक मतभेद चला आ रहा है) फिर दोनों पक्षों के तर्कों का ज़िक्र करने के बाद (जिसमें एक तलाक़ के मामले वालों के तर्क थोड़े विस्तार से नकल किए हैं) लिखते हैं :

«إِنَّمَا أَطَلْنَا فِي ذِكْرِ الْخِلَافِ فِي هٰذِهِ الْمَسْئَلَةِ عَلٰى تَحَامِينَا فِي التَّفْسِيرِ ذِكْرَ الْخِلَافِ مَا وَجَدْنَا مَنْدُوحَةً عَنْهُ لأَنَّ بَعْضَ النَّاسِ يَعْتَقِدُونَ أَنَّ الْمَسْأَلَةَ اجْمَاعِيَّةٌ فِيمَا جَرٰى عَلَيْهِ الْجُمْهُورُ وَمَا ثَمَّ مِنْ إِجْمَاعٍ إِلاَّ مَا قَالَهُ ابْنُ الْقَيِّمِ، وَلَيْسَ الْمُرَادُ مُجَادَلَةَ الْمُقَلِّدِينَ أَوْ إِرْجَاعَ الْقُضَاةِ وَالْمُفْتِينَ عَنْ مَذَاهِبِهِمْ فِيهَا فَإِنَّ أَكْثَرَهُمْ يَطَّلِعُ عَلٰى هٰذِهِ النُّصُوصِ فِي كُتُبِ الْحَدِيثِ وَغَيْرِهَا وَلاَ يُبَالِي بِهَا لأَنَّ

الْعَمَلَ عِنْدَهُمْ عَلٰى أَقْوَالِ كُتُبِهِمْ دُوْنَ كِتَابِ اللهِ تَعَالٰى وَسُنَّةِ رَسُوْلِهٖ(حاشيه) أَلَا إِنَّ مَحَاكِمَ مِصْرَ الشَّرْعِيَّةَ قَدْ خَالَفَتْ مَذْهَبَ الْحَنَفِيَّةِ بَعْدَ اسْتِقْلَالِ الْبِلَادِ دُوْنَ الدَّوْلَةِ الْعُثْمَانِيَّةِ فِيْ كَثِيْرٍ مِنْ أَحْكَامِ الزَّوْجِيَّةِ وَمِنْهَا هٰذِهِ الْمَسْئَلَةُ(تفسير المنار: ٢/ ٢٨٣-٢٨٧ طبع ثاني ١٣٥٠هـ مصر)

"हमने अपनी टीका में विवादित मसाइल में ध्यान न दिए जाने के बावजूद इस मसले में विवरण इसलिए दिया है कि कुछ लोगों का विचार है कि इस बारे में जमहूर के मसलक पर सहमति है। यद्यपि (यह बात सही नहीं) अगर सहमति है तो वह है जिसका स्पष्टीकरण हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम रह० ने किया है। (अर्थात रिसालत दौर व सिद्दीक़ी दौर और उमर रज़ि० की आरंभिक ख़िलाफ़त तक एक समय में तीन तलाक़ों को एक तलाक़ मानने पर सहमति) हमारा उद्देश्य मुक़ल्लिदीन से बहस व लड़ना है न क़ाज़ियों और मुफ़्तियों को उनके (फ़िक़्ही) मज़ाहिब से वापस होने पर मजबूर करना क्योंकि (ऐसा करने पर वे तैयार होंगे ही नहीं) उनकी बड़ी संख्या का यह हाल है कि वह हदीस की किताबों आदि में नसूस शरीअत पर बाख़बर भी हो जाते हैं लेकिन फिर भी उनकी बिल्कुल परवाह नहीं करते, उनके निकट अमल योग्य केवल इमामों के वे कथन हैं जो उनकी (फ़िक़्ही) किताबों में लिखे हैं न कि अल्लाह की किताब और सुन्नते रसूल। अलबत्ता मिस्र की मज़हबी अदालतों ने दौलत उसमानिया से अलग होने के बाद पति पत्नी के संबंध के बहुत से आदेशों में हनफ़ी मज़हब का विरोध किया है, उन्हीं में से एक मसला एक बैठक में तीन तलाक़ का है जिसमें उन्होंने हनफ़ी मज़हब के विरुद्ध इसको एक तलाक़ शुमार करने का फ़ैसला किया है।"

शैख़ जमालुद्दीन क़ासमी : वर्तमान दौर के एक और उच्च कोटि विद्वान और टीकाकार शैख़ जमालुद्दीन क़ासमी शामी ने निकाह व तलाक़ के विषय पर एक बड़ी महत्वपूर्ण किताब 'इस्तीनास लितस्हीह निकहतुन्नास' लिखी है। उसमें उन्होंने तलाक़ के मसले पर तर्क संगत व विस्तार से बातचीत के बाद यही राय ज़ाहिर की है कि जो तीन तलाक़ें एक मज्लिस में एक बार दी जाएं उनसे एक तलाक़ रजई ही होगी।

हिन्द व पाक के उलमा : हिन्द व पाक के उलमा के जिन उलमा ने इस विषय पर अपने नतीजे व अध्ययन व शोध पेश किए हैं, उनमें उलमाए अहले हदीस के अलावा (कि वह तो लगभग सब ही इस मसले पर सहमत हैं) मौलाना सईद अहमद अकबराबादी सम्पादक माहनामा "बुरहान" दिल्ली, मौलाना मुफ़्ती अतीक़ुर्रहमान साहब अध्यक्ष ऑल इण्डिया मुस्लिम मज्लिस मुशावरत, मौलाना हामिद अली साहब सेक्रेटरी जमाअते इस्लामी हिन्द, मौलाना उरूज अहमद क़ादरी सम्पादक माहनामा "ज़िंदगी" रामपुर, मौलाना शम्स पीरज़ादा, मौलाना महफ़ूज़ुर्रहमान फ़ाज़िल देवबन्द हैं।

अतः हिन्दुस्तान के कुछ दर्दमन्द लोगों ने मसला "ततलीक़ाते सलासा" के विषय पर एक सेमीनार (मज्लिस मुज़ाकरा, 4-6 नवम्बर 1973 ई०) इस्लामिक रिसर्च इंस्टीट्यूट अहमदाबाद (हिन्द) में आयोजित कराया। जिसमें उल्लिखित लोग और दो अहले हदीस उलमा मौलाना अब्दुर्रहमान साहब और मौलाना मुख़्तार अहमद साहब नदवी शरीक हुए। सेमीनार में हिस्सा लेने वाले लोगों की सेवा में निम्न सवालनामा भेजा गया था ताकि वे उसकी रौशनी में अपने लेख तैयार कर सकें, और अपने दृष्टिकोण को सतर्क रूप से पेश करने के साथ उन सवालों के जवाब भी दे सकें।

1. क्या मात्र तलाक़ का शब्द तीन बार दोहराने से अर्थात एक समय में तलाक़, तलाक़, तलाक़ कह देने से तीन तलाक़ हो जाती हैं जबकि

तलाक़ देने वाला व्यक्ति कहता हो कि मेरी नीयत केवल एक तलाक़ की थी।

2. कोई व्यक्ति एक मज्लिस में तीन तलाक़ें देता है, शब्द "तीन" के स्पष्टीकरण के साथ। लेकिन वह कहता है कि मैं समझ रहा था कि तीन का शब्द जब तक इस्तेमाल न किया जाए, तलाक़ होती ही नहीं। इस सूरत में तीन तलाक़ें होंगी या एक?

3. क्या एक मज्लिस की तीन तलाक़ों के मुगल्लज़ होने पर उम्मत की सहमति है? अगर नहीं तो उन उलमा और फ़ुक़्हा के नाम लिखें जो एक मज्लिस की तीन तलाक़ों को एक तलाक़ क़रार देते हैं।

4. आपके निकट एक मज्लिस की तीन तलाक़ों के मसले का क्या हल है? उसे एक माना जाना चाहिए या तीन?

उल्लिखित शरीक 8 लोगों में से 7 उलमा ने लेख तैयार किए। मौलाना मुफ़्ती अतीक़ुर्रहमान साहब ने लेख तो नहीं पढ़ा, अध्यक्षीय कलिमात में मज्लिस में पढ़े गए लेखों पर भरपूर समीक्षा की और इस मसला को विवादित मानते हुए इसके उचित हल पर ज़ोर दिया और इस मसले में उलमा को व्यापकता पैदा करने की बात कही। उनमें से केवल मौलाना उरूज क़ादरी साहब ने अपने लेख में हनफ़ी दृष्टिकोण पेश किया लेकिन उन्होंने भी मसले की नज़ाकत को देखते हुए एक सन्तुलित राह अपनाने की कोशिश की है। बाक़ी तमाम लोगों ने इस मसले में एक तो सहमति के दावे का इन्कार किया है। और साफ़ स्वीकार किया है कि यह मसला सहाबा के दौर से ही विवादित चला आ रहा है और दूसरे उन्होंने मसले का वही हल पेश किया है। जिसके अहले हदीस क़ायल हैं कि एक समय में दी गई तीन तलाक़ों को एक तलाक़ माना जाए। इसके साथ ही इस दृष्टिकोण की हिमायत में उन्होंने क़ुरआन व हदीस और फ़िक़्ह की किताबों से ऐसे ठोस तर्क पेश किए हैं जिसके बाद फ़िक़्ही गतिरोध पर आग्रह की कोई उचित वजह मौजूद नहीं रहती।

सेमीनार की पूरी कार्रवाई, लेखों और उन पर आपत्तियों के जवाब, ये सब एक किताबी शक्ल में, एक मज्लिस की तीन तलाक़, क़ुरआन व सुन्नत की रौशनी में, के शीर्षक से छप गए हैं।

मौलाना मुफ़्ती किफ़ायतुल्लाह देहलवी का फ़तवा : इसी किताब के एक लेख में (जो मौलाना महफ़ूज़ुर्रहमान क़ासमी का है) मौलाना किफ़ायतुल्लाह देहलवी का एक फ़तवा भी दर्ज है। किसी व्यक्ति ने इसी तीन तलाक़ के बारे में मालूम किया था मेरे गांव में एक घटना ऐसी घटी थी कि एक हनफ़ी व्यक्ति ने तीन तलाक़ देने के बाद किसी अहले हदीस आलिम से फ़तवा पूछ कर रुजूअ कर लिया। अब गांव के लोगों ने उसका बायकाट कर दिया। मुफ़्ती साहब मरहूम ने निम्न जवाब दिया :

"एक मज्लिस में तीन तलाक़ देने से तीनों पड़ जाने का मज़हब जमहूर उलमा का है और चारों इमाम इस पर सहमत हैं। चारों इमामों के अलावा वे कुछ उलमा इसके ज़रूर क़ायल हैं कि इस तरह एक रजअी तलाक़ होती है और यह मज़हब अहले हदीस वालों ने भी अपनाया है और हज़रत इब्ने अब्बास, ताऊस, इकरमा और इब्ने इसहाक़ से मंक़ूल है। तो किसी अहले हदीस को इस हुक्म की वजह से काफ़िर कहना सही नहीं और न वह बहिष्कार किए जान योग्य और मस्जिद से बाहर किए जाने योग्य है। हां हनफ़ी का अहले हदीस से फ़तवा हासिल करना और उस पर अमल करना फ़तवा के हिसाब से नाजाइज़ था, लेकिन अगर उसने भी मजबूरी और परेशानी की हालत में इसपर अमल किया हो तो क्षमा योग्य है।" (अख़्बार "अलजमीअत" दिल्ली, 16 दिसम्बर 1931 ई०, मुहम्मद किफ़ायतुल्लाह, मदरसा अमीनिया दिल्ली)

एक और फ़तवा : इसी मदरसा अमीनिया दिल्ली का एक और

फ़तवा यह है :

"और कुछ बुज़ुर्गों और पहले के उलमा में से उसके भी क़ायल हैं यद्यपि चारों इमामों में से कुछ नहीं हैं, अतः जिन मौलवी साहब ने मुफ़्ती अहले हदीस पर जो फ़तवा दिया है, वह ग़लत है और मुफ़्ती अहले हदीस पर इस मतभेद की बिना पर कुफ़्र व बहिष्कार व मस्जिद से बाहर करने का फ़तवा सही नहीं है। सख़्त ज़रूरत और बिगाड़ के डर से अगर तलाक़ देने वाला उन कुछ उलमा के कथन पर अमल करेगा जिनके नज़दीक इस घटना में एक ही तलाक़ होती है तो वह हनफ़ी मज़हब से न निकाला जाएगा क्योंकि हनफ़ी फ़ुक़हा ने सख़्त ज़रूरत के कारण दूसरे इमाम के कथन पर अमल कर लेने को जाइज़ लिखा है।" (दस्तख़त हबीबुल मुरसलीन अफ़ी अन्हु, मुहुर दारुल इफ़्ता मदरसा अमीनिया दिल्ली, किताब मज़्कूर, पृ० : 29-30, तबा अहमदाबाद, भारत)

अविभाजित हिन्दुस्तान में मुफ़्ती किफ़ायतुल्लाह देहलवी मरहूम और उनके मदरसा अमीनिया की जो हैसियत अहनाफ़ के यहां थी, वह परिचय की मोहताज नहीं। ये दो फ़तवे हमने इसलिए नक़ल किए हैं कि उनसे एक तो यह स्पष्ट हो रहा है कि यह मसला सहमति वाला नहीं है (जैसा कि सम्पादक "बैनात" ने दावा किया) बल्कि सहाबा व ताबअीन में से भी कई लोग इसके क़ायल थे।

दूसरे, इस मज़हब के अपनाने वाले पर नक़्ल व जिरह सही नहीं यहां तक कि कोई हनफ़ी भी इस पर अमल करे तो वह भी निन्दा योग्य नहीं या यह कि अहले हदीस विद्वानों को इस मसले के आधार पर उम्मत के सहमत होने का इन्कारी मानकर उन्हें उम्मते इस्लामिया से बाहर करने का फ़तवा दाग़ दिया जाए जैसा कि सम्पादक "बैनात" का रुझान मालूम होता है।

तीसरे, इस फ़तवा से यह भी मालूम हुआ कि हक़ केवल चारों इमामों पर ही निर्भर नहीं है। उनके अलावा दूसरे मज़ाहिब भी सही हैं क्योंकि उनके मसाइल क़ुरआन व हदीस पर आधारित हैं ख़ासकर मज़हब अहले हदीस।

बरेलवी (हनफ़ी) विद्वान की समर्थक किताब : इस मसले पर पाकिस्तान के एक मशहूर सज्जादा नशीन बरेलवी विद्वान जस्टिस पीर करम शाह अज़हरी जज सुप्रीम कोर्ट, पाकिस्तान ने एक किताब "दावते ग़ौर व फ़िक्र" के शीर्षक से लिखी थी, जिससे उनका उद्देश्य हनफ़ी उलमा को इस मसले में तक़्लीदी गतिरोध से हटकर विशुद्ध क़ुरआन व हदीस की रौशनी में सोच विचार की दावत देना था। क्योंकि उनके निकट यह मसला "एक समय में दी गई तीन तलाक़ों को एक मानना" क़ुरआन व हदीस के अनुसार है। अपनी किताब में उन्होंने इस मसलक की ज़ोरदार हिमायत की है। अतएव ये दोनों के तर्कों का विशलेषण करते हुए किताब के बिल्कुल अन्त में लिखते हैं :

> "मसले के सारे पहलू आपके सामने हैं। इसकी अक़्ली और नक़्ली दलीलें और उन पर हर तरह का वाद विवाद भी आपने देख लिया। अब आप स्वयं इसके बारे में फ़ैसला कर सकते हैं। मेरी राय में तो इन हालात में मिस्री उलमा और उलमाए अज़हर के फ़तवे (अर्थात एक समय में तीन तलाक़ों को एक तलाक़ मानना) के अनुसार अमल करना सही है।"
>
> (पृ० : 148)

मुस्लिम देशों में तलाक़ का क़ानून : किताब "एक मज्लिस की तीन तलाक़ - क़ुरआन व सुन्नत की रौशनी में" मुस्लिम देशों के बारे में एक लेखक मौलाना शम्स पीरज़ादा साहब ने निम्न स्पष्टीकरण किया है :

> "मुस्लिम देशों ने "ततलीक़ाते सलासा" के सिलसिले में जो क़ानून बनाए हैं। उनकी हैसियत शरई हुज्जत की कदापि नहीं

है। इसलिए उन क़ानूनों को दलील के तौर पर पेश नहीं किया जा सकता। लेकिन यह मालूम करना दिलचस्पी से ख़ाली न होगा कि किन देशों ने इस सिलसिले में क़दम उठाए हैं। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए अर्थात मालूमात की मन्शा से इसका विवरण पेश किया जाता है।''

सबसे पहले मिस्र ने 1929 ई० में एक बार की तीन तलाक़ों के उसूल को ख़त्म कर दिया और क़ानून यह बनाया कि अनेक तलाक़ें केवल एक तलाक़ शुमार होगी और वह रजई होगी। (पीर करम शाह अज़हरी ने भी अपनी उल्लिखित किताब में इस मिस्री क़ानून का थोड़ा विवरण पेश किया है और उसके हवाले से पाकिस्तान के हनफ़ी उलमा को भी यही मसलक अपनाने की बात कही है) इसी प्रकार का क़ानून सूडान ने 1935 ई० में, उर्दुन ने 1951 ई० में, शाम ने 1953 ई० में, मराकश ने 1958 ई० में, इराक़ ने 1959 ई० में और पाकिस्तान ने 1961 ई० में लागू किया।'' (उल्लिखित किताब, पृ० 68-69)

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह सम्पादक ''बैनात'' का यह कहना कि ''उन्हें इस मसले में किसी सहाबी या ताबई के मतभेद का पता नहीं'' निराधार है क्योंकि उनकी अज्ञानता इस बात पर चरितार्थ नहीं कि सहाबा व ताबईन में से वास्तव में कोई भी इस दूसरे मसलक का क़ायल नहीं। इसी तरह उम्मत की सहमति के दावे की हक़ीक़त भी बेनक़ाब हो जाती है। जिस ''इज्माअ'' से विमुखता पर सम्पादक ''बैनात'' ने अहले हदीस को शीयों का अनुयायी बना दिया है। क्योंकि ''इज्माअ'' के बारे में स्वयं उसूल फ़िक़्ह हनफ़ी में यह लिखा है :

«وَالشَّرْطُ إِجْمَاعُ الْكُلِّ وَخِلَافُ الْوَاحِدِ مَانِعٌ كَخِلَافِ الْأَكْثَرِ يَعْنِي فِي حِينِ إِنْعِقَادِ الإِجْمَاعِ لَوْ خَالَفَ وَاحِدٌ كَانَ خِلَافُهُ مُعْتَبَرًا وَلَا يَنْعَقِدُ الإِجْمَاعُ لِأَنَّ لَفْظَ الأُمَّةِ فِي قَوْلِهِ لَا تَجْتَمِعُ أُمَّتِي عَلَى الضَّلَالَةِ يَتَنَاوَلُ الْكُلَّ فَيَحْتَمِلُ أَنْ يَكُونَ الصَّوَابُ مَعَ الْمُخَالِفِ»

(نور الأنوار، ص: ٢٢١ بحث اجماع)

''इज्माअ के लिए ''कुल'' की सहमति शर्त है और एक का मतभेद भी सहमति के होने में इसी तरह रोक होगा जिस तरह बहुतों का मतभेद है। इसलिए सहमति के समय अगर एक भी विरोधी होगा तो सहमति न होगी क्योंकि उम्मत का शब्द हदीस (मेरी उम्मत गुमराही पर जमा नहीं होगी) में पूरी उम्मत शामिल है। अतः हो सकता है कि सवाब (हक़) विरोधी की तरफ़ हो (और बाक़ी सब ग़लती पर हों।)''

एक तलाक़ पर क़दीम इज्माअ : इस स्पष्टीकरण के बाद हर इंसाफ़ पसन्द आजकल के कुछ हनफ़ियों के इज्माअ के दावे की हक़ीक़त का अंदाज़ा लगा सकता है जो वह मसला ततलीक़ाते सलासा में करते हैं। इसके विपरीत तथ्य यह है कि इस मसले में जो दृष्टिकोण अहले हदीस का है हज़रत उमर रज़ि० के इज्तिहादी व तदबीरी इक़्दाम से पहले इस पर पूरी उम्मत का इज्माअ था अर्थात रिसालत व सिद्दीक़ी दौर और उमर रज़ि० के प्रारंभिक दो तीन सालों तक पूरी उम्मत एक समय में दी गई तीन तलाक़ों को एक तलाक़ मानती थी। इस समय इस मसले में किसी का मतभेद साबित नहीं। इसी लिए हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम लिखते हैं :

«وَكُلُّ صَحَابِي مِنْ لَدُنْ خِلَافَةِ الصِّدِّيقِ إِلَى ثَلَاثِ سِنِينَ مِنْ خِلَافَةِ عُمَرَ كَانَ عَلَى أَنَّ الثَّلَاثَ وَاحِدَةٌ فَتْوَى أَوْ إِقْرَارًا أَوْ سُكُوتًا، وَلِهَذَا ادَّعَى بَعْضُ أَهْلِ الْعِلْمِ أَنَّ هَذَا إِجْمَاعٌ قَدِيمٌ، وَلَمْ تَجْتَمِعِ الْأُمَّةُ وَلِلّٰهِ الْحَمْدُ عَلَى خِلَافِهِ، بَلْ لَمْ يَزَلْ فِيهِمْ مَنْ يُفْتِي بِهِ قَرْنًا بَعْدَ قَرْنٍ وَإِلَى يَوْمِنَا هَذَا» (اعلام الموقعين: ٣/ ٣٤)

और आगे चलकर लिखते हैं :

«وَالْمَقْصُودُ أَنَّ هَذَا الْقَوْلَ قَدْ دَلَّ عَلَيْهِ الْكِتَابُ وَالسُّنَّةُ وَالْقِيَاسُ وَالْإِجْمَاعُ الْقَدِيمُ، وَلَمْ يَأْتِ بَعْدَهُ إِجْمَاعٌ يُبْطِلُهُ»

(اعلام الموقعين: ٣/ ٣٥)

और इग़ासतुल हफ़ान में इस मसले पर बहस के दौरान लिखते हैं :

«فَيَكْفِي كَوْنُ ذٰلِكَ عَلٰى عَهْدِ الصِّدِّيقِ، وَمَعَهُ جَمِيعُ الصَّحَابَةِ، لَمْ يَخْتَلِفْ عَلَيْهِ مِنْهُمْ أَحَدٌ، وَلاَ حُكِيَ فِي زَمَانِهِ الْقَوْلاَنِ، حَتّٰى قَالَ بَعْضُ أَهْلِ الْعِلْمِ: إِنَّ ذٰلِكَ إِجْمَاعٌ قَدِيمٌ وَإِنَّمَا حَدَثَ الْخِلاَفُ فِي زَمَنِ عُمَرَ رَضِيَ اللهُ عَنْهُ، وَاسْتَمَرَّ الْخِلاَفُ فِي الْمَسْأَلَةِ إِلٰى وَقْتِنَا هٰذَا، كَمَا سَنَذْكُرُهُ» (إغاثة اللهفان: ١/ ٤١٧)

सारांश इन इबारतों का यही है कि "तमाम सहाबा किराम रज़ि० के निकट उमर रज़ि० के दौर के प्रारंभिक सालों तक तीन तलाक़ें एक ही होती थीं। इसमें मानो कुछ विद्वानों के कथन के अनुसार इज्माअ था, एक सहाबी का भी मतभेद उसमें साबित नहीं और अब तक इस मसलक वाले चले आ रहे हैं। अलबत्ता हज़रत उमर रज़ि० के तदबीरी इक़दाम के बाद इसमें मतभेद पैदा हुआ और फिर यह मतभेद अब तक चला आ रहा है।"

और जो लोग यह दावा करते हैं कि हज़रत उमर रज़ि० के फ़ैसले के बाद इस पर इज्माअ हो गया, उनका रद्द करते हुए लिखते हैं :

«وَحِينَئِذٍ فَتَكُونُ الْمَسْأَلَةُ مَسْأَلَةَ نِزَاعٍ يَجِبُ رَدُّهَا إِلَى اللهِ تَعَالٰى وَرَسُولِهِ، وَمَنْ أَبٰى ذٰلِكَ فَهُوَ إِمَّا جَاهِلٌ مُقَلِّدٌ، وَإِمَّا مُتَعَصِّبٌ صَاحِبُ هَوًى، عَاصٍ لِلّٰهِ تَعَالٰى وَرَسُولِهِ ﷺ مُتَعَرِّضٌ لِلُحُوقِ الْوَعِيدِ بِهِ، فَإِنَّ اللهَ تَعَالٰى يَقُولُ: ﴿فَإِنْ تَنَازَعْتُمْ فِي شَيْءٍ فَرُدُّوهُ إِلَى اللهِ وَالرَّسُولِ إِنْ كُنْتُمْ تُؤْمِنُونَ بِاللهِ وَالْيَوْمِ الْآخِرِ . . . الآية﴾ فَإِذَا ثَبَتَ أَنَّ الْمَسْأَلَةَ مَسْأَلَةُ نِزَاعٍ وَجَبَ قَطْعًا رَدُّهَا إِلٰى كِتَابِ اللهِ وَسُنَّةِ رَسُولِهِ وَهٰذِهِ الْمَسْأَلَةُ مَسْأَلَةُ نِزَاعٍ، بِلاَ نِزَاعِ أَهْلِ الْعِلْمِ الَّذِينَ هُمْ أَهْلُهُ، وَالنِّزَاعُ فِيهَا مِنْ عَهْدِ الصَّحَابَةِ إِلٰى وَقْتِنَا هٰذَا»

(إغاثة اللهفان: ١/ ٤٥٣)

3. क्या चारों मज़हबों की सहमति "उम्मत की सहमति" की निशानी है? : "बैनात" के सम्पादक ने तीसरी बात यह कही है : "यही मज़हब (एक साथ तीन तलाक़ों को तीन मानना) चारों इमामों का है।"

और यह उनके निकट शाह वलीउल्लाह के कथनानुसार "इज्माअ उम्मत" की निशानी है। हमें मालूम नहीं कि शाह वलीउल्लाह मुहद्दिस देहलवी रह० ने यह बात कहां लिखी है? अगर आप निशानदेही कर देते तो बात और होती। हमारे विचार में यह दावा भी निम्न कारण से पूरी तरह ग़लत है।

एक : इज्माअ के लिए आयोजन के समय तमाम मुज्तहिदीन की सहमति ज़रूरी है। अगर यह मान लिया जाए कि तमाम मुज्तहिदीन के बजाए केवल उन चार मुज्तहिदीन की सहमति ही "इज्माअ" के लिए काफ़ी है तब भी किसी मसले में उन चारों की एक समय में सहमति क्योंकर साबित की जा सकती है? जबकि उनका ज़माना ही एक नहीं है। अतएव इमाम अबू हनीफ़ा की तारीख़ पैदाइश 80 हि०, इमाम मालिक की 93 हि०, इमाम शाफ़ई की 150 हि० और इमाम अहमद की 164 हि० है और मृत्यु तारीख़ इमाम अबू हनीफ़ा की 150 हि० इमाम मालिक की 179 हि०, इमाम शाफ़ई की 204 और इमाम अहमद की 241 हि० है।

अगर कहा जाए कि किसी मसले में उन चारों इमामों की राय की सहमति व परस्पर एक जगह होना काफ़ी है तब भी बात विवादित है। क्योंकि उन मज़ाहिब की फ़िक़ही किताबें असल में उनकी अपनी लिखी हुई ही नहीं हैं बल्कि यह तो बाद के लोगों ने कई सदियों बाद तैयार की हैं। क्या यह दावा किया जा सकता है कि उनमें उनकी तरफ़ मंसूब सब कथन व राए सही हैं? यह हो सकता है कि किसी कथन की निस्बत ही उनकी तरफ़ सही न हो। अतएव अब्दुल अज़ीज़ मुहद्दिस देहलवी रह० इस पहलू की निशानदेही करते हुए लिखते हैं :

"यह जानना चाहिए कि इस ज़माने में चारों इमामों की किताबों

में मोत्ता (इमाम मालिक) के सिवा हदीस ज्ञान में और कोई किताब मौजूद नहीं है और दूसरे इमामों की मुसनदें जो पूरे जगत में मशहूर हैं, वे इमाम स्वयं उनकी किताबों में शामिल नहीं हुए बल्कि दूसरे लोगों ने जो उनके बाद में आए हैं, उनकी रिवायतों को जमा करके मुसनद फ़लां नाम रख दिया और यह बात हर अक़्लमन्द जानता है कि किसी व्यक्ति की रिवायतें उस समय तक सही व ज़ईफ़ का संग्रह रहती हैं जब तक वह व्यक्ति जिसकी बुज़ुर्गी व श्रेष्ठता का हम भरोसा रखते हैं स्वयं उस का कुछ बार गहरी नज़रों से अध्ययन करके फ़ैसला न कर दें और जब तक वह अपने शिष्य को शिक्षा न दे, किसी प्रकार का विश्वास और भरोसा नहीं किया जा सकता।"

जब उनके नाम पर मन्सूब हदीसों के संग्रहों का यह हाल है तो उन मज़ाहिब की संकलित किताबें जिनमें उनके कथन व राएं और उन पर तैयार किए गए फ़तवों को जमा किया गया है, किस प्रकार भरोसा योग्य रह जाती हैं? कि इन चारों मज़हबों की विवादित सहमति को "इज्माअ उम्मत" की संज्ञा दी जा सके?

दूसरा : यह दावा शायद इस बात पर आधारित है कि हक़ उन चारों मज़ाहिब में ही मौजूद है। इससे बाहर गुमराही है। जैसा कि हनफ़ियों में से तहावी ने यह दावा किया है, यद्यपि यह भी ग़लत है, हक़ को उन चारों मज़ाहिब में मौजूद कर देना एक तरह से शरीअत तैयार करना है जो केवल अल्लाह तआला का हक़ है। ये चारों तक़्लीदी सिलसिले तो वैसे भी चौथी सदी हिजरी के बाद क़ायम हुए हैं जैसा कि शाह वलीउल्लाह और अन्य उलमा ने स्पष्टीकरण किया है, अगर हक़ उन्हीं में मौजूद समझा जाए तो प्रारंभिक चार सदियों के मुसलमानों के बारे में, जिनमें सहाबा व ताबअीन व तबअ ताबअीन व इमाम व मुज्तहिदीन सब शामिल हैं, किस प्रकार का फ़ैसला किया जाएगा? अगर वे चारों मज़ाहिब के

तक़्लीदी सिलसिलों से अलग रहने के बावजूद सही मुसलमान थे तो बाद के मुसलमान क्यों इसी तरह क़ुरआन व हदीस पर अमल करके अहले हक़ नहीं हो सकते? उनको फिर किसी एक तक़्लीदी सिलसिले का पाबन्द करने की कौन सी उचित दलील है? आख़िर सहाबा व ताबईन व तबअ ताबईन के बाद भी हर दौर में मुहद्दिसीन (अहले हदीस) का एक बड़ा गिरोह मौजूद रहा है जिन्होंने इमामों की तक़्लीद से अलग रहकर विशुद्ध क़ुरआन व हदीस को अपना साधन और निशाना बनाए रखा है, उन्हें कौन अहले हक़ से निकाल बाहर कर सकता है? यद्यपि अगर हक़ को चार मज़ाहिब में ही मौजूद समझा जाए तो फिर नऊज़ुबिल्लाह (अल्लाह अपनी पनाह में रखे) फ़ुक़हा व मुहद्दिसीन की जमाअत अहले हक़ से अपने आप ही बाहर हो जाती है। यद्यपि यही तो वह गिरोह है जिनकी बेमिसाल कोशिशों से दीन असल सूरत में महफ़ूज़ हुआ और रसूलल्लाह सल्ल० का पूर्ण जीवन ज्ञानात्मक व व्यवहारिक रूप से एक बार सामने आया।

جزاهم الله عنا وعن جميع المسلمين احسن الجزاء۔

बहरहाल यह तक़्लीदी सिलसिला एक घटना है, जिसका वाजिब होना तो अलग रहा सिरे से कोई हुक्म ही शरीअते इस्लामिया में नहीं है, हक़ को अपने उन गढ़े हुए तरीक़ों में सीमित कर देना सरासर धौंस और धांधली है। अतएव मुल्ला अली क़ारी हनफ़ी रह० लिखते हैं :

«وَمِنَ الْمَعْلُوْمِ اَنَّ اللهَ سُبْحَانَهٗ وَتَعَالٰى مَا كَلَّفَ اَحَدًا اَنْ يَّكُوْنَ حَنَفِيًّا اَوْ مَالِكِيًّا اَوْ شَافِعِيًّا اَوْ حَنْبَلِيًّا بَلْ كَلَّفَهُمْ اَنْ يَّعْمَلُوْا بِالْكِتَابِ وَالسُّنَّةِ اِنْ كَانُوْا عُلَمَاءَ اَوْ يُقَلِّدُوا الْعُلَمَاءَ اِنْ كَانُوْا جُهَلَاءَ» (شرح عين العلم، بحواله حقيقة الفقه)

"यह विश्वसनीय बात है कि अल्लाह तआला ने किसी को हनफ़ी, मालिकी, शाफ़ई या हंबली बनने की तकलीफ़ नहीं दी है बल्कि सब (मुसलमानों) को इस बात का पाबन्द बनाया है

कि अगर वह उलमा के वर्ग से हों तो (सीधे सीधे) किताब व सुन्नत पर अमल करें और जाहिल हों तो उलमा की तक़्लीद करें।"

तीसरा : इस फ़लसफ़े की बुनियाद पर अगर यह भरम है कि जो इज्तिहाद का हुनर चारों इमामों को हासिल था, बाद के इमाम उस मक़ाम को नहीं पहुंच सकते, अतः इज्तिहाद भी उन पर ख़त्म हो गया और उनके अलावा किसी और की तक़्लीद भी नाजाइज़ जैसा कि कुछ लोगों ने ऐसा लिखा भी है तो यह भी ग़लत है। स्वयं कई हनफ़ी उलमा ने भी इस असत्य भरम का खंडन किया है और उसे अन्य इमामों व मुज्तहिदीन का अनादर और अल्लाह तआला की क़ुदरत पर व्यंग क़रार दिया है। अतएव मौलाना अब्दुल उला हनफ़ी (बहरुल उलूम) इब्ने हुमाम की व्याख्या में फ़रमाते हैं :

«وَأَمَّا الْمُجْتَهِدُونَ الَّذِينَ اتَّبَعُوهُمْ بِإِحْسَانٍ، فَكُلُّهُمْ سَوَاءٌ فِي صِلَاحِ التَّقْلِيدِ بِهِمْ، فَإِنْ وَصَلَ فَتْوَى سُفْيَانَ بْنِ عُيَيْنَةَ أَوْ مَالِكِ بْنِ دِينَارٍ يَجُوزُ الْأَخْذُ بِهِ كَمَا يَجُوزُ الْأَخْذُ بِفَتْوَى الْأَئِمَّةِ الْأَرْبَعَةِ إِلَّا أَنَّهُ لَمْ يَبْقَ عَنِ الْأَئِمَّةِ الْآخَرِينَ نَقْلٌ صَحِيحٌ إِلَّا أَقَلَّ الْقَلِيلِ، وَلِذَا مُنِعَ مِنَ التَّقْلِيدِ إِيَّاهُمْ فَإِنْ وُجِدَ نَقْلٌ صَحِيحٌ مِنْهُمْ فِي مَسْأَلَةٍ فَالْعَمَلُ بِهِ وَالْعَمَلُ بِفَتْوَى الْأَئِمَّةِ الْأَرْبَعَةِ سَوَاءٌ»

"वे मुज्तहिदीन जो सहाबा किराम रज़ि० के अच्छे अनुयायी हैं, वे सब के सब तक़्लीद की योग्यता में बराबर हैं (अर्थात चारों इमामों की बात ख़ास नहीं) अगर सुफ़ियान बिन ऐनिया या मालिक बिन दीनार का फ़तवा मिल जाए तो इस पर भी उसी तरह अमल किया जा सकता है जिस तरह कि चारों इमामों के फ़तवे पर अमल करना जाइज़ है इतनी बात ज़रूर है कि चारों इमामों के अलावा अन्य इमामों के कथन नक़्ल सहीह के साथ

कम संख्या ही में उपलब्ध होते हैं मात्र इसी वजह से ही कुछ लोगों ने उनकी तक़्लीद से रोका है लेकिन अगर किसी मसले में नक़्ल सही के साथ उनकी राय मिल जाए तो इस पर अमल करना और चारों इमामों के फ़तवे पर अमल करना दोनों बराबर है।"

और मुस्लिम की व्याख्या में भी इसी बात को रद्द करते हुए कि चारों इमामों के अलावा किसी और की तक़्लीद जाइज़ नहीं, लिखते हैं :

«ثُمَّ فِي قَوْلِهِ (يعني ابن الصلاح) خَلَلٌ آخَرُ إِذِ الْمُجْتَهِدُونَ الآخَرُونَ أَيْضًا بَذَلُوا جُهْدَهُمْ مِثْلَ بَذْلِ الأَئِمَّةِ الأَرْبَعَةِ وَإِنْكَارُ هٰذَا مُكَابَرَةٌ وَسُوءُ أَدَبٍ، بَلِ الْحَقُّ أَنَّهُ إِنَّمَا مَنَعَ مِنْ مَنْعِ تَقْلِيدِ غَيْرِهِمْ لأَنَّهُ لَمْ يَبْقَ رِوَايَةُ مَذْهَبِهِمْ مَحْفُوظَةً، حَتَّى لَوْ وُجِدَ رِوَايَةٌ صَحِيحَةٌ مِنْ مُجْتَهِدٍ آخَرَ، يَجُوزُ الْعَمَلُ بِهَا أَلاَ تَرَىٰ أَنَّ الْمُتَأَخِّرِينَ أَفْتَوا بِتَحْلِيفِ الشُّهُودِ إِقَامَةً لَهُ مَوْقِعَ التَّزْكِيَةِ عَلَى مَذْهَبِ ابْنِ أَبِي لَيْلَى فَافْهَمْ»(فواتح الرحموت، ص:٦٣٠ طبع نول كشور:١٨٧٨م)

इसमें उन्होंने उल्लिखित विचार को दूसरे इमामों का अनादर बतलाया है और चारों मज़हब से विद्रोह की एक मिसाल दी है इससे पहले एक और जगह पृ० 624 पर लिखते हैं :

«ثُمَّ إِنَّ مِنَ النَّاسِ مَنْ حَكَمَ بِوُجُوبِ الْخُلُوِّ مِنْ بَعْدِ الْعَلاَّمَةِ النَّسَفِي، وَاخْتَتَمَ الإِجْتِهَادُ بِهِ، وَعَنَوا الاجْتِهَادَ فِي الْمَذْهَبِ، وَأَمَّا الاجْتِهَادُ الْمُطْلَقُ فَقَالُوا اخْتَتَمَ بِالأَئِمَّةِ الأَرْبَعَةِ حَتَّى أَوْجَبُوا تَقْلِيدَ وَاحِدٍ مِنْ هٰؤُلاَءِ عَلَى الأُمَّةِ، وَهٰذَا كُلُّهُ هَوَسٌ مِنْ هَوَسَاتِهِمْ لَمْ يَأْتُوا بِدَلِيلٍ، وَلاَ يُعْبَأُ بِكَلاَمِهِمْ، وَإِنَّمَاهُمْ مِنَ الَّذِينَ حَكَمَ الْحَدِيثُ أَنَّهُمْ أَفْتَوا بِغَيْرِ عِلْمٍ، فَضَلُّوا وَأَضَلُّوا»

अर्थात "जिन लोगों ने यह फ़ैसला दे दिया है कि अल्लामा नसफ़ी के बाद "इज्तिहाद फ़िल मज़हब" भी ख़त्म हो गया है जबकि सर्वथा इज्तिहाद तो पहले ही चारों इमामों पर ख़त्म हो चुका है इसलिए अब उम्मत पर उन्हीं चारों इमामों में से किसी एक की तक़्लीद वाजिब है तो यह उनकी हवसों में से एक हवस है जिसकी कोई दलील उनके पास नहीं। असल में उनकी बात भरोसे योग्य ही नहीं, यह इस हदीस का चरितार्थ हैं "स्वयं भी गुमराह हुए और दूसरों को भी गुमराह किया।"

और मौलाना निज़ामुद्दीन लखनवी अपनी मुस्लिम की व्याख्या में लिखते हैं :

«اعْلَمْ أَنَّ بَعْضَ الْمُتَعَصِّبِينَ قَالُوا اخْتَتَمَ الاجْتِهَادُ الْمُطْلَقُ عَلَى الأَئِمَّةِ الأَرْبَعَةِ وَلَمْ يُوجَدْ مُجْتَهِدٌ مُطْلَقٌ بَعْدَهُمْ، وَالاجْتِهَادُ فِي الْمَذْهَبِ اخْتَتَمَ عَلَى الْعَلاَّمَةِ النَّسَفِي صَاحِبِ الْكَنْزِ وَلَمْ يُوجَدْ مُجْتَهِدٌ فِي الْمَذْهَبِ بَعْدَهُ، وَهٰذَا غَلَطٌ وَرَجْمٌ بِالْغَيْبِ، فَإِنْ سُئِلَ مِنْ أَيْنَ عَلِمْتُمْ هٰذَا، لاَ يَقْدِرُونَ عَلَى إِيرَادِ دَلِيلٍ أَصْلاً، ثُمَّ هُوَ إِخْبَارٌ بِالْغَيْبِ وَتَحَكُّمٌ عَلَى قُدْرَةِ اللهِ تَعَالَى، فَمِنْ أَيْنَ يَحْصُلُ عِلْمٌ أَنْ لاَ يُوجَدَ إِلَى يَوْمِ الْقِيَامَةِ أَحَدٌ يَتَفَضَّلُ اللهُ عَلَيْهِ بِنَيْلِهِ مَقَامَ الاجْتِهَادِ، فَاجْتَنِبْ عَنْ مِثْلِ هٰذِهِ التَّعَصُّبَاتِ»

"मालूम होना चाहिए कि कुछ पक्षपातियों ने जो यह कहा है कि "सर्वथा इज्तिहाद चारों इमामों पर ख़त्म हो गया है और उनके बाद कोई सर्वथा मुज्तहिद नहीं हुआ। इसी तरह इज्तिहाद फ़िल मज़हब अल्लामा नसफ़ी साहब कन्ज़ पर ख़त्म हो गया और उनके बाद कोई मुज्तहिद फ़िल मज़हब नहीं हुआ। बिल्कुल ग़लत और अटकल पच्चू बात है। अगर उनसे पूछा जाए तुम्हें इस बात का पता कहां से हुआ? तो यह इस पर कोई दलील

पेश नहीं कर सकेंगे। इसके अलावा यह परोक्ष बात और अल्लाह की क़ुदरत पर बे दलील हुक्म लगाना है। उनको यह ज्ञान कहां से हासिल हो गया कि अल्लाह तआला क़यामत तक किसी को भी अब मक़ामे इज्तिहाद से सरफ़राज़ नहीं फ़रमाएगा? ऐसे पक्षपात और हटधर्मी से बचकर रहो।''

चौथा : चारों इमामों की तक़लीद के वाजिब होने के मसले ने उम्मते मुस्लिमा में बहुत से फ़ितने और क़बाहतें पैदा की हैं। जैसे : 1. दीने हक़ को, जो एक था, चार मज़हबों में विभाजित करके मुसलमानों में गुटबाज़ी और पक्षपात को बढ़ावा दिया और यह पक्षपात इस हद तक पहुंचा दिया कि ख़ाना काबा के अंदर भी चार मुसल्ले क़ायम कर दिए गए थे, वहां एक दूसरे के पीछे नमाज़ें पढ़ने तक को तैयार न थे।

2. हदीसें गढ़ने की हिम्मत की गई। अतएव उन चारों इमामों के इन मुक़ल्लिदों ने अपने अपने इमामों की श्रेष्ठता में और अपने विरोधी इमामों की निन्दा में कई हदीसें गढ़ीं। कई मन गढ़त हदीसों से अपने मसलक पर विवेचन किया, कुछ हदीसों में अपने मज़हब को सहीह साबित करने के लिए हेर फेर की, यहां तक कि तक़लीद के स्वीकरण के जोश में हिन्दुस्तान के एक ऊंचे दर्जे के मुक़ल्लिद विद्वान ने एक आयत भी अपनी तरफ़ से लिख डाली। (देखिए, ''ईज़ाहुल अदिल्ला'' लेखक मौलाना महमूदुल हसन देवबन्दी, पृ० : 97, प्रकाशन क़ासमी देवबन्द, 1330 हि०)

3. क़ुरआन व हदीस से विमुखता की और तक़्लीदी व फ़िक़्ही जड़ता को बढ़ावा दिया जिस तरह कि इसका एतेराफ़ सय्यद सुलैमान नदवी मरहूम ने भी तहरीक अहले हदीस की सेवाएं बयान करते हुए किया है। (देखिए ''तराजिम उलमाए हदीस'' का मुक़दमा, पृ० : 31, 33)

इनके अलावा और बहुत सी क़बाहतें हैं जो इमामों की तक़्लीद के वाजिब होने के दृष्टिकोण से और मुक़ल्लिदीन की फ़िक़्ही जड़ता से पैदा

हुई। इस हिसाब से यह तक़्लीदी सिलसिला ही एक दम इस्लाम के ख़िलाफ़ और उम्मते मुस्लिमा के लिए सख़्त हानिकारक है या यह कि इसे पवित्रता व महत्वता का यह दर्जा दे दिया जाए कि जिस मसले में ये चारों तक़्लीदी मज़ाहिब सहमत हो जाएं इसे इज्माअ उम्मत का मक़ाम मिल जाए? जिसे ज़रा भी दीन की समझ होगी और इस्लाम की ग़ैरत व पक्षपात इसके दिल में मौजूद होगा वह कभी इस तक़्लीदी नज़रिये की हिमायत नहीं करेगा।

4. इज्माअ उम्मत के इन्कारी और शीयों के पद चिन्हों पर अहले हदीस हैं या मुक़ल्लिदीन? : रह गई सम्पादक "बैनात" की यह फुलझड़ी कि "अहले हदीस इज्माअ उम्मत से हटकर शीयों के पद चिन्हों पर हैं और चारों ख़लीफ़ों की पैरवी का जो हुक्म रसूलुल्लाह सल्ल० ने उम्मत को दिया था उसका रिश्ता उनके हाथ से छूट गया है।" (मतभेद उम्मत और सिराते मुस्तक़ीम" पृ० : 33)

इज्माअ के दावों की हक़ीक़त स्पष्ट करते हुए हम बतला आए हैं कि हज़रत उमर ने तीन तलाक़ों को तीन ही मानने का जो हुक्म लागू किया था, वह एक सियासी और तदबीरी इक़्दाम था, वर्ना हज़रत उमर रज़ि० तआम्मुल अहदे रिसालत (अर्थात तलाक़ों को एक ही तलाक़ मानने) के क़ायल थे। यही वजह है कि उनके ख़िलाफ़त के दौर के प्रारंभिक दो सालों में यही मामला रहा। फिर आख़िर उम्र में भी उन्होंने अपने इस इक़्दाम पर पश्चाताप व्यक्त किया जो बतौर तदबीर उन्होंने इख़्तियार किया था। हज़रत अबूबक्र सिद्दीक़ रज़ि० के दौर में यही मामला रहा और अन्य कई सहाबा के अलावा हज़रत अली रज़ि० भी इसी के क़ायल थे। अब देखिए इस मसले में भी चारों ख़लीफ़ा किस तरफ़ हैं, तीन तलाक़ को तीन मानने की तरफ़ या तीन तलाक़ को एक तलाक़ मानने की तरफ़? स्पष्ट है ये तीनों चारों ख़लीफ़ा उल्लिखित स्पष्टीकरण के अनुसार एक ही तलाक़ के क़ायल हैं। अब ज़रा सोचिए चारों ख़लीफ़ा राशिदीन की पैरवी न होने का

असल अपराधी कौन है? और यूं शीयों के अनुयायी अहले हदीस हुए या स्वयं मुक़ल्लिदीन?

इसके अलावा निश्चय ही मुक़ल्लिदीन ही सहाबा व ताबओन की समझ व तरीक़े से विमुखता के रास्ते पर चल रहे हैं। तक़्लीद शख़्सी पर आग्रह की बजाए स्वयं सहाबा व ताबओन की रविश से विमुखता है, जिसकी वजह से उन्हें बहुत सी सही हदीसों से भी इन्कार करना पड़ रहा है। अल्लाह का शुक्र अहले हदीस इस कार्य से महफ़ूज़ और सहाबा किराम के तरीक़े पर क़ायम हैं।

मालूम है कि सम्पादक ''बैनात'' ने इस मसला में चारों ख़लीफ़ों के आज्ञापालन का यह राग क्यों इतने ऊंचे सुरों में अलापा है? कि अहले हदीस को शीयों का अनुयायी बना दिया। बेचारे सम्पादक अनजाने में यही समझते रहे कि इस मसले में तो कम से कम चारों ख़लीफ़ा हमारे ही साथी हैं। जबकि यह बात भी वास्तविकता के विरुद्ध है लेकिन श्रीमान अज्ञानता में मार खा गए। वर्ना उन मुक़ल्लिदीन का चारों ख़लीफ़ों के आज्ञापालन का यह हाल है कि इमाम के पीछे फ़ातिहा, रफ़अ यदैन, ज़ोर से आमीन और अन्य बीसियों मसाइल में चारों ख़लीफ़ा और अन्य सहाबा को कोई महत्व नहीं देते और अपने इमाम की तक़्लीद पर ज़ोर देते रहते हैं। इस समय उनको रसूलुल्लाह सल्ल० का वह आदेश याद नहीं आता जिसमें चारों ख़लीफ़ों राशिदीन की पैरवी का हुक्म दिया गया है और जिसका हवाला श्रीमान ने अहले हदीस के बारे में दिया है, उस समय उनको यह भी याद नहीं रहता कि चारों ख़लीफ़ों की हदीसें ठुकरा कर हम शीयों की पैरवी कर रहे हैं जिसका आरोप इस मसले में उन्होंने अहले हदीस पर लगा दिया है। मानो अहले हदीस अगर रिसालत दौर व अबूबक्र दौर के तरीक़े मुक़ाबले में हज़रत उमर रज़ि० के एक तात्कालिक और इज्तिहादी इक़्दाम को न मानें तो वह चारों ख़लीफ़ा के आज्ञापालन के इन्कारी और शीयों के अनुयायी और स्वयं मुक़ल्लिदीन एक मसले में नहीं

दसियों और बीसियों मसाइल में अपने इमाम के कथन के मुक़ाबले में चारों ख़लीफ़ों और सहाबा किराम रज़ि० की रिवायतों को बे भरोसा न समझें लेकिन इसके बावजूद वे चारों ख़लीफ़ा के आज्ञा पालक और सहाबा किराम रज़ि० के पक्के आशिक। क्या ख़ूब इंसाफ़ है? शायद किसी ऐसे ही अवसर के लिए शायर ने कहा है :

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम
वो क़त्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता

फिर ज़रा यह भी फ़रमाइए कि सहाबा किराम रज़ि० को फ़क़ीह और ग़ैर फ़क़ीह के ख़ानों में किसने विभाजित किया है? और क़यास के मुक़ाबले में ग़ैर फ़क़ीह सहाबा की रिवायात को किसने ठुकराया है? क्या ये सब कुछ हनफ़ी मुक़ल्लिदीन ने नहीं किया? और क्या सहाबा किराम रज़ि० को ग़ैर फ़क़ीह कहना और अपने क़यास के मुक़ाबले में उनकी बयान की गई रिवायत हदीस को ठुकरा देना क्या यह सहाबा किराम का अपमान नहीं? क्या यह शरीअत की पैरवी नहीं? अपने गरेबान में झांकिए और सोचिए कि शीयों के पद चिन्हों पर कौन है?

और ज़रा आगे चलिए! क्या मुक़ल्लिदीन क़ुरआन व हदीस के मुक़ाबले में अपने इमामों के कथनों को वरीयता नहीं देते? निश्चय ही देते हैं, जिसका एतेराफ़ बड़े बड़े उलमा ने किया है (पृष्ठ अधिक हो जाने का डर है वर्ना ऐसे दसियों हवाले और घटनाएं पेश की जा सकती हैं) क्या अपने इमामों को आपत्तिजनक होने के उपरान्त आज्ञापालन योग्य समझना और क़ुरआन व हदीस के मुक़ाबले में उनके कथनों को वरीयता देना, वही इमामते मासूमा का दृष्टिकोण नहीं जिसके शीआ क़ायल हैं? फ़र्क़ केवल इतना है कि शीया ज़बान से अपने इमामों को मासूम मानते हैं और मुक़ल्लिदीन ज़बान से तो नहीं कहते लेकिन व्यवहार में अपने इमामों को "मासूम" बना रखा है कि क़ुरआन व हदीस को तो छोड़ दिया जाता है लेकिन इमाम का कथन छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। स्वयं

फ़ैसला कर लीजिए, नहीं तो किसी तीसरी अदालत से फ़ैसला करवा लीजिए कि शीयों के पद चिन्हों पर कौन है?

इल्ज़ाम हम उनको देते थे, क़ुसूर अपना निकल आया

अगर हमारी बात मुक़ल्लिदीन की बहुत बुरी लगे तो हम शाह इस्माईल शहीद रह० का कथन पेश किए देते हैं जिसमें उन्होंने मुक़ल्लिदीन के बारे में यही विचार व्यक्त किया है। फ़रमाते हैं :

«وَقَدْ غَلاَ النَّاسُ فِي التَّقْلِيدِ وَتَعَصَّبُوا فِي الْتِزَامِ تَقْلِيدِ شَخْصٍ مُعَيَّنٍ، حَتَّى مَنَعُوا الاجْتِهَادَ فِي مَسْئَلَةٍ، وَمَنَعُوا تَقْلِيدَ غَيْرِ إِمَامِهِ فِي بَعْضِ الْمَسَائِلِ، وَهَذَا هِيَ الدَّاءُ الْعُضَالُ الَّتِي أَهْلَكَتِ الشِّيعَةَ، فَهٰؤُلاَءِ أَيْضًا أَشْرَفُوا عَلَى هَلاَكٍ، إِلاَّ أَنَّ الشِّيعَةَ قَدْ بَلَغُوا أَقْصَاهَا فَجَوَّزُوا (رَدَّ) النُّصُوصِ بِقَوْلِ مَنْ يَزْعُمُونَ تَقْلِيدَهُ وَهٰؤُلاَءِ أَخَذُوا فِيهَا، وَأَوَّلُوا الرِّوَايَاتِ الْمَشْهُورَةَ إِلَى قَوْلِ إِمَامِهِمْ، وَالْحَقُّ تَأْوِيلُ قَوْلِ الإِمَامِ إِلَى رِوَايَاتٍ، إِنْ قَبِلَ وَإِلاَّ فَالتَّرْكُ» (تنوير العينين في اثبات رفع اليدين، ص: ٢٥ طبع لاهور)

“तक़्लीद में लोगों ने अतिशयोक्ति से काम लिया है और इस मामले में बड़े पक्षपात से काम लिया है यहां तक कि किसी मसले में इज्तिहाद तक की भी मनाही कर दी है और कुछ मसाइल में अपने इमाम के सिवा किसी और की तक़्लीद को भी तैयार नहीं। यही वह सख़्त बीमारी है जिसने शीयों को विनष्ट किया, तो ये (मुक़ल्लिदीन) भी बर्बादी के क़रीब पहुंच गए हैं। फ़र्क़ इतना है कि शीया बर्बादी की चरम सीमा को पहुंच चुके हैं क्योंकि उन्होंने उन लोगों के कथन के मुक़ाबले में जिनकी तक़्लीद का वे दम भरते हैं, नसूस के रद्द कर देने को भी जाइज़ समझा है, और इन (मुक़ल्लिदीन) का हाल यह

है कि यह मशहूर रिवायतों में भी अर्थापन करके उनको अपने इमाम की राय के अनुसार करने की कोशिश करते हैं यद्यपि सही तरीक़ा यह है कि इमाम के कथन को रिवायात के अनुसार बनाएं अगर उसे ज़रूर अपनाना ही है वर्ना (सहीह रिवायतों के मुक़ाबले में तो) इमाम का कथन छोड़ ही देना चाहिए।"

इसके अलावा इस मसला के हल के लिए हनफ़िया ने ख़ासकर जो घृणित हलाला ईजाद किया है, जिसका फ़तवा हनफ़ी फ़ुक़्हा देते आए हैं और अब भी देते हैं, क्या वह शीयों का सा तरीक़ा नहीं? कि सहाबा किराम रज़ि० तो इसे ज़िनाकारी समझते रहे और सहाबा व ताबईन के दौर में कोई मुसलमान इस घृणित काम को करना तो अलग रहा, इसकी कल्पना तक नहीं कर सकता था। क्या हमारे उन भाइयों ने सहाबा व ताबईन के तरीक़े को नज़रअंदाज़ करके शीयों के मुतआ की तरह हलाला की सूरत में ज़िनाकारी का रास्ता नहीं खोल रखा है?

दूसरे, हनफ़िया के अलावा, प्रचलित हलाला के हराम और घृणित काम होने पर पूरी उम्मत सहमत है, सहाबा व ताबईन इसकी हुरमत पर सहमत थे, तमाम इमाम व मुज्तहिदीन इस पर सहमत रहे, संकलित मज़हबों ने भी इसे हराम समझा, यहां तक कि इमाम अबू हनीफ़ा के शिष्य इमाम मुहम्मद व इमाम अबू यूसुफ़ आदि भी इस निकाह को ग़लत क़रार देते हैं। पूरी उम्मत में केवल एक इमाम अबू हनीफ़ा रह० हैं जिन्होंने ऐसे निकाह को सही क़रार दिया और यूं उन्होंने हलाला के जायज़ होने का दरवाज़ा खोला जिसकी बुनियाद पर उनके अनुयायी हनफ़ी मुक़ल्लिदीन भी इसके जायज़ होने का फ़तवा देते हैं। अब हर व्यक्ति सोच ले कि एक ऐसा घृणित काम जिसकी हुरमत नबी सल्ल० के आदेश से साबित है और जिसके हराम होने पर पूरी उम्मते मुस्लिमा भी सहमत है, उसका करना उम्मत की सहमति का इंकार है या नहीं? मानो हनफ़ी मुक़ल्लिदीन ही शीयों के पद चिन्हों पर चल रहे हैं और इज्माअ

उम्मत के मुंकर भी वही हैं।

हुकूमत से विनती : अन्त में हम हुकूमत से भी निवेदन करेंगे कि हलाले की रोकथाम के लिए एक क़ानून बनाया जाए जिसमें हलाले करने वाले मर्द व औरत को ज़िनाकारी वाली सज़ा दी जाए जैसा कि हज़रत उमर फ़ारूक़ रज़ि० ने हलाला करने वाले मर्द व औरत दोनों को रजम की सज़ा देने का विचार व्यक्त किया था। इसी तरह हलाले के जायज़ होने का फ़तवा देने वाले मुफ़्ती के लिए भी कोई उचित सज़ा निश्चित की जांए ताकि किसी मुफ़्ती को यह साहस न हो कि वह आगे ऐसे प्रचलित हलाला के जायेज़ होने का फ़तवा दे जो पूरी तरह क़ुरआन व हदीस के ख़िलाफ़ सहाबा व ताबअीन के कार्यों के विपरीत और उम्मत के इज्माअ के ख़िलाफ़ है। फ़िक़्ही तक़्लीद की आड़ में किसी गिरोह को यह हक़ देना बिल्कुल सही नहीं कि वह इस तरह खुल्लम खुल्ला क़ुरआन व हदीस को झुठलाए, सहाबा व ताबअीन के कामों की मिट्टी पलीद करे और उम्मत की सहमति से मुंह मोड़े।

(11)

औरत का खुलअ का हक़ और उसके मसाइल

फिर भी अल्लाह तआला ने इस दूसरे पहलू को भी ध्यान में रखा है कि किसी समय औरत को भी मर्द से अलग होने की ज़रूरत पेश आ सकती है, जैसे पति नामर्द हो, वह औरत के जिन्सी हक़ अदा करने पर समर्थ न हो या वह भरण पोषण अदा करने पर समर्थ न हो, या समर्थ तो हो लेकिन उसे दे न पाता हो, या अकारण इस पर ज़ुल्म व अत्याचार करता या मार पीट से काम लेता हो, या औरत अपने बदशक्ल पति को पसन्द न करती और महसूस करती हो कि वह उसके साथ निबाह या उसके जिन्सी हक़ अदा नहीं कर सकती।

इन या इन जैसी अन्य तमाम सूरतों में औरत पति को यह बात रखकर कि तूने मुझे जो मेहर और उपहार आदि दिया है, वह मैं तुझे वापस कर देती हूं, तू मुझे तलाक़ दे दे। अगर पति उस पर राज़ी होकर उसे तलाक़ दे दे, तो ठीक है वर्ना वह औरत अदालत या पंचायत के द्वारा पति से छुटकारा हासिल कर सकती है।

औरत के इस हक़ को "खुलअ" कहते हैं। कुछ फ़ुक़्हा औरत के इस हक़ खुलअ को नहीं मानते, लेकिन शरीअत ने इसे माना है। इसलिए इसका इंकार नहीं किया जा सकता। यही तो इस्लामी शिक्षाओं की सन्तुलित राह है कि उसमें तमाम प्राकृतिक बातों और हक़ों का औचित्य है और औरत के लिए कभी कभी उल्लिखित सूरतों में अलग होने की ज़रूरत व महत्व, बल्कि अत्यन्त ज़रूरत से इंकार करना, हक़ाइक़ से आंखें चुराना है जो किसी तरह भी पसन्दीदा बात नहीं, इसके अलावा इस्लामी शिक्षाओं के भी मुताबिक़ नहीं। इसके संक्षिप्त तर्क निम्न हैं।

ख़ुलअ के जायज़ होने के तर्क

क़ुरआन मजीद में अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿وَلَا يَحِلُّ لَكُمْ أَنْ تَأْخُذُوا مِمَّا آتَيْتُمُوهُنَّ شَيْئًا إِلَّا أَنْ يَخَافَا أَلَّا يُقِيمَا حُدُودَ اللَّهِ فَإِنْ خِفْتُمْ أَلَّا يُقِيمَا حُدُودَ اللَّهِ فَلَا جُنَاحَ عَلَيْهِمَا فِيمَا افْتَدَتْ بِهِ﴾

"तुम्हारे लिए यह जाइज़ नहीं कि तुमने उन (औरतों) को जो कुछ (मेहर में) दिया है (तलाक़ देने के बाद) उसमें से कुछ (वापस) ले लो। मगर इस हालत में (यह जायज़ है) कि वे दोनों (पति पत्नी) यह डर महसूस करें कि वह अल्लाह की सीमाओं को क़ायम नहीं रख सकेंगे। तो अगर तुम डरो कि निश्चय ही वे दोनों अल्लाह की सीमाओं को क़ायम नहीं रख सकेंगे, तो फिर औरत (पति से छुटकारा पाने के लिए) जो भी फ़िदया (बदला) देगी, उसमें उन दोनों (लेने देने वालों) पर कोई गुनाह नहीं।" (बक़रा : 229)

यह आयत ख़ुलअ के जायज़ होने में खुली नस है। इसमें स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि तलाक़ की सूरत में तो मेहर में से कुछ भी लेना जाइज़ नहीं हैं अलबत्ता ख़ुलअ में (औरत की तरफ़ से तलाक़ की मांग पर तलाक़ देने की सूरत में पति के लिए) मेहर का वापस लेना जाइज़ है इसमें लेने वाले पर कोई गुनाह है न देने वाले पर। क्योंकि देने वाली अपनी ख़ुशी से दे रही है और लेने वाला अपना वह ख़र्च वसूल कर रहा है जो उसने उस औरत पर इस उद्देश्य से किया था कि वह उसके घर में आबाद रहेगी, लेकिन अब वह आबाद रहने के लिए तैयार नहीं है तो उसका यह वह हक़ है जो वापस लेना चाहे तो ले सकता है।

आयत में ख़ुलअ के औचित्य की वह वजह भी बयान कर दी गई है जिसकी बुनियाद पर ऐसा किया जा सकता है और वह यह भय है कि किसी वजह से वे दोनों अल्लाह की सीमाओं को क़ायम नहीं रख सकेंगे,

अर्थात दाम्पत्य जीवन का हक़ अदा करने में वे कामयाब नहीं हो सकेंगे जो निकाह का असल उद्देश्य है। साफ़ सी बात है कि जब एक औरत उल्लिखित कारणों में से किसी एक वजह से पति को पसन्द ही नहीं करती, तो वह स्वेच्छा से पति के साथ अपना संबंध बरक़रार नहीं रख सकती और उसकी जिन्सी इच्छा पूरी करने से विवश रहेगी। रसूलुल्लाह सल्ल० के तरीक़े अमल और फ़ैसले से भी ख़ुलअ का स्वीकरण होता है। अतएव हदीस में आता है कि हज़रत साबित बिन क़ैस की पत्नी रसूलुल्लाह सल्ल० के पास आई और कहने लगी :

«يَا رَسُولَ اللهِ! ثَابِتُ بْنُ قَيْسٍ مَا أَعْتِبُ عَلَيْهِ فِي خُلُقٍ وَلَا دِينٍ، وَلٰكِنِّي أَكْرَهُ الْكُفْرَ فِي الْإِسْلَامِ، (وفي رواية: وَلٰكِنِّي لَا أُطِيقُهُ) فَقَالَ رَسُولُ اللهِ ﷺ أَتَرُدِّينَ عَلَيْهِ حَدِيقَتَهُ؟ قَالَتْ نَعَمْ، قَالَ رَسُولُ اللهِ ﷺ اقْبَلِ الْحَدِيقَةَ وَطَلِّقْهَا تَطْلِيقَةً» (صحيح البخاري، الطلاق، باب الخلع وكيف الطلاق فيه، ح: ٥٢٧٣-٥٢٧٦)

"अल्लाह के रसूल! मेरा पति साबित बिन क़ैस है मैं यह नहीं कहती कि वह बुरे स्वभाव का है या दीन के मामले में ख़राब है (अर्थात नैतिक और दीनी दृष्टि से उसमें कोई ख़राबी नहीं) लेकिन मैं इस बात से डरती हूं कि मुसलमान होते हुए मैं कुक्रिया काम का शिकार हो जाऊं (दूसरी रिवायत के शब्द हैं कि मैं उसके साथ निबाह करने की ताक़त नहीं रखती) रसूलुल्लाह सल्ल० ने उससे पूछा, तुझे उसने जो बाग़ दिया है वह उसे वापस कर देगी? उसने कहा, हां! तू रसूलुल्लाह सल्ल० ने उसके उस पति से फ़रमाया : इससे बाग़ वापस ले ले और इसे तलाक़ दे दे।"

इसमें कुफ़्र या कुक्रिया काम से तात्पर्य, पति के हक़ अदा न करना ही है, क्योंकि वह पति को नापसन्द करती थी, जिसका स्पष्टीकरण दूसरी

रिवायत में है कि मैं उसके साथ निबाह करने की ताक़त नहीं रखती और उसकी वजह दूसरी रिवायतों में यह बयान की गई है कि वह स्वयं अत्यन्त हसीन व जमील औरत थी जबकि हज़रत साबित उसके विपरीत काले और बदशक्ल थे...रज़ि०... (फ़त्हुलबारी)

जब बदशक्ल होने की बुनियाद पर रसूलुल्लाह सल्ल० ने एक औरत को खुलअ का हक़ दे दिया, जबकि यह इंसान के अपने इख़्तियार का मामला भी नहीं, तो जो पति अपने इख़्तियार से औरत के साथ ज़ुल्म व ज़्यादती का मामला करे या उसे भरण पोषण अदा न करे या वह उसके जिन्सी हक़ अदा न करे या अदा करने के योग्य ही न हो, तो फिर औरत खुलअ द्वारा ऐसे पतियों से अलग क्यों नहीं हो सकती? निश्चय ही हो सकती है। इस्लाम ने हर ज़ुल्म का रास्ता बन्द किया है तो औरतों पर ज़ुल्म का रास्ता वह क्यों बन्द नहीं करता। औरत को खुलअ का यह हक़ इसी लिए दिया गया है कि वह उसके द्वारा अपने ऊपर होने वाले ज़ुल्म को रोक सके।

भरण पोषण उपलब्ध न करने पर अलग हो जाने का जवाज़

सहीह बुख़ारी में हज़रत अबू हुरैरह रज़ि० से मरवी हदीस है, रसूलुल्लाह सल्ल० ने फ़रमाया :

«أَفْضَلُ الصَّدَقَةِ مَا تَرَكَ غِنًى، وَالْيَدُ الْعُلْيَا خَيْرٌ مِّنَ الْيَدِ السُّفْلَى، وَابْدَأْ بِمَنْ تَعُولُ، تَقُولُ الْمَرْأَةُ: إِمَّا أَنْ تُطْعِمَنِي، وَإِمَّا أَنْ تُطَلِّقَنِي وَيَقُولُ الْعَبْدُ: أَطْعِمْنِي وَاسْتَعْمِلْنِي، وَيَقُولُ الابْنُ أَطْعِمْنِي إِلَى مَنْ تَدَعُنِي؟ فَقَالُوا: يَا أَبَاهُرَيْرَةَ، سَمِعْتَ هٰذَا مِنْ رَسُولِ اللهِ ﷺ؟ قَالَ: لَا، هٰذَا مِنْ كِيسِ أَبِي هُرَيْرَةَ»(صحيح البخاري، النفقات، باب وجوب النفقة على الأهل والعيال، ح:٥٣٥٥)

"श्रेष्ठ सदक़ा वह है जो (घर वालों को) बेनियाज़ छोड़े (अर्थात

उनकी ज़रूरत पूरी करने के बाद किया जाए, ताकि वह किसी के मोहताज न रहें) और उच्च (देने वाला) हाथ, निचले (लेने वाले) हाथ से बेहतर है और आरंभ उससे करो जिसके (ख़र्चों) कफ़ील और ज़िम्मेदार तुम हो। औरत कहती है, मुझे खिला, या मुझे तलाक़ दे। ग़ुलाम कहता है, मुझे खिला और मुझसे काम ले (कुछ रिवायतों में है मुझे खिला वर्ना मुझे बेच दे) और बेटा कहता है, मुझे खिला, मुझे किसके हवाले कर रहा है? लोगों ने पूछा, अबू हुरैरह, क्या ये (सब बातें) तुमने रसूलुल्लाह सल्ल० से सुनी हैं? उन्होंने कहा, नहीं। यह अबू हुरैरह की ज़म्बील से है।"

मतलब यह है कि वबदअन बिमन तऊलू, तक तो निःसन्देह नबी सल्ल० का आदेश है। इसके बाद का हिस्सा वह है जो हज़रत अबू हुरैरह रज़ि० ने इस हदीसे रसूल से समझा और निष्कर्षण निकाला। मानो एक सहाबी रसूल ने नबी करीम सल्ल० के इस आदेश से यह निष्कर्षण किया कि एक मर्द जिन लोगों के ख़र्चों का ज़िम्मेदार है, जिनमें उसकी पत्नी, ग़ुलाम और औलाद है (जो अभी कमाने के क़ाबिल नहीं हैं) उन्हें ख़र्च उपलब्ध करे, वर्ना उनको आज़ाद कर दे, अर्थात पत्नी को तलाक़ दे दे, ग़ुलाम को बेच दे, इसी तरह औलाद भी किसी के हवाले कर दे।

हज़रत अबू हुरैरह रज़ि० के इसी निष्कर्षण और कथन से जमहूर उलमा ने विवेचन किया है कि जो व्यक्ति अपनी औरत को भरण पोषण उपलब्ध नहीं कर सकता और उसके आधार पर औरत अलग होना पसन्द करे, तो उनके बीच अलहदगी करा दी जाए अर्थात उसे तलाक़ दिलवा दी जाए।

«وَاسْتَدَلَّ بِقَوْلِهِ: (إِمَّا أَنْ تُطْعِمَنِي وَإِمَّا أَنْ تُطَلِّقَنِي) مَنْ قَالَ: يُفَرَّقُ بَيْنَ الرَّجُلِ وَامْرَأَتِهِ إِذَا أَعْسَرَ بِالنَّفَقَةِ وَاخْتَارَتْ فِرَاقَهُ، وَهُوَ قَوْلُ جُمْهُورِ الْعُلَمَاءِ» (فتح الباري، النفقات: ٩/ ٦٢١)

इस मसले में जमहूर उलमा ने क़ुरआन मजीद की इस आयत से भी विवेचन किया है :

﴿ وَلَا تُمْسِكُوهُنَّ ضِرَارًا لِّتَعْتَدُوا ﴾ (البقرة: ٢٣١)

"और तुम उन औरतों को तकलीफ़ पहुंचाने की मन्शा से मत रोको, ताकि तुम उन पर ज़ुल्म व ज़्यादती करो।"

यह बात अल्लाह तआला ने यद्यपि तलाक़ के बारे में बयान फ़रमाई है कि जिन औरतों को तुमने (पहली या दूसरी) तलाक़ दी है और उनकी इद्दत ख़त्म होने के क़रीब है, तो तुम्हें छूट है कि इद्दत गुज़रने से पहले पहले रुजूअ कर लो, या फिर उनको अपने से अलग कर दो (अर्थात इद्दत गुज़र जाने दो) लेकिन दोनों सूरतों में उनके साथ अच्छा सुलूक करो। उनको रुख़सत करना हो तब भी उन्हें कोई उपहार आदि देकर अपने से अलग करो और अगर रुजूअ करके उन्हें अपने घर (दोबारा) बसाना चाहते हो, तब भी तुम्हारी नीयत उन्हें सही तरीक़े से आबाद करना हो, उन्हें हानि पहुंचाना और उन पर ज़ुल्म व ज़्यादती करना तुम्हारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

लेकिन इसमें ताकीद है कि औरत के साथ किसी समय भी और किसी हालत में भी ज़ुल्म व ज़्यादती करने की इजाज़त नहीं है, तुम्हारे घर में आबाद है तब भी और तलाक़ देकर तुम दोबारा आबाद करना चाहते हो तब भी। अगर ज़ुल्म व ज़्यादती करोगे तो सरकारी अफ़सर या समाज के ज़िम्मेदार लोग उसका निवारण करने के ज़िम्मेदार होंगे और पत्नी को भरण पोषण उपलब्ध न करना या अकारण मारना पीटना भी ज़ुल्म है। अगर पति सद व्यवहार का मामला करने से विवश होगा और औरत इस आधार पर उससे अलेहदगी चाहेगी, तो उनके बीच जुदाई कराना ज़रूरी होगा।

सहाबा के आसार व ताबईन

कुछ आसारे सहाबा और ताबईन से भी उल्लिखित दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। अतः "लेखक अब्दुर्रज़्ज़ाक़" आदि के हवाले से अत्ताअलीक़ अलमुग़नी दारे क़ुतनी में हज़रत उमर रज़ि० के एक सरकुलर का (सरकारी हुक्मनामा) उल्लेख किया गया है।

«أَنَّهُ كَتَبَ إِلَى أُمَرَاءِ الأَجْنَادِ فِي رِجَالٍ غَابُوا عَنْ نِسَائِهِمْ، إِمَّا أَنْ يُنْفِقُوا وَإِمَّا أَنْ يُطَلِّقُوا وَيَبْعَثُوا نَفَقَةَ مَا حَبَسُوا» (التعليق المغني، مولانا شمس الحق عظيم آبادي، صاحب عون المعبود: ٣/٢٩٧ طبع ١٩٦٦ء)

"हज़रत उमर रज़ि० ने उन लोगों की बाबत, जो अपनी पत्नियों से लम्बी मुद्दत से दूर (ग़ायब) हैं, लश्करों के उमरा के नाम यह लिखा कि वे अपनी पत्नियों का ख़र्च भेजें या उनको तलाक़ दे दें और जितनी अवधि उन्होंने ख़र्च रोके रखा उन दिनों का ख़र्चा भी भेजें।"

इसी तरह प्रसिद्ध उच्च कोटि ताबई का कथन है कि ऐसा व्यक्ति जो अपनी पत्नी का भरण पोषण उपलब्ध करने से विवश है तो उसके और उसकी पत्नी के बीच अलहदगी करवा दी जाए।

«عَنْ سَعِيدِ بْنِ الْمُسَيَّبِ فِي الرَّجُلِ لاَ يَجِدُ مَا يُنْفِقُ عَلَى امْرَأَتِهِ، قَالَ يُفَرَّقُ بَيْنَهُمَا» (سنن الدارقطني: ٣/٢٩٧، ح: ٣٧٤١)

अबुज़्ज़ुनाद कहते हैं, मैंने हज़रत सईद बिन मुसय्यिब रह० से पूछा, क्या यह सुन्नत है? उन्होंने कहा यह सुन्नत है। यह बड़ी क़वी मुरसल रिवायत है। (अत्ताअलीक़ अलमुग़नी, 3/297)

फ़िक़्ह हनफ़ी का स्पष्टीकरण

फ़िक़्ह हनफ़ी में भरण पोषण अदा न करने की सूरत में पति पत्नी के बीच अलहदगी की इजाज़त नहीं। उसमें अलहदगी की बजाए इस बात

पर ज़ोर दिया गया है कि पत्नी क़र्ज़ लेकर गुज़ारा करती रहे। लेकिन साफ़ सी बात है कि इस दृष्टिकोण में बेहतरी नहीं। आख़िर एक घरेलू औरत को ज़्यादा दिनों तक कौन क़र्ज़ देगा? या वह कब तक क़र्ज़ लेकर गुज़ारा करेगी? फिर उसकी अदाएगी कब और कौन करेगा? अतएव इन मुश्किलात को देखते हुए हनफ़ी फ़ुक़हा ने भी अलहदगी की इजाज़त दे दी, लेकिन इसी के साथ यह भी कहा कि मामला शाफ़ई हाकिम की अदालत में ले जाकर अलेहदगी का फ़ैसला ले लिया जाए। हनफ़ी हाकिम स्वयं यह फ़ैसला न करे। (शरह वक़ायह : 2/174)

लेकिन यह सीधे तरीक़े से नाक पकड़ने की बजाए, पीछे से हाथ घुमाकर नाक पकड़ने वाली बात है। अफ़सोस, तक़्लीद की जकड़बन्दियों ने अक़्ल व समझ पर किस तरह पहरे बिठाए हुए हैं ख़ुदा बचाए। बहरहाल जो कुछ भी हो, अन्ततः हनफ़ी फ़ुक़हा ने भी प्रत्यक्ष में भरण पोषण न देने की सूरत में पति पत्नी के बीच अलहदगी के महत्व को मान लिया है।

नामर्दी की सूरत में अलग हो जाने का औचित्य

मर्द अगर नामर्द हो तो इस सूरत में भी निकाह का उद्देश्य पूरा नहीं होता, इसलिए इस सूरत में भी औरत की तरफ़ से तलाक़ का मुतालबा करना जाइज़ है। अगर इलाज के बावजूद मर्द सही न हो तो तुरन्त अलेहदगी करा दी जाए, वर्ना उसे इलाज के लिए एक साल की छूट दी जा सकती है। बुलूग़ुल मराम में है :

«قَضَى بِهِ عُمَرُ رَضِيَ اللهُ عَنْهُ فِي الْعِنِّينِ أَنْ يُؤَجَّلَ سَنَةً»(بلوغ المرام، النكاح، باب الكفاءة والخيار، سنن الدارقطني: ٣/٣٠٥، طبع مدينة منورة)

"हज़रत उमर रज़ि० ने नामर्द के बारे में यह फ़ैसला किया कि उसे एक साल तक छूट दी जाए।"

इसकी पुष्टि एक हदीस से भी होती है जिसमें हज़रत अबू रुकाना

अब्द यज़ीद रज़ि० की घटना बयान हुई है कि उन्होंने अपनी पत्नी उम्मे रुकाना रज़ि० को तलाक़ देकर मुज़ैना क़बीले की एक औरत से शादी कर ली, तो उस औरत ने नबी सल्ल० के पास आकर हज़रत अबू रुकाना रज़ि० के बारे में यह शिकायत की कि वह नामर्द हैं, इसलिए आप मेरे और उनके बीच जुदाई करवा दें। आपने इस मामले की जांच की तो यह बात तो सही साबित नहीं हुई, क्योंकि उनके बेटे सब बाप के जैसे थे, लेकिन आपने अबू रुकाना से कहा, इसे तलाक़ दे दो, अतः उन्होंने तलाक़ दे दी। (अबू दाऊद, तलाक़, अध्याय नस्ख़ मराजिआ बाद ततलीक़ात सलासा, हदीस : 2196 व सहीह अबी दाऊद लिल अलबानी)

इस हदीस में एक रावी की अज्ञानता की वजह से कुछ कमज़ोरी है, लेकिन अलबानी रह० ने कहा है कि इस हदीस का मुताबेअ मौजूद है जिससे इस कमज़ोरी का निवारण हो जाता है (देखें : इरवाउल ग़लील, 7/144) यही वजह है कि यह हदीस उन्होंने सहीह अबू दाऊद में दर्ज की है।

इस हदीस से स्पष्ट है कि नबी सल्ल० ने मात्र नामर्दी के आरोप ही पर पति को तलाक़ का हुक्म दिया। यद्यपि हज़रत अबू रुकाना रज़ि० नामर्द नहीं थे, इसके बावजूद यह देखकर कि यह औरत उनके साथ रहना पसन्द नहीं करती, आपने पति को अपने से अलग करने का हुक्म दिया। इसके अलावा औरत ने भी अलेहदगी के लिए नामर्दी को मुद्दा बनाया, मानो उसके नज़दीक भी अलेहदगी के लिए नामर्दानापन एक सही कारण था। इससे भी उल्लिखित दृष्टिकोण ही की हिमायत होती है।

कुछ और बीमारियों की वजह से अलग हो जाने का औचित्य

इसी तरह पति में कोई और ऐसी बीमारी हो जिसे औरत नापसन्द करे और शादी से पहले उसके बारे में उसे बतलाया न गया हो, तो वह फिर भी निकाह तोड़कर पति से अलग हो सकती है। अतएव मोत्ता इमाम

मालिक में हज़रत उमर रज़ि० का कथन है :

«أَيُّمَا رَجُلٍ تَزَوَّجَ امْرَأَةً وَبِهَا جُنُونٌ أَوْ جُذَامٌ أَوْ بَرَصٌ فَمَسَّهَا، فَلَهَا صَدَاقُهَا كَامِلاً، وَذٰلِكَ لِزَوْجِهَا غُرْمٌ عَلَى وَلِيِّهَا» (الموطأ، النكاح، باب ماجاء في الصداق والحباء: ٥٢٦/٢ بتحقيق محمد فؤاد عبدالباقي)

''जिस आदमी ने किसी औरत के साथ शादी की (बाद में मालूम हुआ कि) उसे दीवान्गी, कोढ़ या बर्स की बीमारी है (तो उसे इख़्तियार है कि उसे तलाक़ देकर अलग कर दे) और उससे उसने मुबाशरत की है तो उसे उसका पूरा हक़ मेहर देना होगा और यह मेहर पति औरत के संरक्षक से वसूल करेगा। (जिसने उसे उसके दोषों से अवगत नहीं किया, इसलिए जुर्माना मेहर की रक़म औरत के संरक्षक से वसूल करके पति को दी जाएगी।)''

इस जगह मर्द के इख़्तियार का बयान है। लेकिन उस पर क़यास करते हुए यही इख़्तियार उस औरत को भी होगा जिसकी शादी ऐसे मर्द से कर दी जाए जिसको उल्लिखित बीमारियों में से कोई बीमारी या कोई और ख़तरनाक बीमारी लगी हो और शादी से पहले उस बीमारी की ख़बर उसे न मिल सकती हो, औरत उस बीमारी की वजह से उसके पास रहना पसन्द न करे तो उसे भी यह हक़ हासिल होगा कि वह पति से तलाक़ द्वारा या अदालत या पंचायत द्वारा निकाह ख़त्म कराकर अलेहदगी इख़्तियार कर ले। अतः इब्ने क़य्यिम रह० लिखते हैं :

«وَالْقِيَاسُ: أَنَّ كُلَّ عَيْبٍ يُنَفِّرُ الزَّوْجُ الآخَرُ مِنْهُ، وَلاَ يَحْصُلُ بِهِ مَقْصُودُ النِّكَاحِ مِنَ الرَّحْمَةِ وَالْمَوَدَّةِ يُوجِبُ الْخِيَارَ، وَهُوَ أَوْلَى مِنَ الْبَيْعِ، كَمَا أَنَّ الشُّرُوطَ الْمُشْتَرَطَةَ فِي النِّكَاحِ أَوْلَى بِالْوَفَاءِ مِنْ شُرُوطِ الْبَيْعِ، وَمَا أَلْزَمَ اللهُ وَرَسُولُهُ مَغْرُورًا قَطُّ، وَلاَ مَغْبُونًا بِمَا غُرَّ بِهِ وَغُبِنَ بِهِ، وَمَنْ تَدَبَّرَ مَقَاصِدَ الشَّرْعِ فِي مَصَادِرِهِ

وَمَوَارِدِهِ وَعَدْلِهِ وَحِكْمَتِهِ، وَمَا اشْتَمَلَ عَلَيْهِ مِنَ الْمَصَالِحِ لَمْ يَخْفَ عَلَيْهِ رُجْحَانُ هٰذَا الْقَوْلِ، وَقُرْبُهُ مِنْ قَوَاعِدِ الشَّرِيعَةِ»(زاد المعاد، طبع جديد محقق: ٥/ ١٨٣)

"क़यास का तक़ाज़ा है कि हर वह दोष जो पति पत्नी में से एक को दूसरे से विरक्त कर दे और उसकी वजह से निकाह का उद्देश्य...प्यार व मुहब्बत...हासिल न हो, वह ख़ियार को वाजिब कर दे (अर्थात वे साथ रहें या न रहें, यह इख़्तियार नहीं मिले) और यह ख़ियार उससे ज़्यादा उच्च है जो क्रय विक्रय में मिलता है। जैसे उन शर्तों का पूरा करना, जो निकाह में बांधी जाती हैं, क्रय विक्रय की शर्तों से उच्च है और अल्लाह तआला और उसके रसूल ने कभी किसी "घमंडी" (जिसको धोखा दिया जाए) या "मग़बून" (जिससे बे इमानी की जाए) पर उस चीज़ को अनिवार्य नहीं किया है जिसमें उनके साथ धोखा और बे इमानी की गई हो और जो शरीअत के उद्देश्यों और उसके न्याय व हिक्मत और उस पर आधारित ज़रूरतों पर सोच विचार करेगा, तो इस राय का राजिह होना और इसका शरीअत के क़ायदों के क़रीब होना छुपा नहीं रहेगा।"

उचित वजह के बिना ख़ुलअ के मुतालबे पर सख़्त चेतावनी

उल्लिखित विवरण से स्पष्ट है कि हर उस ख़तरनाक बीमारी की वजह से औरत ख़ुलअ करवा सकती है जिससे उसे सख़्त नफ़रत व नापसन्दीदगी हो और उसकी वजह से वह मर्द के वे हक़ अदा करने से विवश हो जो उस पर लागू होते हैं। अतः इमाम ज़ोहरी का कथन है :

«يُرَدُّ النِّكَاحُ مِنْ كُلِّ دَاءٍ عُضَالٍ»(زاد المعاد: ٥/ ١٨٤)

"हर ख़तरनाक बीमारी की वजह से निकाह रद्द कर दिया जाएगा।"

अर्थात अगर औरत किसी ख़तरनाक बीमारी का शिकार है, तो जैसे मर्द को हक़ हासिल है कि वह उसे तलाक़ देकर अपने से जुदा कर दे। इसी तरह अगर मर्द किसी ऐसी बीमारी का शिकार है जिसकी वजह से औरत के लिए मर्द के दाम्पत्य हक़ अदा करने मुश्किल हों, तो वह ख़ुलअ के द्वारा अलेहदगी हासिल कर सकती है। जैसे हज़रत उमर रज़ि० का एक कर्मचारी था जिसकी बाबत हज़रत उमर रज़ि० को पता था कि वह औलाद पैदा करने के क़ाबिल नहीं है, उसे उन्होंने अपने किसी काम के लिए भेजा, तो उसने वहां जाकर एक औरत से शादी कर ली। हज़रत उमर रज़ि० की जानकारी में जब यह बात आई, तो उन्होंने उससे फ़रमाया : तूने उस औरत को बतलाया कि तू औलाद पैदा करने के क़ाबिल नहीं है? उसने कहा : नहीं। तो हज़रत उमर रज़ि० ने उससे कहा : जा उसे बतला और फिर उसे इख़्तियार दे (कि वह इस सूरत में उसके पास रहना पसन्द करती है या नहीं?) (लेखक अब्दुर्रज़्ज़ाक़, हदीस : 10346)

लेकिन जैसे किसी उचित वजह के बिना, मर्द के लिए यह जाइज़ नहीं है कि तलाक़ का हक़ इस्तेमाल करे। इसी तरह औरत के लिए भी यह जाइज़ नहीं है कि वह मात्र मज़े की तब्दीली के लिए, उचित कारण के बिना, ख़ुलअ की मांग करे। अगर कोई औरत ऐसा करेगी तो उसके लिए नबी सल्ल० ने बड़ी सख़्त चेतावनी बयान की है। आपने फ़रमाया :

«أَيُّمَا امْرَأَةٍ سَأَلَتْ زَوْجَهَا طَلَاقًا مِنْ غَيْرِ بَأْسٍ، فَحَرَامٌ عَلَيْهَا رَائِحَةُ الْجَنَّةِ»(جامع الترمذي، الطلاق، باب ماجاء في المختلعات، ح:١١٨٧ وإرواء الغليل، الخلع:٧/١٠٠، ح:٢٠٣٥)

"जिस औरत ने बिना किसी वजह के अपने पति से तलाक़ की मांग की, तो वह जन्नत की ख़ुश्बू भी न पाएगी।"

ख़ुलअ के कुछ ज़रूरी मसाइल

ख़ुलअ, तलाक़ है या निकाह तोड़ना? इसमें फ़ुक़्हा का मतभेद है। हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम ने उसे निकाह ख़त्म करना क़रार दिया है। (देखिए : ज़ादुल मआद, 5/196-200) फ़ुक़्हाए मुहद्दिसीन भी इसी राय के मानने वाले हैं।

- ख़ुलअ, पाकी की हालत हो, या हैज़ की? दोनों हालतों में जाइज़ है।
- ख़ुलअ की इद्दत, एक धर्म मासिक है जैसा कि हदीसों में स्पष्टीकरण है।
- ख़ुलअ में, फ़िदया या प्रतिकार ज़्यादा लेने से रसूलुल्लाह सल्ल० ने मना किया है। पति उससे केवल वही ले जो उसने मेहर या उपहार आदि दिया है।
- ख़ुलअ में पति को इद्दत के अंदर रुजूअ करने का हक़ हासिल नहीं है। अलबत्ता दोनों की रज़ामन्दी से इद्दत गुज़रने के बाद आपस निकाह जाइज़ है।

(12)

औरत और गवाही का मसला?

औरतों के विशिष्ठ मसाइल में एक मसला औरत की गवाही का है। अल्लाह तआला ने क़ुरआन मजीद में ''अमवाल व दुयून'' के बारे में फ़रमाया कि ''उनका उधार लेन देन करते समय लिख लिया करो और दो मुसलमान मर्दों को गवाह बना लिया करो। अगर दो मर्द न हों तो एक मर्द और दो औरतें गवाह बना लो।'' (बक़रा : 282)

इस आयत में दो औरतों की गवाही को एक मर्द की गवाही के बराबर क़रार दिया गया है और इसकी वजह इसी आयत में यह बयान की गई है कि अगर एक भूल जाए तो दूसरी औरत उसे याद करा दे। मानो क़ुरआन करीम की रू से औरत की गवाही भी मर्द की गवाही से आधी है और उसकी वजह उसकी एक प्राकृतिक कमज़ोरी है कि औरत की स्मरण शक्ति मर्द के मुक़ाबले में कमज़ोर है और वह भूल का ज़्यादा शिकार हो सकती है और रसूलुल्लाह सल्ल० ने भी इस हक़ीक़त को बयान किया है, अतएव हदीस में है रसूलुल्लाह सल्ल० ने फ़रमाया :

«يَا مَعْشَرَ النِّسَاءِ تَصَدَّقْنَ فَإِنِّي أُرِيتُكُنَّ أَكْثَرَ أَهْلِ النَّارِ، فَقُلْنَ وَبِمَ يَارَسُولَ اللهِ؟ قَالَ تُكْثِرْنَ اللَّعْنَ، وَتَكْفُرْنَ الْعَشِيرَ، مَا رَأَيْتُ مِنْ نَاقِصَاتِ عَقْلٍ وَدِينٍ أَذْهَبَ لِلُبِّ الرَّجُلِ الْحَازِمِ مِنْ إِحْدَاكُنَّ، قُلْنَ: وَمَا نُقْصَانُ دِينِنَا وَعَقْلِنَا يَارَسُولَ اللهِ؟ قَالَ أَلَيْسَ شَهَادَةُ الْمَرْأَةِ مِثْلَ نِصْفِ شَهَادَةِ الرَّجُلِ؟ قُلْنَ: بَلَى، قَالَ: فَذٰلِكَ مِنْ نُقْصَانِ عَقْلِهَا، أَلَيْسَ إِذَا حَاضَتْ لَمْ تُصَلِّ وَلَمْ تَصُمْ؟ قُلْنَ: بَلَى، قَالَ: فَذٰلِكَ مِنْ نُقْصَانِ دِينِهَا» (صحيح البخاري، الحيض، باب ترك الحائض الصوم، ح:٣٠٤ وصحيح مسلم، الإيمان، باب بيان نقصان الإيمان بنقص الطاعات ... الخ، ح:٧٩)

"ऐ औरतों की जमाअत! तुम (अधिकता से) सदक़ा करो, इसलिए कि मेरे निरीक्षण में (जब मुझे जहन्नम दिखाई गई) यह बात आई है कि तुम्हारी अधिसंख्या जहन्नमी है। औरतों ने कहा, अल्लाह के रसूल ऐसा क्यों है? आपने फ़रमाया, तुम लान तान ज़्यादा करती हो और पति की नाशुक्री करती हो। मैंने, अक़्ल और दीन में कम होने के बावजूद तुमसे ज़्यादा समझदार आदमी की अक़्ल को बेकार करने वाला नहीं देखा। उन्होंने पूछा, अल्लाह के रसूल! हमारे दीन और हमारी अक़्ल में क्या कमी है? आपने फ़रमाया : क्या औरत की गवाही, मर्द की गवाही से आधी नहीं है? औरतों ने कहा, हां! क्यों नहीं। आपने फ़रमाया, यह औरत की अक़्ल की कमी है। क्या ऐसा नहीं है कि जब औरत के धर्म मासिक के दिन शुरू होते हैं तो वह नमाज़ पढ़ती है न रोज़े रखती है? औरतों ने कहा, हां! क्यों नहीं। आपने फ़रमाया : तो यह उसके दीन की कमी है।"

औरत के अक़्ल व दीन में ख़राब होने का मतलब यह नहीं है कि उसकी वजह से औरत निंदा या तुच्छता की हक़दार है, बल्कि यह औरत की एक प्राकृतिक कमज़ोरी का स्पष्टीकरण है, ताकि मर्द उस कमज़ोरी की वजह से औरत के फ़ितने से बचकर रहें, अतएवं हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० फ़रमाते हैं :

«وَلَيْسَ الْمَقْصُودُ بِذِكْرِ النَّقْصِ فِي النِّسَاءِ لَوْمَهُنَّ عَلَى ذٰلِكَ، لأَنَّهُ مِنْ أَصْلِ الْخِلْقَةِ، لٰكِنَّ التَّنْبِيهَ عَلَى ذٰلِكَ تَحْذِيرًا مِنَ الافْتِتَانِ بِهِنَّ، وَلِهٰذَا رُتِّبَ الْعَذَابُ عَلَى مَا ذُكِرَ، مِنَ الْكُفْرَانِ وَغَيْرِهِ لاَ عَلَى النَّقْصِ» (فتح الباري، الحيض: ١/٥٢٨)

"औरतों के नुक़्स (कमी) के ज़िक्र से अभिप्राय, उनकी निंदा करना नहीं है, इसलिए कि वह पैदाइशी (फ़ितरी) चीज़ है।

असल उद्देश्य इससे यह सचेत करना है कि मर्द उन औरतों के फ़ितने का शिकार होने से बचें। यही वजह है कि औरतों के जहन्नमी होने का जो ज़िक्र किया गया है, तो इसका कारण (पति की) नाशुक्री आदि है न कि अक़्ल व दीन की ख़राबी।''

बहरहाल क़ुरआन करीम और हदीसे रसूल दोनों से यह बात साबित है कि आम हालात में औरत की गवाही मर्द की गवाही से आधी है और इसकी वजह उसका मर्द से कमतर होना नहीं है, बल्कि मर्द से कुछ गुणों में कम होना है। इसका विवरण अगले पृष्ठों में देखें :

औरत की गवाही की तीन क़िस्में

औरत की गवाही की तीन सूरतें हैं :

1. आर्थिक मामलों में गवाही।
2. उन मामलों में गवाही जिन पर केवल औरतें ही सूचित हो सकती हैं।
3. हुदूद व क़िसास में गवाही।

पहली क़िस्म का ज़िक्र तो स्वयं क़ुरआन करीम में है, इसलिए उसमें ज़्यादा मतभेद नहीं। दूसरी क़िस्म में भी मतभेद की गुंजाइश नहीं, क्योंकि उन मामलों में औरत की गवाही माने बिना चारा ही नहीं। ज़्यादा मतभेद तीसरी क़िस्म ही में है और इसी गवाही में ही औरत को अदालती चक्करों में पड़ने की ज़रूरत पेश आती है। जिसमें एक तो औरत को बार बार घर से बाहर निकलना पड़ता है। दूसरे, मर्दों के साथ, मेल मिलाप होता है और औरत के हक़ में इन दोनों ही बातों को इस्लाम पसन्द नहीं करता। इसके अलावा अदालती बहस व जिरह का मुक़ाबला करना भी औरत के लिए सख़्त मुश्किल है। अगले पृष्ठों में हम तीनों क़िस्म की गवाहियों पर थोड़ा विस्तार से अल्लाह के सौभाग्य से बात करेंगे।

अदालती गवाही में औरत की प्राकृतिक कमज़ोरी का स्पष्टीकरण

आगे चलने से पहले मुनासिब मालूम होता है कि औरत की कुछ प्राकृतिक कमज़ोरियों की तरफ़ जो इशारा किया गया है, उसे थोड़ा स्पष्ट कर दिया जाए, क्योंकि आगे बहस का आधार इसी पर होगा।

▶ औरत पैदाइशी तौर पर मर्द से कमज़ोर है, यह ऐसी स्पष्ट और खुली चीज़ है कि इस पर तर्क पेश करना सूरज को चिराग़ दिखाने के जैसा है। इसका जिन्सी नाम ''सनफ़े नाज़ुक'' (कमज़ोर जाति) भी इस बात पर तर्क है। नबी सल्ल० ने भी ला तुकसिरिल क़वारी-र[1] फ़रमाकर मोतियों से उपमा दी है। इसी लिए हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० लिखते हैं :

«إِنَّ ضُعْفَ النِّسَاءِ بِالنِّسْبَةِ إِلَى الرِّجَالِ مِنَ الأُمُورِ الْمَحْسُوسَةِ الَّتِي لاَ تَحْتَاجُ إِلَى دَلِيلٍ خَاصٍ» (فتح الباري، الجنائز: ٣/ ٢٣٣)

''मर्दों की तुलना में औरतों का कमज़ोर होना ऐसे आम सर्वेक्षण की बात है जो किसी ख़ास दलील की मोहताज नहीं।''

▶ अदालती शहादत में बड़े बड़े ज़बान चलाने वाले भी संकोच और हिजाब महसूस करते हैं तो औरत जिरह से किस तरह इससे छुटकारा पा सकती है जिसके बारे में स्वयं क़ुरआन ने कहा है (व-हु-व फ़िल ख़िसामि ग़ैरु मुबीन) क़ुरआन करीम में मुश्रिकीन के इस दृष्टिकाण का खंडन करते हुए कि...फ़रिश्ते अल्लाह तआला की लड़कियां हैं...अल्लाह तआला ने फ़रमाया :

﴿أَمِ اتَّخَذَ مِمَّا يَخْلُقُ بَنَاتٍ وَأَصْفَاكُم بِالْبَنِينَ ۝١٦ وَإِذَا بُشِّرَ أَحَدُهُم بِمَا ضَرَبَ لِلرَّحْمَٰنِ مَثَلًا ظَلَّ وَجْهُهُ مُسْوَدًّا وَهُوَ كَظِيمٌ ۝١٧ أَوَمَن يُنَشَّأُ فِي الْحِلْيَةِ وَهُوَ فِي الْخِصَامِ غَيْرُ مُبِينٍ ۝١٨﴾ (الزخرف٤٣/ ١٦-١٨)

''क्या अल्लाह ने अपनी सृष्टि में से अपने लिए लड़कियां रखीं

---

1. सहीह मुस्लिम, फ़ज़ाइल, अध्याय रहमत सल्ल० अन्निसा, हदीस : 2323

और तुमको चुनकर बेटे दिए? (यद्यपि उनका हाल यह है) कि जब उनमें से किसी को इस चीज़ के साथ ख़ुशख़बरी दी जाती है जिसको वह रहमान के लिए बतौर मिसाल बयान करते हैं, तो उसका मुंह काला हो जाता है और दिल में घुट रहा होता है। (क्या तुम पालनहार की तरफ़ इसको मन्सूब करते हो) जिसका विकास ज़ेवरात में होता है और झगड़े के समय वह अपनी बात कहने पर समर्थ नहीं।"

इस स्थान पर अल्लाह तआला ने औरत की दो प्राकृतिक कमज़ोरियों की ओर इशारा किया। एक, यह कि साज सज्जा और ज़ेवरात की वह शौक़ीन है और दूसरी, झगड़े के अवसर पर अपना दृष्टिकोण सही तरीक़े से अदा करने से वह विवश रहती है।

इस आयत की टीका में टीकाकारों ने जो व्याख्याएं पेश की हैं, वे निम्न हैं। पहले कुछ उर्दू के अनुवाद और टीकाएं देखें।

मौलाना अशरफ़ अली थानवी रह० का अनुवाद व टीका

"क्या जो कि साज सज्जा में पले बढ़े और वह वाद विवाद में व्यक्त करने की ताक़त न रखे।"

टीका "अर्थात मानो लड़की होना अपने में हीनता व तुच्छता की बात नहीं, जैसा तुम समझ रहे हो, लेकिन इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वह अपनी संरचना, हाव भाव के हिसाब से मंदबुद्धि अपनी बात कहने में कमज़ोर ज़रूर है। जब यह बात है तो क्या ख़ुदा ने औलाद बनाने के लिए लड़की को पसन्द किया है जोकि आदत के हिसाब से साज सज्जा में पली बढ़ी और वह सोच विचार की ताक़त में कमज़ोर हो जो वाद विवाद में अपनी बात भी न रखे। अतः उन (औरतों) की तक़रीरों में ज़रा सोच विचार करने से पता चलता है कि न अपने दावे को काफ़ी बयान से साबित कर सकें और न दूसरे के दावे को कंडम कर सकें, हमेशा अधूरी

बात कहेंगी या व्यर्थ बातें उसमें मिला देंगी जिनको उद्देश्य में कुछ दख़ल न हो कि उससे भी अभिप्राय में ख़लल पड़ जाता है और वाद विवाद की विशेषता इस हैसियत से है कि उसमें अपनी बात पेश करने में सावधानी बरतने से विनय स्पष्ट हो जाता है। तो हर कलाम इसी के हुक्म में है और मामूली वाक्यों का अदा हो जाना व्यक्त करने की ताक़त की दलील नहीं, जैसे में आई थी, वह गई थी।" (अनुवाद व टीका बयानुल क़ुरआन, पृ० : 946, प्रकाशन ताज कम्पनी)

अनुवाद व टीका मौलाना मुफ़्ती मुहम्मद शफ़ीअ देवबन्दी मरहूम

(क्या जो साज सज्जा में विकसित हो) इससे मालूम हुआ कि औरत के लिए ज़ेवर का इस्तेमाल और शरअ के अनुसार के तरीक़े इख़्तियार करना जाइज़ है, अतः इस पर सहमति है, लेकिन साथ ही बयान का अंदाज़ा यह बता रहा है कि साज सज्जा में इतनी व्यस्तता कि सुबह व शाम बनाव श्रृंगार ही में लगी रहे। यह उचित नहीं, बल्कि यह बुद्धि की ख़राबी व राय की कमज़ोरी की निशानी भी है और इसका कारण भी।

(और वह वाद विवाद में बयान करने की ताक़त भी न रखे) मतलब यह है कि औरतों की बहुसंख्या ऐसी है कि वह अपनी बात को सही और स्पष्टीकरण के साथ बयान करने पर मर्दों के बराबर समर्थ नहीं होती। इसी लिए अगर कहीं वाद विवाद हो जाए तो अपने दावे को साबित करना और दूसरे के तर्कों को रद्द करना उसके लिए मुश्किल होता है, लेकिन यह हुक्म बहुसंख्या के हिसाब से है। अतः यदि कुछ औरतें बात सलीक़े से करने की मालिक हों और इस मामले में मर्दों से भी बढ़ जाएं तो इस आयत के विरुद्ध नहीं, क्योंकि हुक्म बहुसंख्यक पर लगता है और बहुसंख्यक निःसन्देह ऐसी ही है। (मआरिफ़ुल क़ुरआन, 7/724)

डिप्टी नज़ीर अहमद देहलवी मरहूम

(क्या बेटी (ज़ात) जो ज़ेवरों में पली बढ़ी (और कोई झगड़ा आ पड़

तो) झगड़ते समय (अच्छी तरह) (मतलब) व्यक्त न कर सके (वह खुदा की शान के योग्य है?))

हाशिया : औरतों को खुदा ने ऐसा कमज़ोर दिल पैदा किया है कि आम जलसों में उनसे बात तक करते बन नहीं पड़ती और यह उनका पैदाइशी नुक़सान है। अतः अब भी हम देखते हैं कि बड़े बड़े अंग्रेज़ अपनी पत्नियों को दरबारों में लिए फिरते हैं और लोग मारे खुशामद के उन पत्नियों का शुक्रिया अदा करते हैं और उनकी मुल्की सेवाएं गिनवाते हैं, मगर उन औरतों से कुछ भी कहते बन नहीं पड़ता, हां! उनके पति उनकी तरफ़ से जवाब भी देते हैं, शुक्रिया भी अदा करते हैं। (क़ुरआन मजीद, प्रकाशन 1323 हि०)

मौलाना अहमद रज़ा बरेलवी

(तर्जुमा कन्ज़ुल ईमान, तफ़सीर मौलाना नईमुद्दीन मुरादाबादी)...(वह जो गहने में परवान चढ़े) अर्थात ज़ेवरों की शोभा में नज़ाकत के साथ परवरिश पाए।

लाभ : इससे मालूम हुआ कि ज़ेवर से साज सज्जा हानि की दलील है, तो मर्दों को उससे बचना चाहिए। परहेज़गारी से अपनी साज सज्जा करें। अब आगे आयत में लड़की की एक और कमज़ोरी व्यक्त की जाती है। (और बहस में साफ़ बात न करे) अर्थात अपने कमज़ोर हालात और अक़्ल की कमी की वजह से। हज़रत क़तादा रह० ने फ़रमाया कि औरत जब बात करती है और अपनी हिमायत में कोई दलील पेश करना चाहती है तो प्रायः ऐसा होता है कि वह अपने विरुद्ध दलील पेश कर देती है।" (क़ुरआन मजीद, पृ० : 780, प्रकाशन ताज कम्पनी)

अनुवाद मौलाना अहमद अली लाहौरी, शैखुत्तफ़्सीर

"क्या इसके लिए वह है जो ज़ेवर में पलती है और झगड़े में बात नहीं कर सकती।" (क़ुरआन मजीद, पृ० : 801)

अनुवाद व टीका मौलाना सनाउल्लाह अमृतसरी

क्या वह बेटी जो ज़ेवर में पलती बढ़ती है और मुक़ाबले की बातचीत पैदाइशी कमज़ोरी की वजह से अच्छी तरह बयान नहीं कर सकती, वह तो ख़ुदा के लिए और बेटे तुम्हारे लिए...(क़ुरआन मजीद अनुवादित, पृ० : 587, प्रकाशन लाहौर)

मौलाना अब्दुल हक़ हक़्क़ानी देहलवी

(क्या इसके लिए वह है कि जो ज़ेवर में पलती है और झगड़े में बात भी न कर सके)

टीका : अरब बेटियों का पैदा होना अपने मान सम्मान के ख़िलाफ़ जानते थे, इसलिए क़त्ल कर डालते थे और ख़बर सुनकर बड़ा रंज होता था। फिर ऐसी चीज़ तो आप ले और बेटे तुमको दे। यह क्यों कर हो सकता है? उसके अलावा औलाद से जो फ़ायदा मालूम होता है कि वह मैदाने जंग में काम दे और मज्लिसों में ज़ोरदार बातों से काम ले, यह भी उनसे हासिल नहीं। इस बात को इस वाक्य में बयान फ़रमाता है 'अ-व-मयं युनश्शव-उ' कि क्या जो ज़ेवर में और साज सज्जा में परवरिश पाती हैं (अर्थात लड़कियां) और झगड़ों में बोलने से विवश हैं, क्योंकि औरत की शिक्षा दीक्षा में ज़ेवर व साज सज्जा है जो मर्दान्गी के ख़िलाफ़ है और शर्म व लिहाज़ की वजह से ख़ूब बात नहीं कर सकतीं, वह उसने अपने लिए पसन्द की हैं, कदापि नहीं। यहां से साबित हुआ कि ज़नाना साज सज्जा व आराइश निन्दनीय है।" (तफ़्सीर हक़्क़ानी, पारा : 25, 4/32, प्रकाशन कराची)

मौलाना सय्यद अबुल आला मौदूदी मरहूम

(क्या अल्लाह के हिस्से में वह औलाद आई जो ज़ेवरों में पाली जाती है और बहस व हुज्जत में अपना विचार पूरी तरह स्पष्ट भी नहीं कर सकती) दूसरे शब्दों में जो नर्म व नाज़ुक और कमज़ोर औलाद है वह तुमने

अल्लाह के हिस्से में डाली और सीना ठोंक कर मैदान में उतरने वाली औलाद स्वयं ले उड़े। इस आयत से औरतों के लिए ज़ेवर के औचित्य का पहलू निकलता है, क्योंकि अल्लाह तआला ने उनके लिए ज़ेवर को एक प्राकृतिक चीज़ क़रार दिया है। (तफ़्हीमुल क़ुरआन : 4/531)

मौलाना अमीर अली मलीहाबादी मरहूम

"और क्या उसने ऐसी ज़नानियों को ले लिया जो ज़ेवर में पलती हैं।"

लाभ : और शोभा को अपने नफ़्स के वास्ते कमाल समझती हैं, न उनमें पूर्ण अक़्ल है और न सम्पूर्ण दीन है और न उनके वास्ते हुज्जत व इमामत है।

"और बहस करने में यह सृष्टि सफ़ाई से बयान नहीं कर सकती।"

लाभ : न उसकी ज़बान ठीक है और न अपने दावे के प्रतिकूल बयान कर सकती है और न दावे पर दलील व तर्क ला सकती है और न तलवार से अपना झगड़ा हल कर सकती है। क़तादा ने कहा कि औरत को यह योग्यता नहीं होती कि अपने दावे पर हुज्जत बयान करे और अगर कुछ बयान करे तो प्रायः यही होता है कि उलटे अपने ऊपर हुज्जत क़ायम करती है और उसको ख़बर नहीं होती। इब्ने अब्बास रज़ि० से रिवायत है कि यह औरतों का हाल है कि उनके लिबास में और मर्दों के लिबास में फ़र्क़ है और उनकी मीरास कम है और उनकी गवाही कमज़ोर है और उनको घर बैठने का हुक्म है।" (तफ़्सीर मुवाहिबुर्रहमान, पारा : 25, पृ० : 103)

मौलाना शब्बीर अहमद उसमानी ने भी अपने हाशिया क़ुरआन में यही स्पष्टीकरण किया है।

मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी मरहूम

"तो क्या जो ज़ेवरात में परवरिश पाए और वाद विवाद में भी बयान करने में विवश हो (वह अल्लाह की औलाद बनने के योग्य है।)"

हाशिया : आयत से औरत की प्रकृति के बारे में दो तथ्य साबित हुए। एक यह कि ज़ेवर, साज सज्जा व नुमाइश का शौक़ औरत की प्रकृति में दाख़िल है। दूसरे यह कि उसकी विवेचन शक्ति भी कमज़ोर है। इन दोनों के लिए देखें अंग्रेज़ी तफ़्सीरुल क़ुरआन के हाशिये। आज देख लिया जाए कि यूरोप और अमेरिका की आधुनिक औरत अपनी साज सज्जा के सामान पर, अपनी सुन्दरता और अपने बनाव श्रृंगार पर कितनी दौलत हर साल दिल खोलकर ख़र्च करती रहती है। (तफ़्सीर माजिदी : 2/980 ताज कम्पनी)

मौलाना अहमद सईद देहलवी मरहूम

"क्या वह जो ज़ेवर की साज सज्जा और शोभा में परवरिश पाए और परवान चढ़े और वह झगड़े और वाद विवाद में साफ़ तौर पर बात न कर सके, ये लोग उसको रहमान की औलाद ठहराते हैं, अर्थात आदतन लड़की की परवरिश बड़े चाव और बनाव सिंगार में होती है, मां बाप ज़ेवर पहनाते हैं, उसका बनाव श्रृंगार किया जाता है। फिर राय देने की कमज़ोरी और सोच की ताक़त की कमज़ोरी का यह हाल कि वाद विवाद और झगड़े के समय अपने दृष्टिकोण को साफ़ तौर पर बयान भी न कर सके। ऐसी कमज़ोर चीज़ को ख़ुदा की औलाद क़रार देते हो।" (कशफ़ुर्रहमान : 2/782, प्रकाशन कराची)

अरबी टीका

यहां तक उर्दू अनुवाद व टीकाओं का उल्लेख हुआ है, अब अरबी टीकाओं के हवाले प्रस्तुत हैं।

अत्तफ़्सीरुल कबीर - इमाम राज़ी :

﴿أَوَمَنْ يُنَشَّؤُ فِي الْحِلْيَةِ﴾ التَّنْبِيهُ عَلَى نُقْصَانِهَا، وَهُوَ أَنَّ الَّذِي يُرَبَّى فِي الْحِلْيَةِ يَكُونُ نَاقِصَ الذَّاتِ، لِأَنَّهُ لَوْلَا نُقْصَانٌ فِي ذَاتِهَا لَمَا احْتَاجَتْ إِلَى تَزْيِينِ نَفْسِهَا بِالْحِلْيَةِ، ثُمَّ بَيَّنَ نُقْصَانَ حَالِهَا بِطَرِيقٍ آخَرَ، وَهُوَ قَوْلُهُ ﴿وَهُوَ فِي الْخِصَامِ غَيْرُ مُبِينٍ﴾ يَعْنِي أَنَّهَا إِذَا احْتَاجَتِ الْمُخَاصَمَةَ وَالْمُنَازَعَةَ عَجَزَتْ وَكَانَتْ غَيْرَ مُبِينٍ، وَذَلِكَ لِضُعْفِ لِسَانِهَا وَقِلَّةِ عَقْلِهَا وَبَلَادَةِ طَبْعِهَا، وَيُقَالُ قَلَّمَا تَكَلَّمَتِ امْرَأَةٌ فَأَرَادَتْ أَنْ تَتَكَلَّمَ بِحُجَّتِهَا إِلَّا تَكَلَّمَتْ بِمَا كَانَ حُجَّةً عَلَيْهَا، فَهَذِهِ الْوُجُوهُ دَالَّةٌ عَلَى كَمَالِ نَقْصِهَا، فَكَيْفَ يَجُوزُ إِضَافَتُهُنَّ بِالْوَلَدِيَّةِ إِلَيْهِ» (التفسير الكبير: ٢٧/ ٢٠٢)

यह वाक्य केवल उन टीकाओं से नक़ल किए गए हैं जिनकी इबारतों और व्याख्याओं में थोड़ा मतभेद है और कई टीकाएं ऐसी हैं, जिनमें शब्दशः दूसरी टीकाओं की इबारत नक़ल कर दी गई हैं। तकरार से बचते हुए मैंने उनकी इबारतें नक़ल नहीं की हैं, अलबत्ता उन टीकाओं के हवाले यहां दिए हैं जिनमें उल्लिखित उपरोक्त टीका ही की गई है।

जामेउल बयान अन तावीलुल क़ुरआन - तफ़्सीर इब्ने जरीर तबरी :

«أَوَمَنْ يُنَبَّتُ فِي الْحِلْيَةِ وَيُزَيَّنُ بِهَا ﴿وَهُوَ فِي الْخِصَامِ﴾ يَقُولُ: وَهُوَ فِي مُخَاصَمَةِ مَنْ خَاصَمَهُ عِنْدَ الْخِصَامِ غَيْرُ مُبِينٍ، وَمَنْ خَصَمَهُ، بِبُرْهَانٍ وَحُجَّةٍ، لِعَجْزِهِ وَضَعْفِهِ، جَعَلْتُمُوهُ جُزْءَ اللهِ مِنْ خَلْقِهِ وَزَعَمْتُمْ أَنَّهُ نَصِيبُهُ مِنْهُمْ» (١٣/ ٧٣)

तफ़्सीर अबी सऊद - इमाम अबू मसऊद मुहम्मद बिन अमादी :

﴿وَهُوَ﴾ مَعَ مَا ذُكِرَ مِنَ الْقُصُورِ ﴿فِي الْخِصَامِ﴾ أَيِ الْجِدَالِ

الَّذِي لاَ يَكَادُ يَخْلُو عَنْهُ الإِنْسَانُ فِي الْعَادَةِ ﴿غَيْرُ مُبِينٍ﴾ غَيْرُ قَادِرٍ عَلَى تَقْرِيرِ دَعْوَاهُ وَإِقَامَةِ حُجَّتِهِ لِنُقْصَانِ عَقْلِهِ وَضُعْفِ رَأْيِهِ» (٨/٤٢، طبع بيروت لبنان)

तफ़्सीर ग़राइबुल क़ुरआन व रग़ाइबुल फ़ुरक़ान - निज़ामुद्दीन हसन बिन मुहम्मद नीशापुरी :

«وَهِيَ أَنَّهُ يُرَبَّى أَوْ يَتَرَبَّى فِي الزِّينَةِ وَالنُّعُومَةِ وَهُوَ إِذَا احْتَاجَ إِلَى الْمُخَاصَمَةِ لاَ يُبَيِّنُ وَلاَ يُعْرِبُ عَمَّا فِي ضَمِيرِهِ لِعَجْزِهِ عَنِ الْبَيَانِ وَلِقِلَّةِ عَقْلِهِ، قَالَتِ الْعُقَلاَءُ فَلَمَّا تَكَلَّمَتِ امْرَأَةٌ فَأَرَادَتْ أَنْ تُعْرِبَ عَنْ حُجَّتِهَا إِلاَّ نَطَقَتْ بِمَا هُوَ حُجَّةٌ عَلَيْهَا» (پاره:٢٥، ص:٤٥، طبع مصر)

तफ़्सीर मिराग़ी - अहमद मुस्तफ़ा मिराग़ी :

﴿أَوَمَنْ ...﴾ أَيْ أَوَقَدْ جَعَلُوا للهِ الأُنْثَى الَّتِي تَتَرَبَّى فِي الزِّينَةِ، وَإِذَا خُوصِمَتْ لاَ تَقْدِرُ عَلَى إِقَامَةِ حُجَّةٍ وَلاَ تَقْرِيرِ دَعْوَى، لِنُقْصَانِ عَقْلِهَا وَضُعْفِ رَأْيِهَا؟ وَمَا كَانَ يَنْبَغِي لَهُمْ أَنْ يَفْعَلُوا ذَلِكَ، وَفِي قَوْلِهِ ﴿يُنَشَّأُ فِي الْحِلْيَةِ﴾ إِيمَاءٌ إِلَى مَا فِيهِنَّ مِنَ الدَّعَةِ وَرَخَاوَةِ الْخَلْقِ بِضُعْفِ الْمُقَاوَمَةِ الْجِسْمِيَّةِ وَاللِّسَانِيَّةِ، كَمَا أَنَّ فِيهِ دَلاَلَةً عَلَى أَنَّ النَّشْوَ فِي الزِّينَةِ وَنُعُومَةِ الْعَيْشِ مِنَ الْمَعَايِبِ وَالْمَذَامِّ لِلرِّجَالِ» (٩/٦٤، پاره٢٥، ص:٧٧، طبع مصر)

फ़त्हुल बयान मक़ासिदुल क़ुरआन - सय्यद नवाब सिद्दीक़ हसन ख़ान :

﴿غَيْرُ مُبِينٍ﴾ أَيْ عَاجِزٌ عَنْ أَنْ يَقُومَ بِأَمْرِ نَفْسِهِ وَإِذَا خُوصِمَ لاَ يَقْدِرُ عَلَى إِقَامَةِ حُجَّتِهِ وَتَقْرِيرِ دَعْوَاهُ، وَدَفْعِ مَا يُجَادِلُهُ بِهِ خَصْمُهُ لِنُقْصَانِ عَقْلِهِ، وَضُعْفِ رَأْيِهِ...» (٦/٢٢٤)

तफ़्सीर बहरुल मुहीत - अबू हय्यान उन्दुलुसी :

«وَهُوَ إِنْ خَاصَمَ لاَ يُبِيْنُ لِضُعْفِ الْعَقْلِ وَنَقْصِ التَّدَبُّرِ وَالتَّأَمُّلِ . . . وَقَالَ ابْنُ عَبَّاسٍ وَمُجَاهِدٌ وَقَتَادَةُ وَالسُّدِّيُّ وَيَدُلُّ عَلَيْهِ قَوْلُهُ ﴿وَهُوَ فِي الْخِصَامِ غَيْرُ مُبِيْنٍ﴾ . . . أَيْ لاَ يُظْهِرُ حُجَّةً وَلاَ يُقِيمُ دَلِيلاً وَلاَ يَكْشِفُ عَمَّا فِي نَفْسِهِ كَشْفًا وَاضِحًا وَيُقَالُ قَلَّمَا تَجِدُ امْرَأَةً لاَ تُفْسِدُ الْكَلاَمَ وَتُخَلِّطُ الْمَعَانِي» (٨/٨، طبع رياض، سعودي عرب)

तफ़्सीरुल कश्शाफ़ - अल्लामा जारुल्लाह ज़मख़शरी :

«أَيْ يَتَرَبَّى فِي الزِّينَةِ وَالنِّعْمَةِ، وَهُوَ إِذَا احْتَاجَ إِلَى مُجَاثَاةِ الْخُصُومِ وَمُجَارَاةِ الرِّجَالِ كَانَ غَيْرَ مُبِيْنٍ، لَيْسَ عِنْدَهُ بَيَانٌ، وَلاَ يَأْتِي بِبُرْهَانٍ يَحْتَجُّ بِهِ مَنْ يُخَاصِمُهُ وَذٰلِكَ لِضُعْفِ عُقُولِ النِّسَاءِ وَنُقْصَانِهِنَّ عَنْ فِطْرَةِ الرِّجَالِ» (٤/٢٤٣)

तफ़्सीर मज़हरी - क़ाज़ी सनाउल्लाह पानीपती :

«أَيْ يَنْبُتُ وَيَكْبُرُ فِي الْحِلْيَةِ يَعْنِي النِّسَاءَ فَإِنَّ حُسْنَهُنَّ مُنْحَصِرٌ فِي الصُّورَةِ فَيَتَزَيَّنَّ بِالْحِلْيَةِ لِيَزْدَدْنَ حُسْنُهُنَّ بِخِلاَفِ الرِّجَالِ فَإِنَّ حُسْنَهُمْ غَالِبًا بِالْمَعَانِي وَالأَوْصَافِ وَذٰلِكَ غَيْرُ مُحْتَاجٍ إِلَى الْحِلْيَةِ وَفِيهِ إِشْعَامٌ بِأَنَّ النَّشْأَ فِي الزِّينَةِ مِنَ الْمَعَايِبِ فَعَلَى الرِّجَالِ أَنْ يَجْتَنِبُوا وَيَتَزَيَّنُوا بِلِبَاسِ التَّقْوٰى ﴿وَهُوَ فِي الْخِصَامِ﴾ أَيْ فِي الْمُحَاجَةِ بِاللِّسَانِ وَبِالسِّنَانِ ﴿غَيْرُ مُبِيْنٍ﴾ أَيْ غَيْرُ مُظْهِرٍ حُجَّتَهُنَّ لِنُقْصَانِ عَقْلِهِنَّ وَضُعْفِ أَبْدَانِهِنَّ وَقُلُوبِهِنَّ قَالَ قَتَادَةُ وَالْمَعْنٰى أَمِ اتَّخَذَ مِنْ مَخْلُوقَاتِهِ بَنَاتٍ مَبْغُوضَاتٍ مَكْرُوهَاتٍ مُوجِبَاتٍ لِسَوَادِ الْوَجْهِ نَاشِيَاتٍ فِي الْحِلْيَةِ ضَعِيفَاتٍ قَلْبًا وَقَالِبًا وَعَقْلاً» (٨/٣٤٢، طبع دهلي)

अनवारुत्तन्ज़ील व इसरारुत्तावील - नासिरुद्दीन अबुल ख़ैर अब्दुल्लाह बिन उमर बैज़ावी :

«اي أَوْ جَعَلُوا لَهُ، أَوِ اتَّخَذَ مَنْ يَتَرَبَّى فِي الزِّينَةِ يَعْنِي الْبَنَاتِ ﴿وَهُوَ فِي الْخِصَامِ﴾ فِي الْمُجَادَلَةِ ﴿غَيْرُ مُبِينٍ﴾ مُقَرِّرٌ لِمَا يَدَّعِيهِ مِنْ نُقْصَانِ الْعَقْلِ وَضُعْفِ الرَّأْيِ» (٨٨/٥)

तफ़्सीर जलालैन - लिलसुयूती वल मुहल्ली :

﴿وَهُوَ فِي الْخِصَامِ غَيْرُ مُبِينٍ﴾ مُظْهِرُ الْحُجَّةِ لِضُعْفِهَا عَنْهَا بِالْأُنُوثَةِ» (حواله مذكور باسفلها)

तफ़्सीर इब्ने कसीर - इमादुद्दीन अबुल फ़िदा इस्माईल बिन कसीर दमिश्क़ी :

«أَي الْمَرْأَةُ نَاقِصَةٌ يُكَمَّلُ نَقْصُهَا بِلُبْسِ الْحُلِيِّ مُنْذُ تَكُونُ طِفْلَةً وَإِذَا خَاصَمَتْ فَلَا عِبَارَةَ لَهَا بَلْ هِيَ عَاجِزَةٌ عِيَّةٌ أَوْ مَنْ يَكُونُ هٰكَذَا يُنْسَبُ إِلَى جَنَابِ اللهِ الْعَظِيمِ، فَالْأُنْثَى نَاقِصَةُ الظَّاهِرِ وَالْبَاطِنِ فِي الصُّورَةِ وَالْمَعْنَى، فَيُكَمَّلُ نَقْصُ ظَاهِرِهَا وَصُورَتِهَا بِلُبْسِ الْحُلِيِّ وَمَا فِي مَعْنَاهُ لِيُجْبَرَ مَا فِيهَا مِنْ نَقْصٍ ... وَأَمَّا نَقْصُ مَعْنَاهَا فَإِنَّهَا ضَعِيفَةٌ عَاجِزَةٌ عَنِ الْانْتِصَارِ عِنْدَ الْانْتِصَارِ لَا عِبَارَةَ لَهَا وَلَا هِمَّةَ ...» (تفسير ابن كثير: ١٥٩/٤)

रूहुल बयान - शैख़ इस्माईल :

«غَيْرُ قَادِرٍ عَلَى تَقْرِيرِ دَعْوَاهُ وَمُقَامَةِ حُجَّتِهِ كَمَا يَقْدِرُ الرَّجُلُ عَلَيْهِ لِنُقْصَانِ عَقْلِهِ وَضُعْفِ رَأْيِهِ ... وَهٰذَا بِحَسْبِ الْغَالِبِ ...» (٣٥٨/٨)

✧ रूहुल मआनी 14/108 - अल्लामा शहाबुद्दीन महमूद आलूसी।

✧ तफ़्सीर ज़ादुल मसीर 7/306 - इमाम इब्ने जोज़ी।

- तफ़्सीर क़ासमी, 8/330 - जमालुद्दीन क़ासमी।
- तफ़्सीर दुर्रे मन्सूर, 5/718 - इमाम सुयूती।
- तनवीरुल मक़्यास, तफ़्सीर इब्ने अब्बास बर हाशिया दुर्रे मन्सूर, 5/124
- फ़त्हुल क़दीर, 4/630 - इमाम शौकानी।
- मआलिम तन्ज़ील, 7/391 शैख़ अबू मुहम्मद बगवी, साहिबुल मसाबीह बर हाशिया इब्ने कसीर।
- लुबाब तावील फ़ी मआनी तन्ज़ील, मारूफ़ तफ़्सीरुल ख़ाज़िन, 4/108
- तफ़्सीर मदारिक तन्ज़ील लिलनफ़सी, बरहाशिया तफ़्सीरुल ख़ाज़िन मज़्कूर।
- तफ़्सीर जवाहिर, शैख़ तन्तावी, जुज़ उशूरून, पृ० 165

एक तफ़्सीरी मतभेद और उसकी हक़ीक़त

अब तक 'अ-व-मयं युनश्श-उ फ़िल जिलयति' की टीका यह बयान की गई है कि इससे तात्पर्य लड़कियां (औरतें) हैं और उनकी विशेषताएं यह बयान की गई हैं कि वह ज़ेवरात की शौक़ीन और अपनी बात कहने (बहस व तकरार के मौक़े) पर विवश हैं, लेकिन एक कथन यह भी है कि इससे तात्पर्य बुत हैं, जिसका मतलब यह होगा कि ये दोनों विशेषताएं मानो पत्थर की मूर्तियों की हैं, लेकिन क़ुरआन करीम के संदर्भ से इस कथन की पुष्टि नहीं होती। निःसन्देह कुछ पुजारी सोना चांदी की भेंट भी अपने बुतों के लिए पेश करते हैं लेकिन सामान्यता पत्थर की मूर्तियों को ज़ेवर नहीं पहनाया जाता है, बल्कि वह महंतों और पंडितों के हत्थे चढ़ता है और वे उस आमदनी से मौज मस्ती करते हैं। इसी तरह अगर क़ुरआन दूसरी विशेषता यह बयान करता कि वह झगड़ा करने पर समर्थ नहीं, तब

तो यह दूसरी विशेषता उन पत्थर की मूर्तियों पर फिट आ सकती थी, लेकिन क़ुरआन ने यह नहीं कहा कि वह झगड़ा करने पर समर्थ नहीं, बल्कि यह कहा है कि झगड़े के समय वे बात व्यक्त करने पर समर्थ नहीं। इससे स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि मूर्तियां इससे तात्पर्य नहीं, बल्कि ज़नाना वर्ग ही तात्पर्य है और इसी की यह दोनों विशेषताएं बयान की गई हैं।

यही वजह है कि अधिकांश टीकाकारों ने इस दूसरे कथन का ज़िक्र सिरे से किया ही नहीं है। जैसा कि उर्दू टीका में किसी में भी यह दूसरा कथन मंक़ूल नहीं है। केवल कुछ अरबी टीकाओं में यह कथन नक़ल किया गया है, जैसे तफ़्सीर रूहुल मआनी, तफ़्सीर तबरी, तफ़्सीर बहरुल मुहीत, तफ़्सीर मुवाहिबुर्रहमान (उर्दू) तफ़्सीर फ़त्हुल बयान और तफ़्सीर फ़त्हुल क़दीर। लेकिन पहले के चारों टीकाकारों ने इसका खंडन किया है कि क़ुरआन मजीद का संदर्भ इसकी पुष्ट नहीं करता और उन्होंने पहले कथन ही को वरीयता दी है और बाद में दोनों टीकाकारों ने भी टीका तो जमहूर टीकाकारों की राय के अनुसार ही की है, लेकिन बाद में मतभेद के तौर पर दूसरा कथन भी नक़ल कर दिया है। जिससे स्पष्ट है कि उनके निकट भी बात वही राजिह और सही है जिसके अनुसार उन्होंने टीका की है। इस हिसाब से 'अ-व-मयं युनश्श-उ' से लड़कियां तात्पर्य लेने में लगभग उम्मत के सारे टीकाकार सहमत है। एक विवादित और मरजूह कथन के ज़िक्र कर देने से इस सहमति पर कोई असर नहीं पड़ता, क्योंकि उसकी पुष्टि किसी टीकाकार ने नहीं की है।

स्मरण शक्ति की कमज़ोरी और भूल चूक

जहां तक औरत की दिमाग़ी व मानसिक योग्यताओं की कमज़ोरी का (मर्द के मुक़ाबले) संबंध है, जिसकी वजह से स्मरण शक्ति की कमज़ोरी और भूल का वह ज़्यादा शिकार होती है। इसका स्पष्टीकरण भी

यद्यपि उल्लिखित वाक्यों से हो जाता है, लेकिन टीकाकारों ने औरत की आधी गवाही की हिक्मत और वजह पर बहस करते हुए भी इस सूत्र का स्पष्टीकरण किया है। अतः अल्लामा रशीद रज़ा मिस्री लिखते हैं :

«وَالسَّبَبُ الصَّحِيحُ أَنَّ الْمَرْأَةَ لَيْسَ مِنْ شَأْنِهَا الاشْتِغَالُ بِالْمُعَامَلاَتِ الْمَالِيَّةِ وَنَحْوِهَا مِنَ الْمُعَاوَضَاتِ، فَلِذٰلِكَ تَكُونُ ذَاكِرَتُهَا فِيهَا ضَعِيفَةً وَلاَ تَكُونُ كَذٰلِكَ فِي الأُمُورِ الْمَنْزِلِيَّةِ الَّتِي هِيَ شُغْلُهَا فَإِنَّهَا فِيهَا أَقْوَى ذَاكِرَةً مِنَ الرَّجُلِ يَعْنِي أَنَّ مِنْ طَبْعِ الْبَشَرِ ذُكْرَانًا وَإِنَاثًا أَنْ يَقْوَى تَذَكُّرُهُمْ لِلأُمُورِ الَّتِي تُهِمُّهُمْ وَيَكْثُرُ اشْتِغَالُهُمْ بِهَا وَلاَ يُنَافِي ذٰلِكَ اشْتِغَالَ بَعْضِ نِسَاءِ الأَجَانِبِ فِي هٰذَا الْعَصْرِ بِالأَعْمَالِ الْمَالِيَّةِ فَإِنَّهُ قَلِيلٌ لاَ يُعَوَّلُ عَلَيْهِ، وَالأَحْكَامُ الْعَامَّةُ إِنَّمَا تُنَاطُ بِالأَكْثَرِ فِي الأَشْيَاءِ وَبِالأَصْلِ فِيهَا» (تفسير المنار: ٣/ ١٢٤-١٢٥)

बिल्कुल इसी अंदाज़ की बात टीकाकार मिराग़ी ने की है। फ़रमाते हैं :

«وَهٰذِهِ الْعِبَارَةُ لِبَيَانِ سِرِّ تَشْرِيعِ الْحُكْمِ فِي اشْتِرَاطِ الْعَدَدِ فِي النِّسَاءِ إِذْ قَدْ جَرَتِ الْعَادَةُ أَنْ لاَ تَشْتَغِلَ بِالْمُعَامَلاَتِ الْمَالِيَّةِ وَنَحْوِهَا مِنَ الْمُعَاوَضَاتِ، فَتَكُونُ ذَاكِرَتُهَا ضَعِيفَةً فِيهَا، بِخِلاَفِ الأُمُورِ الْمَنْزِلِيَّةِ فَإِنَّ ذَاكِرَتَهَا فِيهَا أَقْوَى مِنْ ذَاكِرَةِ الرَّجُلِ فَقَدْ جُبِلَ الإِنْسَانُ عَلَى أَنْ يَقْوَى تَذَكُّرُهُ لِمَا يَهْتَمُّ بِهِ وَيَعْنِي بِشَأْنِهِ، وَاشْتِغَالُ النِّسَاءِ فِي هٰذَا الْعَصْرِ بِالْمَسَائِلِ الْمَالِيَّةِ لاَ يُغَيِّرُ هٰذَا الْحُكْمَ، لأَنَّ الأَحْكَامَ إِنَّمَا تَكُونُ لِلأَعَمِّ الأَكْثَرِ، وَعَدَدُ هٰؤُلاَءِ قَلِيلٌ فِي كُلِّ أُمَّةٍ وَجِيلٍ» (تفسير المراغي، تفسير سورة البقرة آيت: ٢٨٢، ١/ ٤٣٤)

अर्थात "अन तज़िल्ल इहदाहुमा फ़तुज़क्कि-र एहदाहुमल उख़रा"

ये औरतों की बाबत इस हुक्म की अनिवार्यता की वजह है जिसमें एक मर्द के मुक़ाबले में दो औरतों को ज़रूरी क़रार दिया गया है। इसलिए कि आदतन औरत का संबंध वित्तीय और इस प्रकार के अन्य मामलों से नहीं होता, इसलिए ऐसे मामलों में इसकी स्मरण शक्ति कमज़ोर होती है, इसके विपरीत घरेलू मामलों के कि उनमें औरत की स्मरण शक्ति मर्द से ज़्यादा ताक़तवर होती है, क्योंकि इंसान की प्रकृति में यह है कि जिस चीज़ का मामला और आयोजन उसके ज़िम्मे हो, इसमें उसकी स्मरण शक्ति ज़्यादा होती है। इस ज़माने में बहुत सी औरतों का वित्तीय मामलों में लगाव, इस हुक्म की तब्दीली का कारण नहीं हो सकता, इसलिए कि आदेशों की बुनियाद बहुसंख्यक पर होती है और ऐसी औरतों की संख्या हर उम्मत और हर नस्ल में बहुत कम होती है।"

इमाम राज़ी लिखते हैं :

﴿أَنْ تَضِلَّ﴾ وَالْمَعْنٰى أَنَّ النِّسْيَانَ غَالِبٌ (عَلٰى) طِبَاعِ النِّسَاءِ لِكَثْرَةِ الْبَرْدِ وَالرُّطُوبَةِ فِي أَمْزِجَتِهِنَّ وَاجْتِمَاعُ الْمَرْأَتَيْنِ عَلَى النِّسْيَانِ أَبْعَدُ فِي الْعَقْلِ مِنْ صُدُورِ النِّسْيَانِ عَلَى الْمَرْأَةِ الْوَاحِدَةِ فَأُقِيمَتِ الْمَرْأَتَانِ مَقَامَ الرَّجُلِ الْوَاحِدِ حَتّٰى أَنَّ إِحْدَاهُمَا لَوْ نَسِيَتْ ذَكَّرَتْهَا الْأُخْرٰى فَهٰذَا هُوَ الْمَقْصُودُ مِنَ الْآيَةِ (تفسير الكبير:٧/١١٣)

"मतलब यह है कि भूल औरतों के स्वभाव पर ग़ालिब है, उनके स्वभाव में ठंडक और नर्मी की अधिकता की वजह से, और दो औरतों का भूल पर जमा होना बौद्धिक रूप से एक औरत से भूल के प्रचलन से ज़्यादा सुदूर है। इसलिए दो औरतों को एक मर्द के स्थानापन्न किया गया है ताकि एक औरत अगर भूल जाए, तो दूसरी उसे याद करा दे। आयत का अभिप्राय यही है।"

अल्लामा अबू हय्यान उन्दुलुसी की इबारत भी लगभग यही है।
(बहरुल मुहीत, 2/350)

नवाब सिद्दीक़ हसन ख़ान और इमाम शौकानी रह० लिखते हैं :

«قَالَ أَبُو عُبَيْدٍ مَعْنَى تَضِلُّ تَنْسَى أَيْ لِنَقْصِ عَقْلِهِنَّ وَضَبْطِهِنَّ، وَهٰذِهِ الْآيَةُ تَعْلِيلٌ لِاعْتِبَارِ الْعَدَدِ فِي النِّسَاءِ . . . وَإِنَّمَا اعْتُبِرَ فِيهِمَا هٰذَا التَّذْكِيرُ لِمَا يَلْحَقُهُمَا مِنْ ضُعْفِ النِّسَاءِ بِخِلَافِ الرِّجَالِ» (فتح البيان: ١/ ٣٤٣، ٣٤٤ وفتح القدير للشوكاني: ١/ ٢٧٢)

अल्लामा आलूसी लिखते हैं :

﴿أَنْ تَضِلَّ إِحْدَاهُمَا فَتُذَكِّرَ إِحْدَاهُمَا الْأُخْرَى﴾ بَيَانٌ لِحِكْمَةِ مَشْرُوعِيَّةِ الْحُكْمِ وَاشْتِرَاطِ الْعَدَدِ فِي النِّسَاءِ أَيْ شُرِعَ ذٰلِكَ إِرَادَةَ أَنْ تُذَكِّرَ إِحْدَاهُمَا الْأُخْرَى إِنْ ضَلَّتْ إِحْدَاهُمَا، لِمَا أَنَّ النِّسْيَانَ غَالِبٌ عَلَى طَبْعِ النِّسَاءِ لِكَثْرَةِ الرُّطُوبَةِ فِي أَمْزِجَتِهِنَّ» (روح المعاني، سورة البقرة: ٢٨٢، ٣/ ٩٥)

"इसमें भी अनिवार्यता का आदेश और एक मर्द के मुक़ाबले में दो औरतों की गवाही की हिक्मत यही बयान की गई है कि चूंकि औरतों के स्वभाव में नर्मी की वजह से औरतों की तबीयतों पर भूल जाने का ग़लबा रहता है, इसलिए यह मश्रूअ कर दिया गया कि एक मर्द के मुक़ाबले में दो औरतें हों, ताकि एक भूल जाए तो दूसरी उसे याद करा दे।"

अल्लामा जमालुद्दीन क़ासमी लिखते हैं :

«وَلَمَّا شُرِطَ فِي الْقِيَامِ مَقَامَ الْوَاحِدِ مِنَ الرِّجَالِ، الْعَدَدَ مِنَ النِّسَاءِ عَلَّلَهُ بِمَا يُشِيرُ إِلَى نَقْصِ الضَّبْطِ فِيهِنَّ فَقَالَ أَنْ تَضِلَّ إِحْدَاهُمَا» (تفسير القاسمي پاره: ٣، ص: ٣٨٢)

"जब एक मर्द के मुक़ाबले में दो औरतों की गवाही को ज़रूरी क़रार दिया, तो फिर अल्लाह तआला ने उसकी वजह यह बयान की कि उन औरतों में सहनशीलता की कमी है। (और औरत के भूलने की संभावना है) इसलिए फ़रमाया कि अगर एक भूल जाए, तो दूसरी याद करा दे।"

मुल्ला जीवन लिखते हैं :

"إِنَّمَا جُعِلَتِ الْمَرْأَتَانِ مَقَامَ رَجُلٍ وَاحِدٍ وَلَمْ يَكْتَفِ بِوَاحِدَةٍ مِنْهُمَا لِأَجْلِ أَنْ تَنْسِيَتْ إِحْدَاهُمَا الشَّهَادَةَ فَتُذَكِّرُ صَاحِبَتُهَا الْأُخْرَى لِأَنَّ النِّسْيَانَ فِي الْمَرْأَةِ غَالِبٌ" (التفسيرات الاحمدية، ص: ۱۸۰)

"दो औरतों को एक मर्द के स्थानापत्र इसलिए किया गया है और एक औरत पर बस नहीं किया, कि अगर एक गवाही भूल जाए, तो दूसरी उसको याद करा दिया करे, क्योंकि भूल औरत पर प्रभावी है।"

गवाही में औरत पर मर्द की प्राकृतिक श्रेष्ठता

इन हवालों से यह बात सुबूत को पहुंच जाती है कि बाहरी मामलों में ध्यान न रखने की वजह से बाहरी मामलों की ज़िम्मेदारियों से उल्लिखित उपरोक्त कारणों से औरत मर्द की तरह काम अंजाम नहीं दे सकती। इसलिए गवाही का मसला भी उन मसाइल में से एक है जिनमें शरीअते इस्लामिया ने मर्द व औरत के बीच (उनके कार्यक्षेत्र के मतभेद और प्राकृतिक क्षमताओं के फ़र्क़ की वजह से) भेद किया है और इस मामले में भी मर्द को औरत पर एक तरह की श्रेष्ठता हासिल है। क्योंकि ऐसे गवाह के मुक़ाबले में जिसमें अक़्ल व सहनशीलता की कमी हो, पूर्ण अक़्ल और पूर्ण सहनशीलता गवाह को वरीयता देना, एक प्राकृतिक बात है। अतः हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० हदीस (लै-स शहादतुल मिरअत मिस्ल निस्फ़ शहादतुर्रजुल) (सहीह बुख़ारी, शहादात, अध्याय शहादतुन्निसा...

हदीस : 2685) के संबंध में इमाम मोहलब का कथन नक़ल करते हैं :

«يُسْتَنْبَطُ مِنْهُ التَّفَاضُلُ بَيْنَ الشُّهُودِ بِقَدْرِ عَقْلِهِمْ وَضَبْطِهِمْ، فَتُقَدَّمُ شَهَادَةُ الْفَطِنِ الْيَقِظِ عَلَى الصَّالِحِ الْبَلِيدِ» (فتح الباري، الشهادات، باب شهادة النساء: ٥/٣٢٩)

क़ाज़ी अबूबक्र इब्नुल अरबी रह० लिखते हैं :

"अल्लाह तआला ने छः बातों में मर्द को औरत पर श्रेष्ठता दी है, उनमें से एक यह है कि बुद्धि की हानि की वजह से औरत की गवाही को मर्द की गवाही से आधा क़रार दिया गया है।"

(अहकामुल क़ुरआन, 1/253)

और इमाम राज़ी और इमाम अबू हय्यान उन्दुलुसी रह० भी लिखते हैं कि गवाही के मसला में मर्द को औरत पर श्रेष्ठता हासिल है। (तफ़्सीरुल कबीर 7/122, तफ़्सीरुल बहरुल मुहीत, 2/350)

और हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम रह० इस नुकते का स्पष्टीकरण इस तरह फ़रमाते हैं :

«وَهُوَ سُبْحَانَهُ أَمَرَ بِإِشْهَادِ امْرَأَتَيْنِ لِتَوْكِيدِ الْحِفْظِ، لأَنَّ عَقْلَ الْمَرْأَتَيْنِ وَحِفْظَهُمَا يَقُومُ مَقَامَ عَقْلِ رَجُلٍ وَحِفْظِهِ، وَلِهٰذَا جُعِلَتْ عَلَى النِّصْفِ مِنَ الرَّجُلِ فِي الْمِيرَاثِ وَالدِّيَةِ وَالْعَقِيقَةِ وَالْعِتْقِ، فَعِتْقُ امْرَأَتَيْنِ يَقُومُ مَقَامَ عِتْقِ رَجُلٍ، كَمَا صَحَّ عَنِ النَّبِيِّ ﷺ» (اعلام الموقعين: ١/١٠٢ بـ تحقيق عبدالرحمن الوكيل، والطرق الحكمية، ص: ١٣١)

"अल्लाह तआला ने एक मर्द की जगह दो औरतों की गवाही का हुक्म इसलिए दिया है, ताकि औरत की स्मरण शक्ति में कोताही का निवारण हो जाए क्योंकि दो औरतों की अक़्ल और उनकी स्मरण शक्ति एक मर्द की अक़्ल और उसकी स्मरण शक्ति

के बराबर होती है। इसलिए औरत का मर्द के मुक़ाबले में मीरास, देत (क़त्ल ख़ता की सूरत में) और अक़ीक़े में आधा हिस्सा है और अतक़ में भी आधा हिस्सा है अर्थात एक मर्द का आज़ाद करना (सवाब में) दो औरतों की आज़ादी के बराबर है, जैसा कि सहीह हदीस में है।"

इसकी विस्तृत जानकारी आगे आएगी।

इन तथ्यों के साथ यह हक़ीक़त भी बयान की मोहताज नहीं कि इस्लाम ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया है कि औरत घर की चार दीवारी के अंदर केवल वे घरेलू मामले अंजाम दे जिनके लिए अल्लाह ने उसको पैदा किया है और आर्थिक संघर्ष और अन्य बाहरी गतिविधियों से दामन बचाए रहे और अगर किसी समय घर से बाहर निकलने की ज़रूरत पेश आए, तो परदे का आयोजन करके निकले। शरीअते इस्लामिया ने औरत के सतीत्व की हिफ़ाज़त को इतना महत्व दिया है कि बिना मेहरम के सफ़र करने से भी उसे रोक दिया है, ताकि औरत की इज़्ज़त ख़तरे में न पड़े। यहां तक कि कुछ अवसरों पर अपनी पत्नी की हिफ़ाज़त को अल्लाह के मार्ग में जिहाद से भी अधिक महत्व दिया गया है। अतः हदीस में आता है कि नबी सल्ल० ने जब यह मसला बयान फ़रमाया कि कोई औरत मेहरम के बिना सफ़र न करे, इसी तरह कोई व्यक्ति किसी औरत के पास उसके मेहरम की ग़ैर मौजूदगी में न जाए, तो एक व्यक्ति ने कहा या रसूलुल्लाह! मैं तो फ़लां फ़लां लश्कर के साथ (जिहाद के लिए) जाना चाहता हूं, मेरा नाम भी दर्ज किया जा चुका है जबकि मेरी पत्नी हज के लिए जाने वाली है। मैं क्या करूं? आपने फ़रमाया : "तुम अपनी पत्नी के साथ जाकर हज करो।" (सहीह बुख़ारी, किताब जज़ा सैद, अध्याय हज्ज निसा, हदीस : 1862 व किताबुल जिहाद, अध्याय किताबुल इमामुन्नास, हदीस : 3061)

मर्दों से पोशीदा रहने वाले मामलों में अकेली औरत की गवाही स्वीकार्य है

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि इस्लाम औरत के घर से ज़्यादा बाहर रहने को पसन्द नहीं करता। इसलिए अदालती गवाहियों के खचेड़े में भी उसे उलझाना इसके निर्देशों व शिक्षाओं से मेल नहीं खाता। इसी लिए इस्लाम में औरत की गवाही को केवल ज़रूरत में ही तस्लीम किया गया है, अर्थात जहां उसकी गवाही अत्यन्त ज़रूरी हो, वहां उसकी गवाही क़ुबूल की जाएगी। यही वजह है कि ऐसे मामलों में जिन पर केवल औरतें ही सूचित हो सकती हैं, औरतों की गवाही सर्व सहमति से स्वीकार्य हैं अतः हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० लिखते हैं :

«وَاتَّفَقُوا عَلَى قَبُولِ شَهَادَتِهِنَّ مُفْرَدَاتٍ فِيمَا لَا يَطَّلِعُ عَلَيْهِ الرِّجَالُ، كَالْحَيْضِ وَالْوِلَادَةِ وَالِاسْتِهْلَالِ وَعُيُوبِ النِّسَاءِ»(فتح الباري، الشهادات، باب شهادة النساء: ٣٢٨/٥)

"ऐसे मामलों में जिन पर मर्द सूचित नहीं हो पाते, अकेली औरतों की गवाही के क़ुबूल करने पर सबकी सहमति है जिस तरह धर्म मासिक, पैदाइश और औरतों के दोष हैं।"

जिन इमामों व फ़ुक़्हा व टीकाकारों ने इस उसूल का ज़िक्र किया है, वे निम्न हैं, सार को ध्यान में रखते हुए उनकी असल इबारतें नक़ल करने की ज़रूरत महसूस नहीं की गई है, वैसे भी यह इत्तिफ़ाक़ी मसला है, इसलिए भी इसकी विस्तृत जानकारी की ज़रूरत नहीं। इसलिए हवालों पर बस किया जाता है।

- अलमुगनी मय शरह कबीर - इब्ने क़दामा मुक़द्दसी (फ़िक़्ह हंबली) भाग : 10, पृ० 189, प्रकाशन क़दीम।
- अलहिदाया मय फ़त्हुल क़दीर, भाग : 7, पृ० : 372, प्रकाशन मिस्र (फ़िक़्ह हनफ़ी)

- बदाइउस्सनाइ, कासानी - भाग : 6, पृ० : 277, (फ़िक़्ह हनफ़ी)
- अलमुहज़्ज़ब - भाग : 2, पृ० 333, (फ़िक़्ह शाफ़ई)
- अलमुदव्विनतुल कुबरा - भाग : 4, पृ० : 81, (फ़िक़्ह मालिकी)
- बिदायतुल मुज्तहिद - भाग : 2, पृ० : 465, (फ़िक़्ह मालिकी)
- फ़िक़्ह इमाम सईद बिन मुसय्यिब - भाग : 4, पृ० : 193
- तफ़्सीर ग़राइबुल क़ुरआन व रग़ाइबुल फ़ुरक़ान - भाग : 3, पृ० : 91
- तफ़्सीर जामेअ लि अहकामुल क़ुरआन - लिलक़ुरतबी, भाग : 3, पृ० : 391
- तफ़्सीर दुर्रे मन्सूर - लिलसुयूती, भाग : 1, पृ० : 371
- तफ़्सीर फ़त्हुल क़दीर - लिलशौकानी, भाग : 1, पृ० : 272
- तफ़्सीर रूहुल मआनी - अल्लामा आलूसी, भाग : 3, पृ० : 58
- तफ़्सीर मज़हरी, क़ाज़ी सनाउल्लाह पानीपती - भाग : 1, पृ० : 426, (अरबी)
- तफ़्सीर बहरुल मुहीत - अबी हय्यान, भाग : 2, पृ० : 347
- तफ़्सीरातुल अहमदिया - पृ० : 179 - मुल्ला जीवन
- अलमहल्ली लि इब्ने हज़्म - भाग : 10, मसला : 1790 - किताबुश्शहादात
- अत्तरक़ुल हुकमिया फ़ी सियासतुश्शरइया - लिइब्नुल क़य्यिम - पृ० : 134-138
- आलामुल मौक़िईन अन रब्बुल आलमीन लिइब्नुल क़य्यिम - भाग : 1, पृ० : 104, बतहक़ीक़ अब्दुर्रहमान वकील।
- कन्ज़ुल ईमान - तर्जुमा मौलाना अहमद रज़ा बरेलवी - हाशिया मौलाना नईमुद्दीन मुरादाबादी, पृ० : 77

केवल औरतों की मौजूदगी में पेश आने वाली घटनाओं में औरत की गवाही भी स्वीकार्य है

इन तमाम किताबों में यह उसूल सहमत रूप से बयान किया गया है कि उन ख़ास महिला मसाइल के फ़ैसले के लिए, जिनका पता मर्दों को नहीं होता, अकेली औरतों की गवाही काफ़ी है और उसकी वजह यह है कि ऐसे मसाइल में अगर औरतों की गवाही को क़ुबूल नहीं किया जाएगा, तो बहुत से अधिकार पामाल हो जाएंगे।

इसी उसूल और वजह की बुनियाद पर शैख़ुल इस्लाम इमाम इब्ने तैमिया और हाफ़िज़ इब्ने क़य्यिम रह० ने लिखा है कि इसी के संबंध में वह घटनाएं व मामले भी आ जाते हैं कि जिन पर मर्दों को पता न हो सके, केवल औरतों के ज्ञान में आए हों, क्योंकि इस घटना और मामले के समय कोई मर्द मौजूद न था, अर्थात एक मसाइल की क़िस्म वह है जिसकी 'ला यत्तलि-उ अलैहिर्रिजालु या ला यत्तलि-उ अलैहि ग़ैरुहुन्न' से संज्ञा दी गई हैं, अर्थात ऐसे औरतों के मसाइल कि जिनसे सामान्यता मर्द अवगत ही नहीं होते और दूसरी क़िस्म मामलों की वह है कि जिसकी 'ला यत्तलि-उ अलैहिर्रिजालु या लम यत्तलि-उ अलैहि ग़ैरुहुन्न' से संज्ञा दी जा सकती है, अर्थात ऐसी घटनाएं, जो केवल औरतों के सामने घटी हों, वहां मर्द कोई न हो इसलिए औरतों के सिवा गवाह कोई न हो। जैसे शादी बियाह के अवसर पर ऐसी जगह जहां केवल औरतें ही औरतें हों। ज़नाना कालेज, जहां औरतें ही औरतें हों लेडीज़ क्लब या औरतों का कोई भी प्रोग्राम, जहां मर्द न हों। वहां कोई घटना पेश आ जाए, कोई दुर्घटना हो जाए तो यहां भी अकेली औरतों की गवाही फ़ैसले के लिए काफ़ी होगी, क्योंकि इस स्थान पर औरत की आंखों देखी गवाही को नज़रअंदाज़ करने से बहुत से अधिकार पामाल हो जाएंगे।

यह इसी नज़रिया ज़रूरत के तहत है कि कुछ अवसरों पर ऐसे लोगों की गवाही भी स्वीकार कर ली जाती है, आम मामलों में जिनकी गवाही

अस्वीकार्य है। जैसे ज़िम्मी और ग़ैर मुस्लिम की गवाही अस्वीकार्य है, लेकिन अगर सफ़र के दौरान किसी मुसलमान को (किसी घटना या सख़्त बीमारी की वजह से) अपनी मौत का विश्वास हो जाए और वहां उस समय ज़िम्मियों के अलावा ऐसे मुसलमान न मिल सकें जिनके सामने वह वसीयत कर दे तो ऐसे अवसर पर सर्व सहमति से, क़ुरआन व हदीस के नसूस की रू से ज़िम्मी ग़ैर मुसलमानों की गवाही मय शपथ जाइज़ है। इमाम इब्ने तैमिया रह० इस सिलसिले में लिखते हैं :

«وَهٰذَا مَبْنِيٌّ عَلٰى اَصْلٍ، وَهُوَ أَنَّ الشَّهَادَةَ عِنْدَ الْحَاجَةِ، يَجُوزُ فِيهَا مِثْلُ شَهَادَةِ النِّسَاءِ فِيمَا لاَ يَطَّلِعُ عَلَيْهِ الرِّجَالُ» (مختصر الفتاوى المصرية، ص: ٦٠٤)

"ग़ैर मुस्लिम की यह गवाही नज़रिया ज़रूरत की असल पर आधारित है जिसके तहत औरतों की गवाही को ऐसे मामलों में जाइज़ किया गया है जिस पर मर्द बाख़बर नहीं हो सकते।"

इस नज़रिये ज़रूरत का ज़िक्र, जिसके तहत औरत की गवाही स्वीकार योग्य है, इमाम मालिक ने भी किया है। अतः मुदव्विनतुल कुबरा में है :

«قَالَ مَالِكٌ: لاَ يَجُوزُ إِلاَّ حَيْثُ ذَكَرَهَا اللّٰهُ فِي الدَّيْنِ أَوْ مَا لاَ يَطَّلِعُ عَلَيْهِ أَحَدٌ إِلاَّ هُنَّ لِلضَّرُورَةِ إِلَى ذٰلِكَ» (٨١/٤)

इमाम मालिक रह० फ़रमाते हैं : "औरत की गवाही केवल दैन (उधार) के मामले में जाइज़ है जिसका ज़िक्र अल्लाह तआला ने फ़रमाया है या फिर ऐसे मामलों में उनकी गवाही जाइज़ है जिन पर औरतों के सिवा कोई और बाख़बर न हो सके क्योंकि ज़रूरत इसकी अनिवार्यता है।" इमाम शौकानी ने भी कहा है :

«لأنهما لا يطلع عليه غيرهن للضرورة» (فتح القدير: ٢٩٣/١)

इमाम क़ुरतबी रह० लिखते हैं :

«وَأَجَازَ الْعُلَمَاءُ شَهَادَتَهُنَّ مُنْفَرِدَاتٍ فِيمَا لَا يَطَّلِعُ عَلَيْهِ غَيْرُهُنَّ لِلضَّرُورَةِ وَعَلَى مِثْلِ ذٰلِكَ أُجِيزَتْ شَهَادَةُ الصِّبْيَانِ فِي الْجَرْحِ فِيمَا بَيْنَهُمْ»(پاره: ٣، ص: ٣٩١)

चूंकि औरत की गवाही इसी नज़रिया ज़रूरत पर आधारित है, इसलिए इमाम मालिक यह भी कहते हैं कि दो मर्द गवाहों के मुक़ाबले में चार औरतें ज़रूरी हीं हैं। (जैसा कि इमाम शाफ़ई की राय है) बल्कि फ़ैसले के लिए दो औरतों की गवाही भी काफ़ी है क्योंकि जब ज़रूरत पड़ने पर मर्द की गवाही यहां ग़लत है, तो फिर गवाही का वही निसाब काफ़ी है जो मर्दों के लिए है। अतः बदाइउस्सनाई में इमाम कासानी लिखते हैं :

«وَجْهُ قَوْلِ مَالِكٍ أَنَّ شَهَادَةَ الرِّجَالِ لَمَّا سَقَطَ اعْتِبَارُهَا فِي هٰذَا الْبَابِ لِمَكَانِ الضَّرُورَةِ وَجَبَ الاكْتِفَاءُ بِعَدَدِهِمْ مِنَ النِّسَاءِ» (٦/ ٢٧٨)

बहरहाल इसी नज़रिया ज़रूरत के तहत दूसरी क़िस्म के मामलों में भी औरत की गवाही स्वीकार्य है। अतः शैख़ुल इस्लाम इब्ने तैमिया फ़रमाते हैं :

«كَمَا تُقْبَلُ شَهَادَةُ النِّسَاءِ فِي الْحُدُودِ إِذَا اجْتَمَعْنَ فِي الْعُرْسِ وَالْحَمَّامِ، وَنَصَّ عَلَيْهِ أَحْمَدُ فِي رِوَايَةِ بَكْرِ بْنِ مُحَمَّدٍ عَنْ أَبِيهِ وَنَقَلَ ابْنُ صَدَقَةَ فِي الرَّجُلِ يُوصِي بِأَشْيَاءَ لِأَقَارِبِهِ وَيُعْتِقُ، وَلَا يَحْضُرُهُ إِلَّا النِّسَاءُ، هَلْ يَجُوزُ شَهَادَتُهُنَّ فِي الْحُقُوقِ وَالصَّحِيحُ قُبُولُ شَهَادَةِ النِّسَاءِ فِي الرَّجْعَةِ»(الاختيارات العلمية مع الفتاوى: ٤/ ٢١٣ طبع، ١٣٢٩هـ)

''अर्थात काफ़िरों की गवाही ज़रूरत पड़ने पर इसी तरह जाइज़ है, जिस तरह हुदूद में औरतों की गवाही स्वीकार्य है जबकि यह शादी या किसी प्रोग्राम आदि में जमा हों (और वहां मर्द कोई

न हो) इमाम अहमद से भी इस बारे में स्पष्टीकरण मन्क़ूल है और इब्ने सदक़ा ने नक़ल किया है कि एक आदमी अगर अपने रिश्तेदारों के लिए वसीयत करता है और ग़ुलाम आज़ाद करता है, लेकिन उस समय (गवाह) औरतों के सिवा और कोई न हो, तो क्या अधिकारों में औरतों की गवाही स्वीकार्य होगी? और सही बात यह है कि रुजूअ में औरतों की शहादत स्वीकार्य है।"

यहां इबारत में कुछ उलझाव है। इसका स्पष्टीकरण इब्ने क़य्यिम की इबारत से हो जाता है।

«قَالَ: الإِمَامُ أَحْمَدُ فِي الرَّجُلِ: يُوصِي وَلاَ يَحْضُرُهُ إِلاَّ النِّسَاءُ، قَالَ: أُجِيزُ شَهَادَةَ النِّسَاءِ، فَظَاهِرُ هٰذَا أَنَّهُ أَثْبَتَ الْوَصِيَّةَ بِشَهَادَةِ النِّسَاءِ عَلَى الانْفِرَادِ إِذَا لَمْ يَحْضُرْهُ الرِّجَالُ، وَذَكَرَ الْخَلاَّلُ عَنْ أَحْمَدَ أَنَّهُ سُئِلَ عَنِ الرَّجُلِ يُوصِي بِأَشْيَاءَ لأَقَارِبِهِ وَيُعْتِقُ، وَلاَ يَحْضُرُهُ إِلاَّ النِّسَاءُ هَلْ يَجُوزُ شَهَادَتُهُنَّ، قَالَ: نَعَمْ، تَجُوزُ شَهَادَتُهُنَّ فِي الْحُقُوقِ» (الطرق الحكمية، ص:١٤٢)

इमाम इब्ने क़य्यिम इस दूसरी क़िस्म के मामलों में औरत की गवाही पर उलमा की सहमति बतलाते हैं :

«وَقَدِ اتَّفَقَ الْعُلَمَاءُ عَلَى أَنَّ مَوَاضِعَ الْحَاجَاتِ يُقْبَلُ فِيهَا مِنَ الشَّهَادَاتِ مَا لاَ يُقْبَلُ فِي غَيْرِهَا مِنْ حَيْثُ الْجُمْلَةِ، وَإِنْ تَنَازَعُوا فِي بَعْضِ التَّفَاصِيلِ، وَقَدْ أَمَرَ اللهُ سُبْحَانَهُ بِالْعَمَلِ بِشَهَادَةِ شَاهِدَيْنِ مِنْ غَيْرِ الْمُسْلِمِينَ عِنْدَ الْحَاجَةِ فِي الْوَصِيَّةِ فِي السَّفَرِ، مُنَبِّهًا بِذٰلِكَ عَلَى نَظِيرِهِ وَمَا هُوَ أَوْلَى مِنْهُ كَقَبُولِ شَهَادَةِ النِّسَاءِ مُنْفَرِدَاتٍ فِي الأَعْرَاسِ وَالْحَمَّامَاتِ وَالْمَوَاضِعِ الَّتِي تَنْفَرِدُ النِّسَاءُ بِالْحُضُورِ فِيهَا، وَلاَ رَيْبَ أَنَّ قَبُولَ شَهَادَتِهِنَّ هُنَا أَوْلَى مِنْ قَبُولِ شَهَادَةِ الْكُفَّارِ عَلَى الْوَصِيَّةِ فِي السَّفَرِ، وَكَذٰلِكَ عَمَلُ الصَّحَابَةِ

وَفُقَهَاءِ الْمَدِينَةِ بِشَهَادَةِ الصِّبْيَانِ عَلَى تَجَارُحِ بَعْضِهِمْ بَعْضًا، فَإِنَّ الرِّجَالَ لاَ يَحْضُرُونَ مَعَهُمْ فِي لَعِبِهِمْ، وَلَوْ لَمْ تُقْبَلْ شَهَادَتُهُمْ وَشَهَادَةُ النِّسَاءِ مُنْفَرِدَاتٍ لَضَاعَتِ الْحُقُوقُ وَتَعَطَّلَتْ وَأُهْمِلَتْ مَعَ غَلَبَةِ الظَّنِّ أَوِ الْقَطْعِ بِصِدْقِهِمْ، وَلاَسِيَّمَا إِذَا جَاءُوا مُجْتَمِعِينَ قَبْلَ تَفَرُّقِهِمْ وَرُجُوعِهِمْ إِلَى بُيُوتِهِمْ وَتَوَاطَئُوا عَلَى خَبَرٍ وَاحِدٍ، وَفَرَّقُوا وَقْتَ الأَدَاءِ وَاتَّفَقَتْ كَلِمَتُهُمْ، فَإِنَّ الظَّنَّ الْحَاصِلَ حِينَئِذٍ مِنْ شَهَادَتِهِمْ أَقْوَى بِكَثِيرٍ مِنَ الظَّنِّ الْحَاصِلِ مِنْ شَهَادَةِ رَجُلَيْنِ، وَهٰذَا مِمَّا لاَ يُمْكِنُ دَفْعُهُ وَجَحْدُهُ، فَلاَ نَظُنُّ بِالشَّرِيعَةِ الْكَامِلَةِ الْفَاضِلَةِ الْمُنْتَظِمَةِ لِمَصَالِحِ الْعِبَادِ فِي الْمَعَاشِ وَالْمَعَادِ أَنَّهَا تُهْمِلُ مِثْلَ هٰذَا الْحَقِّ وَتُضَيِّعُهُ مَعَ ظُهُورِ أَدِلَّتِهِ وَقُوَّتِهَا، وَتَقْبَلُهُ مَعَ الدَّلِيلِ الَّذِي هُوَ دُونَ ذٰلِكَ» (اعلام الموقعين: ١/ ١٠٢)

"उलमा की इस बात पर सहमति है कि ज़रूरत के अवसर पर ऐसी गवाही भी क़ुबूल होंगी जो आम हालात में नाक़ाबिले क़ुबूल होती हैं। यद्यपि उनके कुछ विस्तार में उलमा के बीच मतभेद है। अल्लाह तआला ने सफ़र में वसीयत के अवसर पर ज़रूरत के अन्तर्गत दो ग़ैर मुस्लिम गवाहों की गवाही पर अमल करने का हुक्म दिया है। जिससे अभिप्राय इस प्रकार के मामलों या इससे भी उच्च न्यायालय में सचेत करना है (अर्थात निशानदेही करना है) जैसे अकेली औरतों की गवाही का क़ुबूल करना है शादी के अवसर, हमामों और ऐसी जगहों में जहां केवल औरतें ही अवसर पर हाज़िर हों। निःसन्देह ऐसे अवसर पर औरतों की गवाही का क़ुबूल करना, सफ़र के दौरान वसीयत में काफ़िरों की गवाही क़ुबूल करने की निस्बत ज़्यादा उच्च है।"

इसी तरह सहाबा किराम और मदीना के फ़ुक़हा ने बच्चों

की गवाही के मामले में तरीक़ा अपनाया है जबकि उन बच्चों के बीच आपस में कोई दुर्घटना घट जाए (अर्थात ज़रूरत के समय यहां बच्चों की गवाही भी स्वीकार्य होगी) इसलिए कि मर्द बच्चों के साथ उनके खेलों में शरीक नहीं होते। अगर उन बच्चों की और अकेली औरतों की गवाही स्वीकार नहीं की जाएगी तो बहुत से अधिकार भ्रम की अधिकता या गवाहों की पूरी सच्चाई के बावजूद नष्ट, स्थगित और बेकार हो जाएंगे। मुख्य रूप से जबकि अवसर के गवाह सहमत होने और अपने घर में जाने से पहले जमा होकर गवाही दें और किसी एक ख़बर पर सहमत हों और गवाही देने के समय बातों में फ़र्क़ होने के बावजूद असल विषय पर सहमत हो, तो ऐसी गवाही से उस समय जो भ्रम हासिल होगा, वह उस भ्रम से ज़्यादा शक्तिशाली होगा जो दो आदमियों की गवाही से हासिल होता है।

यह ऐसी बात है जिसका रद्द और इंकार संभव नहीं। तो हम नहीं समझ सकते कि जो शरीअत पूर्ण हो और दुनिया व आख़िरत के मामले में बन्दों के उद्देश्यों को लिए हुए हो, वह इस प्रकार के अधिकार को व्यर्थ में छोड़ देगी और तर्कों के प्रकटन के बावजूद इसे नष्ट कर देगी, जबकि उससे भी कमतर दलील के साथ उसने फ़ैसले को क़ुबूल किया है।"

सहाबा रज़ि० के दौर के उदाहरण

सहाबा रज़ि० के दौर की कुछ मिसालें हमें मिलती हैं जिनमें सहाबा ने अकेली औरतों की गवाही पर फ़ैसले किए ये मिसालें उन्हीं हालात की हैं कि जब मर्द मौक़े पर नहीं थे, जैसे : एक व्यक्ति ने नशे में अपनी औरत को तीन तलाक़ें दे दीं, जिस पर चार औरतों ने गवाही दी। यह मामला हज़रत उमर फ़ारूक़ रज़ि० की सेवा में पेश किया गया तो, आपने

औरतों की गवाही को जाइज़ क़रार दिया और तलाक़ को लागू करके पति पत्नी के बीच अलाहदगी करा दी।

इसी तरह एक औरत ने कुछ औरतों की मौजूदगी में एक बच्चे को अपने पैरों से रौंदकर मार दिया तो हज़रत अली रज़ि० ने केवल चार औरतों की गवाही पर फ़ैसला किया और दैत दिलवाई।

हज़रत शुरीह से भी घरेलू सामान के झगड़े में ऐसा फ़ैसला मौजूद है जो उन्होंने केवल चार औरतों की गवाही पर दिया। (देखिए : अत्तरक़ुल हुक्मिया, पृ० : 135, महल्ला, किताबुश्शहादत, 10/572-573)

बहरहाल जब औरतों की गवाही उन मामलात में सर्व सहमति से जाइज़ है जो उन चीज़ों का शिकार हों जिनसे आदतन केवल औरतें ही बाख़बर हो सकती हों, जैसे पैदाइश, कुंवारापन, निफ़ास, धर्म मासिक और गर्भ आदि और उसकी बुनियाद नज़रिया ज़रूरत पर है कि अगर यहां औरतों की गवाही स्वीकार नहीं की जाएगी तो बहुत से अधिकार बर्बाद हो जाएंगे। इसी तरह इस उसूल के तहत वहां भी औरतों की गवाही स्वीकार्य होनी चाहिए, जहां घटना घटित होने के समय औरतों के सिवा और कोई गवाह न हो। औरत की यह ठीक समय की गवाही भी अक़्ल व अनुमान के तक़ाज़ों के ठीक ठीक अनुसार है।

औरत की गवाही का निसाब

अलबत्ता फ़ुक़्हा के बीच इस बात में मतभेद है कि जिन मसाइल में औरत की गवाही क़ुबूल है, उसका गवाही का निसाब क्या हो? इमाम शाफ़ई और जमहूर ने क़ुरआन के गवाही के निसाब का भरोसा करते हुए चार औरतों को ज़रूरी क़रार दिया है और इमाम मालिक के निकट दो औरतें भी काफ़ी हैं, जबकि हनफ़ियों के निकट एक औरत भी काफ़ी है। अगर एक से ज़्यादा (2 या 3) हों, तो बेहतर है। उसकी विस्तृत जानकारी के लिए देखें :

▸ अलहिदाया मय फ़त्हुल क़दीर, 7/372 ▸ बदाइउस्सनाई, 6/277-278 ▸ मुदव्विनतुल कुबरा, 4/79-80 ▸ बिदाया मुज्तहिद, 2/465 ▸ तफ़्सीर ग़राइबुल क़ुरआन, पारा 3, पृ० 91 ▸ अलमुहज़्ज़ब, 2/333-334 ▸ अत्तरक़ुल हुक्मिया, 137 ▸ अलमहल्ला, किताबुश्शहादात ▸ आलामुल मूक़िईन, 1/102 ▸ फ़त्हुलबारी, 5/266

एक ज़रूरी स्पष्टीकरण

यह ध्यान रहे कि औरत का यह गवाही का निसाब केवल उन औरतों के मसाइल के बारे में फ़ुक़्हा ने बयान किया है जिन पर मर्द बाख़बर नहीं हो पाते। इसलिए यह गवाही का निसाब पहली प्रकार का है। दूसरी प्रकार में, अर्थात ऐसे मामलों में कि जिनमें मौक़े की गवाह केवल औरतें ही हों, वहां उनका गवाही का निसाब क्या हो? मुझे इस सिलसिले में फ़िक़्ही किताबों में कुछ नहीं मिला। इसलिए मेरे विचार में यहां इब्ने हज़्म का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए कि औरत का निसाब मर्द से दुगना हो। अर्थात ज़िना के केस में आठ औरतों की गवाही और बाक़ी केसों में 4 औरतें ज़रूरी हों, ताकि क़ुरआन व हदीस के आदेशों से टकराव न हो। बहरहाल यह मसला विद्वानों के सोच विचार के योग्य है।

माल व ऋण में औरत की गवाही

जहां तक माल (धन) व ऋण का संबंध है इसकी बाबत चूंकि क़ुरआनी आयत "वस्तशहिदू शहीदैनि मिन रिजालिकुम फ़-इन लम यकूना रजुलै-नि फ़-रजुलुन वम-र-अ-तानि" (बक़रा : 2/282) मौजूद है। इसलिए इसमें उलमा के बीच ज़्यादा मतभेद नहीं। सबके निकट इन मामलों में दो मर्द गवाह हों या एक मर्द और दो औरतें। इमाम इब्ने क़य्यिम लिखते हैं :

«وَقَدِ اتَّفَقَ الْمُسْلِمُونَ عَلَى أَنَّهُ يُقْبَلُ فِي الْأَمْوَالِ رَجُلٌ وَامْرَأَتَانِ،
وَكَذَلِكَ تَوَابِعُهَا مِنَ الْبَيْعِ، وَالْأَجَلِ فِيهِ، وَالْخِيَارِ فِيهِ، وَالرَّهْنِ،

وَالْوَصِيَّةِ لِلْمُعَيَّنِ، وَهِبَتِهِ وَالْوَقْفِ عَلَيْهِ، وَضَمَانِ الْمَالِ، وَإِتْلَافِهِ، وَدَعْوَى رِقِّ مَجْهُولِ النَّسَبِ، وَتَسْمِيَةِ الْمَهْرِ، وَتَسْمِيَةِ عِوَضِ الْخُلْعِ، يُقْبَلُ فِي ذٰلِكَ رَجُلٌ وَامْرَأَتَانِ» (اعلام الموقعين: ١/ ٩٧)

हाफ़िज़ इब्ने हजर रह० लिखते हैं :

«أَمَّا اتِّفَاقُهُمْ عَلَى جَوَازِ شَهَادَتِهِنَّ فِي الْأَمْوَالِ فَلِلْآيَةِ الْمَذْكُورَةِ ... وَأَمَّا اخْتِلَافُهُمْ فِي النِّكَاحِ وَنَحْوِهِ فَمَنْ أَلْحَقَهَا بِالْأَمْوَالِ فَذٰلِكَ لِمَا فِيهَا مِنَ الْمُهُورِ وَالنَّفَقَاتِ وَنَحْوِ ذٰلِكَ، وَمَنْ أَلْحَقَهَا بِالْحُدُودِ فَلِأَنَّهَا تَكُونُ اسْتِحْلَالًا لِلْفُرُوجِ وَتَحْرِيمَهَا بِهَا، قَالَ: وَهٰذَا هُوَ الْمُخْتَارُ، وَيُؤَيِّدُ ذٰلِكَ قَوْلُهُ تَعَالَى ﴿وَأَشْهِدُوا ذَوَيْ عَدْلٍ مِنْكُمْ﴾ ثُمَّ سَمَّاهَا حُدُودًا فَقَالَ ﴿تِلْكَ حُدُودُ اللهِ﴾ وَالنِّسَاءُ لَا يُقْبَلْنَ فِي الْحُدُودِ» (فتح الباري الشهادات: ٥/ ٣٢٨، ٣٢٩)

शेख़ इस्माईल हक़्क़ी लिखते हैं :

«شَهَادَةُ النِّسَاءِ مَعَ الرِّجَالِ فِي الْأَمْوَالِ جَائِزَةٌ مَعَ الْإِجْمَاعِ دُونَ الْحُدُودِ وَالْقِصَاصِ» (تفسير روح البيان پاره: ٣، ص: ٤٤١)

और अधिक इसके लिए देखिए : ⊛ तफ़्सीर ग़राइबुल क़ुरआन, पारा-3, पृ० 91 ⊛ तफ़्सीर ख़ाज़िन, भाग-1, पारा-3, पृ० 215 ⊛ तफ़्सीर क़ुरतबी, पारा-3, पृ० 391 ⊛ अहकामुल क़ुरआन, लिलजसास, पारा-3, पृ० 598 और अन्य टीकाएं व फ़िक़्ह की किताबें, इस मसले पर चूंकि सहमति है, इसलिए इस पर ज़्यादा बहस की ज़रूरत नहीं।

एक विचार्णीय नुकता

लेकिन एक नुकता ज़रूर विचार्णीय है और वह यह है कि एक मर्द और दो औरतों की गवाही उस समय स्वीकार योग्य है जबकि दो मर्द गवाह उपलब्ध न हों, या सर्वथा एक मर्द के साथ दो औरतों की गवाही

की इजाज़त है। जमहूर टीकाकारों की राय में तो यह इजाज़त पक्की है। अर्थात गवाही बनाने वाले की राय पर निर्भर है कि वह ऋण व धन में दो मर्दों को गवाह बना ले या एक मर्द और दो औरतों को। दोनों तरह जाइज़ है। लेकिन कुछ लोग "फ़इन लम यकूना रजुलैनि" को "फ़इन लम तजिदू रजुलैनि" के अर्थ में लेते हैं। उनके निकट वित्त के मामले में भी एक मर्द के साथ दो औरतों की गवाही इस सूरत में जाइज़ होगी जब दो मर्दों का गवाह के तौर पर मिलना मुश्किल हो। जिस तरह पानी के होते हुए तयम्मुम की इजाज़त नहीं। इसी तरह मर्द गवाह उपलब्ध होने की सूरत में एक मर्द के साथ दो औरतों को गवाह बनाना सही नहीं।

इनमें से कौन सी राय सही है? इस पर उलमा सोच विचार कर सकते हैं, फिर भी कलाम के संदर्भ से दूसरी राय की पुष्टि होती है और अन्य उल्लिखित वाद विवाद से भी इसकी एक तरह से वरीयता का पहलू निकलता है।

फ़ुक़्हा के बीच एक मतभेद यह भी है कि मालों के अलावा अन्य अधिकारों में औरत की गवाही क़ुबूल है या नहीं, हनफ़ी फ़ुक़्हा हुदूद व क़िसास के अलावा अन्य तमाम अधिकारों व मामलों में एक मर्द के साथ दो औरतों की गवाही को जाइज़ मानते हैं, जबकि दूसरे फ़ुक़्हा इसे माल व ऋण तक सीमित रखते हैं। बहरहाल यह मतभेद इस समय हमारी बहस के दायरे से बाहर है।

सज़ाओं व क़िसास में औरत की गवाही

औरत की गवाही की तीसरी क़िस्म सज़ाओं व क़िसास में गवाही है अर्थात उसमें औरत की गवाही क़ुबूल है या नहीं? फ़ुक़्हा इन मामलों में इसकी गवाही क़ुबूल करने के क़ायल नहीं हैं। कुछ नवीनीकरण कर्त्ताओं ने इस मसले को बड़ी सख़्ती, बल्कि तेज़ी के साथ उठाया है। उनका विचार है कि फ़ुक़्हा की यह राय कि हुदूद व क़िसास में औरत की गवाही

क़ुबूल नहीं, क़ुरआन के विरुद्ध है, क़ुरआन ने यह भेद नहीं किया। जबकि तमाम फ़ुक़्हा के बीच इस पर सहमति है कि हुदूद व क़िसास में औरत की गवाही अस्वीकार्य है। इसलिए सबसे पहले सारे फ़ुक़हा के बीच सहमति के सिलसिले वाले मामले पेश किए जाते हैं।

«وَاتَّفَقُوا عَلَى أَنَّ شَهَادَةَ النِّسَاءِ غَيْرُ جَائِزَةٍ، وَلَا مَقْبُولَةٍ فِي الْعُقُوبَاتِ، وَالْحُدُودِ» (الخازن: ١/٢١٥).

«أَمَّا اتِّفَاقُهُمْ عَلَى مَنْعِهَا فِي الْحُدُودِ وَالْقِصَاصِ، فَلِقَوْلِهِ تَعَالَى: ﴿ثُمَّ لَمْ يَأْتُوا بِأَرْبَعَةِ شُهَدَاءَ﴾» (فتح الباري، الشهادات، باب شهادة النساء: ٥/٣٢٨، ٣٢٩).

«أَنَّ فِي الزِّنَا يَجِبُ شَهَادَةُ أَرْبَعَةٍ مِنَ الرِّجَالِ بِالاتِّفَاقِ، لِقَوْلِهِ تَعَالَى ﴿ثُمَّ لَمْ يَأْتُوا بِأَرْبَعَةِ شُهَدَاءَ﴾ وَفِي غَيْرِ الزِّنَا مِنَ الْحُدُودِ وَالْقِصَاصِ، تُقْبَلُ فِيهَا شَهَادَةُ رَجُلَيْنِ، فَحَسْبُ بِالاتِّفَاقِ» (التفسيرات الأحمدية: ١٧٩).

«وَاشْتِرَاطُ عَدَمِ تَيَسُّرِ رَجُلَيْنِ لِلاسْتِشْهَادِ بِالْمَرْأَتَيْنِ مَعَ الرَّجُلِ يُشْعِرُ كَوْنَهُمَا بَدَلاً مِنَ الرَّجُلِ، وَأَنَّ الأَصْلَ عَدَمُ الاسْتِشْهَادِ بِهِنَّ لِلشُّبْهَةِ الْبَدَلِيَّةِ، لَا يَجُوزُ شَهَادَةُ النِّسَاءِ فِيمَا يَنْدَرِىءُ بِالشُّبُهَاتِ مِنَ الْحُدُودِ وَالْقِصَاصِ إِجْمَاعًا» (تفسير المظهري: ١/٤٢٢)

इसी तरह तमाम फ़िक़्ही किताबों में स्पष्टीकरण है कि ज़िना आदि जैसे जुर्म के सुबूत के लिए मर्द गवाह ज़रूरी हैं। देखिए : ❀ अलमुगनी, 10/175 ❀ अलमुदव्विनतुल कुबरा, 4/83-84 ❀ बिदाया मुज्तहिद, 2/465 ❀ बदाइउस्सनाई, 6/277 ❀ तशरीउल जनाई अलइस्लामी, 2/410 ❀ फ़िक़्ह अल सुन्नह, 2/355 ❀ मुहज़्ज़ब, 2/332

फ़ुक़्हाए किराम के विवेचन की बुनियादें

1. इस तरह तमाम फ़ुक़्हा के बीच इस बात पर सहमति है कि हुदूद

व क़िसास में औरत की गवाही क़ुबूल नहीं और उन सबका विवेचन इस बात पर है कि क़ुरआन करीम ने इन मामलों में गवाहों का ज़िक्र जिन शब्दों (कलिमात) में किया है। वे सब पुल्लिंग के कलिमे हैं। जैसे : ज़िना और क़ज़फ़ के बारे में हुक्म दिया कि चार गवाह मर्द हों। फ़रमाया :

﴿وَٱلَّـٰتِى يَأۡتِينَ ٱلۡفَـٰحِشَةَ مِن نِّسَآئِكُمۡ فَٱسۡتَشۡهِدُواْ عَلَيۡهِنَّ أَرۡبَعَةً مِّنكُمۡ﴾ (النساء٤/١٥)

दूसरी जगह फ़रमाया :

﴿وَٱلَّذِينَ يَرۡمُونَ ٱلۡمُحۡصَنَـٰتِ ثُمَّ لَمۡ يَأۡتُواْ بِأَرۡبَعَةِ شُهَدَآءَ فَٱجۡلِدُوهُمۡ ثَمَـٰنِينَ جَلۡدَةً﴾

(النور٢٤/٤)

तलाक़ और रजअत के बारे में दो न्यायी मर्द गवाह बनाने का हुक्म दिया, फ़रमाया :

﴿فَإِذَا بَلَغۡنَ أَجَلَهُنَّ فَأَمۡسِكُوهُنَّ بِمَعۡرُوفٍ أَوۡ فَارِقُوهُنَّ بِمَعۡرُوفٍ وَأَشۡهِدُواْ ذَوَىۡ عَدۡلٍ مِّنكُمۡ﴾ (الطلاق٦٥/٢)

उनके अलावा कुछ और स्थान हैं जहां क़ुरआन करीम में गवाह बनाने का ज़िक्र है, जैसे यतीमों के माल की वापसी के सिलसिले में फ़रमाया :

﴿فَإِذَا دَفَعۡتُمۡ إِلَيۡهِمۡ أَمۡوَٰلَهُمۡ فَأَشۡهِدُواْ عَلَيۡهِمۡ﴾ (النساء٤/٦)

वसीयत के सिलसिले में फ़रमाया :

﴿يَـٰٓأَيُّهَا ٱلَّذِينَ ءَامَنُواْ شَهَـٰدَةُ بَيۡنِكُمۡ إِذَا حَضَرَ أَحَدَكُمُ ٱلۡمَوۡتُ حِينَ ٱلۡوَصِيَّةِ ٱثۡنَانِ ذَوَا عَدۡلٍ مِّنكُمۡ أَوۡ ءَاخَرَانِ مِنۡ غَيۡرِكُمۡ إِنۡ أَنتُمۡ ضَرَبۡتُمۡ فِى ٱلۡأَرۡضِ فَأَصَـٰبَتۡكُم مُّصِيبَةُ ٱلۡمَوۡتِ تَحۡبِسُونَهُمَا مِنۢ بَعۡدِ ٱلصَّلَوٰةِ فَيُقۡسِمَانِ بِٱللَّهِ إِنِ ٱرۡتَبۡتُمۡ لَا نَشۡتَرِى بِهِۦ ثَمَنًا وَلَوۡ كَانَ ذَا قُرۡبَىٰ وَلَا نَكۡتُمُ شَهَـٰدَةَ ٱللَّهِ إِنَّآ إِذًا لَّمِنَ ٱلۡأَثِمِينَ ﴿١٠٦﴾﴾ (المائدة٥/١٠٦)

क़ुरआन करीम ने उन तमाम मामलों में गवाहों का ज़िक्र पुल्लिंग के कलिमात में किया है जिससे मालूम होता है कि क़ुरआन करीम औरत को अदालती गवाही के चक्कर में फंसाना पसन्द नहीं करता। वर्ना उन आयतों में औरत की गवाही का ज़िक्र भी कर देता, क्योंकि अदालती गवाही औरत के स्वभाव, प्रकृति और उसके कार्यक्षेत्र से मेल नहीं खाती। इसका बोझ केवल मर्द ही उठा सकते हैं जिनकी शारीरिक व मानसिक शक्ति भी मज़बूत है और वह बाहरी मामलों के ज़िम्मेदार भी हैं और माल व ऋण में एक मर्द के साथ दो औरतों की गवाही की इजाज़त की वजह यह है कि समाज में इसकी आम ज़रूरत पेश आती रहती है। जो आम पेश आने वाली चीज़ हो, इसमें शरीअत की तरफ़ से आसानी का आयोजन भी होता है। अतः इमाम क़ुरतबी लिखते हैं :

«فَجَعَلَ تَعَالَى شَهَادَةَ الْمَرْأَتَيْنِ مَعَ الرَّجُلِ جَائِزَةً مَعَ وُجُودِ الرَّجُلَيْنِ فِي هٰذِهِ الآيَةِ، وَلَمْ يَذْكُرْهَا فِي غَيْرِهَا، فَأُجِيزَتْ فِي الأَمْوَالِ خَاصَّةً فِي قَوْلِ الْجُمْهُورِ، بِشَرْطِ أَنْ يَكُونَ مَعَهُمَا رَجُلٌ وَإِنَّمَا كَانَ ذٰلِكَ فِي الأَمْوَالِ دُونَ غَيْرِهَا، لأَنَّ الأَمْوَالَ كَثَّرَ اللهُ أَسْبَابَ تَوْثِيقِهَا لِكَثْرَةِ جِهَاتِ تَحْصِيلِهَا وَعُمُومِ الْبَلْوَى بِهَا وَتَكَرُّرِهَا، فَجَعَلَ فِيهَا التَّوَثُّقَ تَارَةً بِالْكَتْبَةِ وَتَارَةً بِالإِشْهَادِ وَتَارَةً بِالرَّهْنِ وَتَارَةً بِالضَّمَانِ، وَأَدْخَلَ فِي جَمِيعِ ذٰلِكَ شَهَادَةَ النِّسَاءِ مَعَ الرِّجَالِ» (تفسير قرطبى: ٢٨٢، ٣٩١/٣)

"अर्थात अल्लाह तआला ने इस आयत "इन लम यकूना रजुलैनि फ़-रजुलुन वम-र-अ-तानि" में दो औरतों की गवाही को एक मर्द के साथ जाइज़ रखा है। इस आयत के अलावा कहीं और औरत की गवाही का अल्लाह ने ज़िक्र नहीं किया। इसलिए जमहूर ने मालों में औरत की गवाही को इस शर्त के साथ जाइज़ रखा है कि इसके साथ एक मर्द भी हो और यह

जवाज़ केवल मालों में है, किसी और में नहीं, इसलिए कि मालों में आम तौर पर लड़ाई झगड़े की सूरत पाई जाती है और बार बार इसकी ज़रूरत पेश आती है, इसी के साथ शरीअत ने इसके स्पष्टीकरण के कारण भी अनेक बयान किए हैं। कभी यह स्पष्टीकरण लेख व किताबों की सूरत में होता है, कभी गवाह बना लेने की सूरत में, कभी गिरवी और कभी ज़मानत के द्वारा और उन तमाम सूरतों में औरत की गवाही को मर्दों के साथ जाइज़ रखा है।"

हुदूद व क़िसास के मामले इस्लामी समाज में इतनी अधिकता और तकरार के साथ पेश नहीं आते कि वहां मर्दों की गवाही नाकाफ़ी हो और औरतों का हस्तक्षेप भी इसमें ज़रूर हो। इसलिए क़ुरआन की शैली इसी बात की अपेक्षा करती है कि हुदूद व क़िसास में औरत को गवाही से अलग ही रखा जाए।

2. दूसरा विवेचन फ़ुक़्हा ने इस तरह किया है कि अरबी ज़बान के नियमों की रू से एक और दो लोगों की संख्या के लिए जो नाम अदद इस्तेमाल होता है वह कुछ के लिए पुल्लिंग व स्त्रीलिंग के अनुसार होता है, मगर तीन से दस तक कुछ लोगों के लिए जो अदद इस्तेमाल किया जाता है वह पुल्लिंग कुछ के लिए स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग के लिए पुल्लिंग होता है। क़ुरआन पाक में अरबअत शु-ह-दा की तर्कीब में अदद (चार) स्त्रिलिंग है जो कुछ (शु-ह-दाअ) की पुल्लिंग पर विवेचन करता है। इस तरह स्त्रिलिंग अदद (चार) के साथ कुछ पुल्लिंग (शु-ह-दाअ) ने मिलकर इस आयत को मर्दों के लिए ख़ास कर दिया है। अतः इमाम इब्ने क़दामा मुक़द्दसी रह० लिखते हैं :

(الشرط الثاني) أَنْ يَكُونُوا رِجَالاً كُلُّهُمْ وَلاَ تُقْبَلُ فِيهِ شَهَادَةُ النِّسَاءِ بِحَالٍ، وَلاَ نَعْلَمُ فِيهِ خِلاَفًا إِلاَّ شَيْئًا يُرْوَى عَنْ عَطَاءٍ

وَحَمَّادٍ أَنَّهُ يُقْبَلُ فِيهِ ثَلَاثَةُ رِجَالٍ وَامْرَأَتَانِ، وَهُوَ شُذُوذٌ لَا يُعَوَّلُ عَلَيْهِ، لِأَنَّ لَفْظَ الْأَرْبَعَةِ اِسْمٌ لِعَدَدِ الْمَذْكُورِينَ وَيَقْتَضِي أَنْ يُكْتَفَى فِيهِ بِأَرْبَعَةٍ، وَلَا خِلَافَ فِي أَنَّ الْأَرْبَعَةَ إِذَا كَانَ بَعْضُهُمْ نِسَاءً لَا يُكْتَفَى بِهِمْ، وَإِنَّ أَقَلَّ مَا يُجْزِئُهُ خَمْسَةٌ وَهٰذَا خِلَافُ النَّصِّ، وَلِأَنَّ فِي شَهَادَتِهِنَّ شُبْهَةً لِتَطَرُّقِ الضَّلَالِ إِلَيْهِنَّ، قَالَ اللّٰهُ تَعَالَى ﴿أَنْ تَضِلَّ إِحْدَاهُمَا فَتُذَكِّرَ إِحْدَاهُمَا الْأُخْرَى﴾ وَالْحُدُودُ تُدْرَأُ بِالشُّبُهَاتِ»(المغني والشرح الكبير: ١٠/ ١٧٠، ١٧١)

''दूसरी शर्त यह है कि चारों गवाह मर्द हों, उसमें औरत की गवाही किसी हाल में क़ुबूल नहीं। इसमें सिवाए हम्माद और अता रह० के किसी का मतभेद नहीं। इनके विचार में तीन मर्द और दो औरतें भी स्वीकार हैं, लेकिन यह मसलक बहुत कम है जो विश्वसनीय नहीं। इसलिए कि ''अरबा'' का शब्द अदद पुल्लिंग का इस्म है जो इस बात का तक़ाज़ा करता है कि वे चार ही हों और इसमें कोई मतभेद नहीं कि चार गवाहों में अगर कोई औरत भी गवाह होगी (तो एक मर्द के मुक़ाबले में दो होने की वजह से) गवाहों की संख्या चार से अधिक और कम से कम भी पांच हो जाएगी और यह चीज़ नस के ख़िलाफ़ होगी। इसके अलावा औरत की गवाही में ''अन तज़िल्ल इहदाहुमा'' को देखते हुए संदेह की संभावनाएं हैं और सज़ाएं सन्देहों से ख़त्म हो जाती हैं। इसलिए भी सज़ाओं में औरत की गवाही स्वीकार्य नहीं।'' इमाम इब्ने हुमाम लिखते हैं : (बसिलसिला शहूदे ज़िना)

«لِأَنَّ النَّصَّ أَوْجَبَ أَرْبَعَةَ رِجَالٍ بِقَوْلِهِ تَعَالَى ﴿أَرْبَعَةً مِّنْكُمْ﴾ فَقَبُولُ امْرَأَتَيْنِ مَعَ ثَلَاثَةٍ مُخَالِفٌ لِمَا نَصَّ عَلَيْهِ مِنَ الْعَدَدِ وَالْمَعْدُودِ . . .»(فتح القدير: ٧/ ٣٧٠)

"अर्थात ज़िना के सुबूत के लिए चार मर्द गवाह ज़रूरी हैं, क्योंकि "फ़सतशहिदू अलैहिन्न अर-ब-अ-तन मिन्कुम" की नस क़ुरआनी ने मर्दों को निश्चित कर दिया है। इसलिए तीन मर्दों के साथ दो औरतों की गवाही को क़ुबूल करना यह उस नस के विरुद्ध है जो क़ुरआन में कुछ अदद के बारे में आई है।"

3. तीसरा विवेचन फ़ुक़्हा ने यह किया है कि चूंकि औरत अदालती गवाही में प्राकृतिक रूप से कमज़ोर है इसकी इस प्राकृतिक कमज़ोरी से केस में सन्देह पैदा हो सकता है और नबी सल्ल० ने ताकीद की है कि सज़ाओं में सन्देहों का ध्यान रखा करो और सन्देह की वजह से सज़ा लागू नहीं की जा सकती। इसलिए अगर सज़ाओं व क़िसास में औरत की गवाही को जाइज़ रखा जाएगा, तो उन ख़तरनाक केसों में सन्देह पैदा होने की ज़्यादा संभावना रहेगी, जिसका फ़ायदा समाज के ख़तरनाक अपराधियों को मिलेगा।

इब्ने क़दामा मुक़द्दसी की उल्लिखित इबारत में भी यह विवेचन मौजूद है। इनके अलावा देखिए साहिबे हिदाया ज़िना की सज़ा पर बहस करते हुए कि उसमें औरत की गवाही क़ुबूल नहीं, लिखते हैं :

«وَلِأَنَّ فِيهَا شُبْهَةَ الْبَدَلِيَّةِ لِقِيَامِهَا مَقَامَ شَهَادَةِ الرِّجَالِ فَلَا تُقْبَلُ فِيمَا يَنْدَرِئُ بِالشُّبُهَاتِ» (الهداية، كتاب الشهادات: ۳/۱۳۹)۔

इसी तरह ज़िना के अलावा अन्य सज़ाओं के सिलसिले में लिखते हैं :

«وَمِنْهَا الشَّهَادَةُ بِبَقِيَّةِ الْحُدُودِ وَالْقِصَاصِ تُقْبَلُ فِيهَا شَهَادَةُ رَجُلَيْنِ لِقَوْلِهِ تَعَالَى ﴿وَاسْتَشْهِدُوا شَهِيدَيْنِ مِنْ رِجَالِكُمْ﴾ وَلَا تُقْبَلُ فِيهَا شَهَادَةُ النِّسَاءِ لِمَا ذَكَرْنَا» (حواله مذكور)

इमाम कासानी लिखते हैं :

﴿إِنَّ الْحُدُودَ وَالْقِصَاصَ مِمَّا تُدْرَأُ بِالشُّبُهَاتِ . . . وَلِهٰذَا لاَ تُقْبَلُ فِيهَا شَهَادَةُ النِّسَاءِ لِتَمَكُّنِ الشُّبْهَةِ فِي شَهَادَتِهِنَّ بِسَبَبِ السَّهْوِ وَالْغَفْلَةِ﴾(بدائع الصنائع: ٦/ ٢٨١)

"सज़ाएं व क़िसास सन्देहों से ख़त्म हो जाते हैं...यही वजह है कि उनमें औरतों की गवाही क़ुबूल नहीं, क्योंकि भूल और अचेतना की वजह से औरतों की गवाही में सन्देह राह पा लेते हैं।"

और सज़ाओं व क़िसास के अलावा अन्य मामलों व अधिकार सन्देहों के साथ भी ख़त्म हो जाते हैं। इसलिए उनमें उनकी गवाही से ज़्यादा ख़तरा नहीं। हिदाया में है :

﴿وَهٰذِهِ الْحُقُوقُ تَثْبُتُ مَعَ الشُّبُهَاتِ﴾(الهداية مع فتح القدير: ٧/ ٣٧١)

4. चौथा विवेचन इमाम ज़ोहरी की मुरसल रिवायत से है :

﴿مَضَتِ السُّنَّةُ مِنْ لَدُنْ رَسُولِ اللهِ ﷺ وَالْخَلِيفَتَيْنِ مِنْ بَعْدِهِ أَنْ لاَ شَهَادَةَ لِلنِّسَاءِ فِي الْحُدُودِ وَالْقِصَاصِ﴾(الهداية مع فتح القدير: ٧/ ٣٦٩)

मुदव्विना कुबरा में यह रिवायत इस तरह है :

﴿مَضَتِ السُّنَّةُ مِنْ رَسُولِ اللهِ ﷺ وَالْخَلِيفَتَيْنِ مِنْ بَعْدِهِ أَنَّهُ لاَ تَجُوزُ شَهَادَةُ النِّسَاءِ فِي النِّكَاحِ وَلاَ فِي الطَّلاَقِ وَلاَ فِي الْحُدُودِ﴾ (٤/ ٨٤)

एक रिवायत में ये शब्द इस तरह हैं :

﴿قَالَ ابْنُ شِهَابٍ مَضَتِ السُّنَّةُ بِذٰلِكَ، بِأَنْ لاَ تَجُوزَ شَهَادَةُ امْرَأَتَيْنِ مَعَ الرَّجُلِ فِي الْقَتْلِ وَالنِّكَاحِ وَالطَّلاَقِ وَالْحُدُودِ﴾(حواله مذكور)

"अर्थात इब्ने शहाब ज़ोहरी से रिवायत है कि रसूलुल्लाह

सल्ल० और आपके बाद दोनों ख़लीफ़ों (अबूबक्र व उमर रज़ि०) से यह सुन्नत चली आ रही है कि औरतों की गवाही (या एक मर्द के साथ दो औरतों की गवाही) सज़ाओं व क़िसास और निकाह व तलाक़ में जाइज़ नहीं।"

5. कुछ फ़ुक़्हा ने विवेचन की एक वजह यह भी लिखी है कि औरत को सन्देहों से अलग रखने की वजह यह भी है, ताकि उसका असल कार्यक्षेत्र...घरेलू मामले और ज़िम्मेदारियां...प्रभावित न हों और घर से उसको ज़्यादा न निकलना पड़े। (अलहिदाया मय फ़त्हुल क़दीर, 7/372)

कुछ उलमा ने इस पर आलोचना की है कि यह बड़ी कमज़ोर वजह है, लेकिन इस्लाम ने औरत के ज़्यादा बाहर निकलने को जिस तरह नापसन्द किया है और घर में रहने की ताकीद और परदे का हुक्म दिया है, इसे देखते हुए यह वजह भी बड़ी उचित नज़र आती है। इसे कमज़ोर नहीं कहा जा सकता। बहरहाल फ़ुक़्हाए इस्लाम के आम सहमति के मसलक की ये पांच बुनियादें हैं।

मरजूअ और शाज़ मसलक

इस सहमति वाले मसलक के मुक़ाबले में एक राय यह है कि औरत की गवाही हर मामले में स्वीकार्य है, माल व हक़ों में भी और सज़ाओं व क़िसास में भी। अलबत्ता इसकी गवाही मर्द की गवाही से आधी है। इसलिए इसकी गवाही का निसाब मर्द से दुगना होगा, जैसे ज़िना के अपराध के सुबूत में 4 मर्दों की जगह आठ औरतें, या तीन मर्द और दो औरतें, या दो मर्द, चार औरतें या एक मर्द और छः औरतें गवाह होंगी।

यह राय अता, हम्माद और इमाम इब्ने हज़्म रह० की है। यह मसलक शाज़ है। इसकी बुनियाद इस हदीस पर है जिसमें नबी सल्ल० ने फ़रमाया है :

«أَلَيْسَ شَهَادَةُ الْمَرْأَةِ مِثْلَ نِصْفِ شَهَادَةِ الرَّجُلِ؟ . . .

(الحديث«(صحيح البخاري، الشهادات، باب شهادة النساء، ح:٢٦٥٨)

इस हदीस को उन लोगों ने आम रखा है। ज़बकि जमहूर फ़ुक़्हा के निकट यह हदीस आयत मदायनत की टीका है कि मालों में एक मर्द के साथ दो औरतों की गवाही क़ुबूल होगी। लेकिन इब्ने हज़म रह० का यह मरजूह मसलक भी मर्द व और की समानता के दृष्टिकोण के समर्थकों के लिए बिल्कुल लाभकारी नहीं कि उसमें भी मर्द के मुक़ाबले में औरत की आधी गवाही ही का स्वीकरण है, जो उनको किसी सूरत क़ुबूल नहीं।

मर्द व औरत की समानता के समर्थकों की दलीलों का अवलोकन

अब उन दलीलों का अवलोकन किया जाता है जो जमहूर उम्मत के मसलक के ख़िलाफ़ पेश की जाती हैं।

1. उनमें से बड़ी दलील उनकी यह है कि "क़ुरआन में गवाही के सिलसिले में पुल्लिंग के कलिमात से जिन लोगों को सम्बोध किया गया है, इसमें मर्द और औरत दोनों शामिल हैं। क्योंकि क़ुरआन करीम में सामान्यता पुल्लिंग ही के कलिमे से मर्दों और औरतों दोनों को सम्बोध किया गया है, वर्ना औरतों को तमाम मसाइल से अलग होना पड़ेगा। "अक़ीमुस्सला-त व आतुज़्ज़का-त..." पुल्लिंग ही के कलिमे हैं तो क्या केवल यह कह दिया जाए कि नमाज़ और ज़कात केवल मर्दों पर फ़र्ज़ है और औरतें इस सम्बोध में दाख़िल नहीं हैं।"

देखने में यह बहुत वज़नी दलील है, लेकिन हक़ीक़त में इतनी वज़नी है नहीं। इसमें यह भ्रम है कि शरीअ़ते इस्लामिया ने मर्द और औरत दोनों के जो अलग अलग कार्यक्षेत्र निर्धारित किए हैं, उन्हें नज़रअंदाज़ कर दिया गया है। अगर यह माना गया है कि सत्य में इस्लाम की रू से औरत का कार्यक्षेत्र घरेलू मामले, ख़ानादारी, गर्भ व दूध पिलाने और बच्चों की निगरानी व हिफ़ाज़त, तक सीमित है और मर्द का कार्यक्षेत्र घर से बाहर काम धंधा करना है, तो फिर यह मानने में भी संकोच नहीं होना चाहिए

कि शरीअते इस्लामिया ने मर्द व औरत दोनों को उनकी अलग अलग ज़िम्मेदारियों और भौतिक गुणों का ध्यान रखते हुए एक दूसरे से भिन्न आदेश भी दिए हैं, लेकिन इसी के साथ साथ कुछ गुण और क्षमताएं ऐसी भी हैं जो मर्द और औरत दोनों में समान हैं। क़ुरआन जब पुल्लिंग के कलिमे से दोनों को संबोध करता है तो वह इसी समान कार्यक्षेत्र से संबंध रखता है। इसे आप यूं समझ सकते हैं, मर्द व औरत की प्राकृतिक विशेषताएं और कामों के हिसाब से तीन मैदाने अमल हैं :

1. मर्द का कार्यक्षेत्र, जिसमें मर्द की प्रमुख विशेषताओं के अनुसार उसके ख़ास फ़राइज़ व वाजिबात हैं।

2. औरत का कार्यक्षेत्र, जिसमें उसे उसके औरत होने के नाते मौजूद विशेषताओं के हिसाब से मर्द से भिन्न काम व फ़राइज़ सौंपे गए हैं।

3. समान कार्यक्षेत्र, जिसमें दोनों की प्राकृतिक क्षमताएं भी समान हैं और शिक्षाएं व निर्देश में भी ख़ास मतभेद नहीं। ईमान व विश्वास। ईमान व विश्वास, उपासना और आचरण की सारी शिक्षाएं इसी समान कार्यक्षेत्र से संबंधित हैं।

इस बुनियादी हक़ीक़त को समझ लेने के बाद, यह समझना मुश्किल नहीं कि पुल्लिंग के कलिमे में औरतें केवल उसी समय मर्दों के साथ शामिल होंगी जब उन कलिमों में दिया जाने वाला हुक्म, मर्द और औरत के समान कार्यक्षेत्र से संबंध रखता होगा, वर्ना जहां हुक्म का संबंध केवल मर्द के कार्यक्षेत्र से होगा, वहां औरतें निश्चय ही इस हुक्म से बाहर होंगी, जैसे क़ुरआन मजीद उन हाजियों से कहता है जो किसी वजह से हरम काबा तक न पहुंच सकें और उन्हें रास्ते ही में रुक जाना पड़े।

﴿فَإِنْ أُحْصِرْتُمْ فَمَا اسْتَيْسَرَ مِنَ الْهَدْيِ وَلَا تَحْلِقُوا رُءُوسَكُمْ حَتَّىٰ يَبْلُغَ الْهَدْيُ مَحِلَّهُ﴾

(البقرة/١٩٦)

"अगर तुम कहीं घिर जाओ तो जो क़ुरबानी हाथ आए (वह

अल्लाह की जनाब में पेश करो) और अपने सर न मूंडो यहां तक कि क़ुरबानी अपनी जगह पहुंच जाए।"

अपनी जगह पहुंचने से क्या तात्पर्य है? हनफ़ी फ़ुक़हा के निकट इससे तात्पर्य हरम है, अर्थात अगर आदमी रास्ते में रुक जाने पर मजबूर हो, तो अपनी क़ुरबानी का जानवर या उसकी क़ीमत भेज दे, ताकि इसकी तरफ़ से हरम की सीमा में क़ुरबानी की जाए और इमाम मालिक और इमाम शाफ़ई रह० के निकट जहां आदमी घिर गया हो, वहीं क़ुरबानी कर देना तात्पर्य है।

बहरहाल इस आयत में यह कहा जा रहा है कि अपने सर घिर जाने वाली जगह पर मुंडा लो, आयत में यद्यपि पुल्लिंग कलिमा ही इस्तेमाल किया गया है लेकिन तात्पर्य मर्द और औरत दोनों नहीं होंगे, बल्कि केवल मर्द होंगे क्योंकि सर मुंडाने का संबंध मर्दों ही से है औरतों से नहीं। औरतें सर नहीं मुंडवाती हैं। क्या यहां यह कहना सही होगा कि "अक़ीमुस्सला-त व आतुज़्ज़का-त" की तरह सर मुंडाने के इस हुक्म में मर्दों की तरह औरतें भी शामिल होंगी?

इसी तरह क़ुरआन मजीद ने ईमान वालों को संबोध करके जगह जगह पुल्लिंग के कलिमे में काफ़िरों व मुश्रिकों से जिहाद का हुक्म दिया है। साफ़ बात है कि मैदाने जंग में तीर व तलवार के जौहर दिखाना मर्दों के कार्यक्षेत्र से संबंध रखता है। इसलिए हर दौर में मुसलमान मुजाहिदीन ही काफ़िरों से जंग करते रहे हैं। मुसलमान औरतों को इसका सम्बोधन नहीं समझा गया। क्या "अक़ीमुस्सला-त व आतुज़्ज़का-त" से विवेचन करते हुए यह कहना सही होगा कि उम्मते मुस्लिमा ने चौदह सौ साल से अब तक क़ुरआन का मतलब ही नहीं समझा? इसमें तो मर्द व औरत दोनों ही शामिल हैं। औरतों को मैदाने जिहाद व जंग से अलग रखकर उनका अपमान किया गया है। अगर जिहाद उन पर फ़र्ज़ नहीं तो नमाज़ व ज़कात उन पर क्यों फ़र्ज़ है?

﴿ يَٰٓأَيُّهَا ٱلَّذِينَ ءَامَنُوٓا۟ إِذَا نُودِىَ لِلصَّلَوٰةِ مِن يَوْمِ ٱلْجُمُعَةِ فَٱسْعَوْا۟ إِلَىٰ ذِكْرِ ٱللَّهِ ﴾ (الجمعة٦٢/٩)

उपरोक्त आयत में अहले ईमान को कहा जा रहा है कि नमाज़े जुमा के लिए अज़ान हो जाए तो उसी समय सब कुछ छोड़कर अल्लाह के ज़िक्र की तरफ़ दौड़ो। उल्लिखित विवेचन की रू से मर्दों की तरह औरतों को भी इस हुक्म का सम्बोधन समझना चाहिए, लेकिन नबी सल्ल० से लेकर आज तक किसी ने यह मतलब नहीं समझा और मर्दों की तरह औरतों पर जुमा को फ़र्ज़ व वाजिब क़रार नहीं दिया, जबकि आयत से अहले ईमान के लिए वजूब साबित हो रहा है। क़ुरआन करीम से इस तरह और भी अनेक मिसालें पेश की जा सकती हैं।

एक मिसाल हदीस रसूल सल्ल० से भी सुन लीजिए! हज़रत बरा रज़ि० कहते हैं :

«أَمَرَنَا رَسُولُ اللهِ ﷺ بِسَبْعٍ وَنَهَانَا عَنْ سَبْعٍ أَمَرَنَا بِاتِّبَاعِ الْجَنَائِزِ، وَعِيَادَةِ الْمَرِيضِ، وَإِجَابَةِ الدَّاعِي، وَنَصْرِ الْمَظْلُومِ، وَإِبْرَارِ الْقَسَمِ، وَرَدِّ السَّلَامِ، وَتَشْمِيتِ الْعَاطِسِ، وَنَهَانَا عَنْ آنِيَةِ الْفِضَّةِ، وَخَاتَمِ الذَّهَبِ، وَالْحَرِيرِ، وَالدِّيبَاجِ، وَالْقَسِّيِّ، وَالْإِسْتَبْرَقِ» (صحيح البخاري، الجنائز، باب الأمر باتباع الجنائز، ح:١٢٣٩)

"हमको रसूलुल्लाह सल्ल० ने हुक्म दिया" में "हमको" से तात्पर्य तमाम मुसलमान मर्द और औरतें हैं, कलाम के संदर्भ और बयान की गई बातों से स्पष्ट है, लेकिन इसके बावजूद इसमें कुछ बातें मर्दों के साथ ख़ास या उनके लिए ज़रूरी हैं, औरतों के लिए ज़रूरी नहीं। जैसे जनाज़े में शिरकत, इसी तरह कुछ बातें मर्दों के लिए मना हैं, मगर औरतों के लिए मना नहीं। जैसे सोने और रेशम का इस्तेमाल लेकिन यहां कलिमा 'अ-म-र-ना' और 'नहाना' समान इस्तेमाल किया गया है। यहां अगर हमारे बयान किए गए उसूल को ध्यान में नहीं रखा जाएगा, तो बहुत

गड़बड़ होगी। इस हदीस में एक साथ तीनों चीज़ें मौजूद हैं :

1. कई चीज़ें इसमें समान हैं। मर्द व औरत दोनों इसके सम्बोधित समझे जाएंगे।

2. कुछ हुक्म केवल मर्दों के लिए ज़रूरी हैं, औरतें इसकी पाबन्द नहीं, जैसे इत्तिबाउल जनाइज़। (जनाज़ों में शिरकत)

3. इसी तरह कुछ वर्जित चीज़ों का संबंध केवल मर्दों से है, औरतों से नहीं। औरत के लिए उनका इस्तेमाल जाइज़ है, जैसे सोने और रेशम का इस्तेमाल।

इन मिसालों से स्पष्ट है कि पुल्लिंग के कलिमों में दिए जाने वाले हुक्म में औरतें केवल इसी समय शामिल होंगी जबकि वह हुक्म मर्द और औरत के समान कार्यक्षेत्र से संबंधित हो, या अन्य शरअी दलीलों से किसी एक जाति का अपवाद साबित न हो। इसी "अक़ीमुस्सला-त" के हुक्म पर तनिक सोचिए (जिसकी मिसाल दी गई है) इसका संबंध इबादत से है जिसमें मर्द व औरत दोनों निःसन्देह शामिल हैं, क्योंकि यह समान कार्यक्षेत्र है। इसके बावजूद अन्य शरअी दलीलों की रू से औरतों को एक अपवाद हासिल है कि हैज़ व निफ़ास के दिनों में नमाज़ उनके लिए माफ़ है, जबकि मर्द के लिए नमाज़ किसी हालत में भी माफ़ नहीं।

इसी के साथ अदालती गवाही का संबंध भी मर्द के बाहरी मामलों से है, जो औरत के कार्यक्षेत्र से बाहर है। शरीअत ने इसकी औरत पन की विशेषताओं, भौतिक रुकावटों और ख़ास घरेलू ज़िम्मेदारियों की वजह से इसको हर मामले में गवाह बनाना पसन्द नहीं किया है। इसलिए अत्यन्त ज़रूरी अवसर के सिवा, इसको हर मामले में मर्दों की तरह गवाह बनाने पर इस बुनियाद पर आग्रह करना कि पुल्लिंग के कलिमों की वजह से मर्द व औरत के बीच जुदाई डालना सही नहीं। अपने अंदर कोई बेहतरी नहीं रखता।

समानता के समर्थकों से एक बुनियादी सवाल

इसके अलावा जमा पुल्लिंग के कलिमे से विवेचन करते हुए हर मामले में मर्द व औरत की गवाही को समान क़रार देना इस क़ुरआनी आयत के भी ख़िलाफ़ है जिसमें दो औरतों की गवाही को एक मर्द के बराबर कहा गया है। अगर कहा जाए कि वहां तो इसकी वजह...अन तज़िल्ल...अर्थात भूल है, इसलिए एक मर्द के साथ दो औरतें ज़रूरी हैं। तो सवाल यह है कि इस फ़र्क़ की बुनियाद क्या है? कि वित्तीय मामलों में तो क़ुरआनी नस की रू से अकेली औरत की गवाही क़ुबूल नहीं, अलबत्ता एक मर्द के साथ दो औरतें मिलकर एक मर्द के क़ायम मक़ाम बन सकती हैं, लेकिन सज़ाओं व क़िसास और अन्य तमाम मामलों में औरत की गवाही को मर्द के समान क़रार दी जाए। क्या "अन तज़िल्ल" वाली परिस्थिति वित्तीय मामलों ही में औरत को पैदा होती है, सज़ाओं व क़िसास के मामलों में पैदा नहीं हो सकती? दलीलों की रू से तो वह वजह, जिसकी बुनियाद पर दो औरतों को ज़रूरी क़रार दिया गया है, औरत की प्राकृतिक कमज़ोरी पर आधारित है जो हर जगह और हर केस में उसके साथ रहेगी और उसके होते हुए उसे आम हालात में मर्द के समान माना जा सकता। फिर आख़िर वित्तीय मामलों में और ग़ैर वित्तीय मामलों में औरत की गवाही में फ़र्क़ क्यों? यह एक ऐसा बुनियादी सवाल है कि जिसको हल किए बिना औरत को अदालती गवाही में मर्द के बराबर क़रार नहीं दिया जा सकता, 'व-लव करिहल काफ़िरू-न'

मर्द की मानसिक श्रेष्ठता की अवधारणा और उसका मतलब

एक बात यह कही जाती है कि मर्द की मानसिक श्रेष्ठता की अवधारणा ग़लत है ख़ासकर मौजूदा दौर में औरत ने उस पर निरस्त की रेखा खींच दी है। इसलिए मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ करने का कोई औचित्य नहीं।

1. लेकिन अर्ज़ है कि मानसिक श्रेष्ठता की यह अवधारणा किसी इंसान की गढ़ी हुई नहीं है, बल्कि गवाही में दो औरतों को एक मर्द के बराबर यह कहकर "अन तज़िल्ल इहदाहुमा फ़तुज़क्कि-र इहदाहुमल उख़रा" पालनहार ने इसका ऐलान किया है। यद्यपि भूल, अचेतना और घबराहट का शिकार मर्द भी हो सकता है और होता है, लेकिन उसके बावजूद अल्लाह तआला ने इसकी गवाही को तो स्थाई हैसियत दी है, लेकिन औरत की गवाही को एक तो स्थाई क़रार नहीं दिया (अर्थात मात्र औरतों की गवाही पर फ़ैसले का हुक्म नहीं दिया) दूसरे एक मर्द के मुक़ाबले में इसका निसाब दुगना रखा। आख़िर यह मानसिक श्रेष्ठता नहीं है तो क्या है?

2. इस हक़ीक़त को क़ुरआन मजीद में अंकित करके यह स्पष्ट कर दिया कि मर्द व औरत के बीच यह प्राकृतिक फ़र्क़ जो है, यह अस्थाई नहीं, जब तक यह दुनिया क़ायम है, यह फ़र्क़ भी मौजूद रहेगा। औरत कितनी भी प्रगति कर ले, मर्द के मक़ाम को वह कभी नहीं पहुंच सकती, क्योंकि यह फ़र्क़ प्राकृतिक और पैदाइशी है जिसे दुनिया की कोई ताक़त ख़त्म नहीं कर सकती।

3. यह दावा प्रोपगंडे के पूरे ज़ोर के बावजूद अधूरा है। हम किसी इस्लामी देश की मिसाल नहीं देते, अमेरिका और यूरोप को मिसाल के तौर पर पेश करते हैं, जहां औरत ज़्यादा नहीं तो कम से कम एक सदी से ज़रूर हर स्थल पर मर्दों के साथ साथ काम कर रही है। इसके नतीजे में वहां हर जगह मर्द के साथ औरत तो ज़रूर नज़र आएगी, लेकिन उसके बावजूद हर स्थल में, चाहे राजनीति व सत्ता का मैदान हो या उद्योग का मैदान, साइंसी ज्ञान का हो या अन्तरिक्ष का, न केवल मर्दों का अनुपात ही ज़्यादा मिलेगा, बल्कि बहुत बड़ी संख्या मर्दों ही की है। औरतें बिल्कुल अल्प मात्रा बल्कि बहुत ही ऊंचे पदों पर मौजूद हैं। पश्चिम में औरतें निःसन्देह बड़े अफ़सरों की स्टीनों या सेक्रेटरी तो हैं, लेकिन हर विभाग

में बड़े अफ़सरों की संख्या अधिकतर मर्दों ही पर आधारित है। यद्यपि शैक्षिक हिसाब से मर्द व औरत के अनुपात में ज़्यादा फ़र्क़ नहीं होगा, इसके बावजूद ऐसे उच्च पदों पर, जिनका संबंध देश चलाने से है, ज़्यादातर मर्द ही मौजूद हैं और औरतों को कुछ खिलौने देकर बहला दिया गया है, बल्कि उसकी मिट्टी पलीद की गई है। इसके लिए कुछ ख़ास विभाग सुरक्षित कर दिए गए हैं। नर्सिंग का काम, एयर होस्टेसें का काम या फिर सेल्ज़मैनी और मॉडलिंग का। क्या ये काम निश्चय ही ऐसे हैं कि उनसे औरत के सम्मान में वृद्धि हुई है?

यह इस बात की दलील है कि पश्चिम चाहे ज़बान से औरत की स्वभाविक तौर पर मानसिक उच्चता स्वीकार न करे, लेकिन उसका अमल आज भी खुले तौर पर इस हक़ीक़त का ऐलान कर रहा है। सच है क़ुदरत की प्राकृतिक व्यवस्था को कोई परिवर्तित करने पर समर्थ नहीं।

4. स्वयं वे लोग भी जो अदालती गवाही में मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ को औरत का (अल्लाह अपनी पनाह में रखे) अपमान क़रार देते हैं। बाहरी मामलों में मर्द व औरत के मानसिक फ़र्क़ का अपमान मानते हैं। अतः इस संबंध में दो किताबों के हवाले पेश किए जाते हैं। एक मौलाना उमर अहमद उसमानी लेखक "फ़िक़्ह क़ुरआन" और दूसरे उनके बुज़ुर्ग जनाब ग़ुलाम अहमद परवेज़।

मौलाना उसमानी साहब आयत "फ़इन लम यकूना रजुलैनि फ़-रजुलुन वम-र-अ-तानि" की टीका करते हुए लिखते हैं :

"इस आयते करीमा में निश्चय ही दो औरतों को एक मर्द का क़ायम मक़ाम क़रार दिया गया है और एक औरत की गवाही एक मर्द के आधे के बराबर क़रार दी गई है।

हम पहले बता चुके हैं कि इस्लाम ने मर्दों और औरतों के कार्यक्षेत्र का निर्धारण कर दिया है। मर्दों का काम बाहर रहकर कमाने की कोशिश

और जद्दोजहद क़रार दिया गया है और औरतों का काम घर के अन्दर नस्ल को बढ़ाना, औलाद की देखभाल, उनकी शिक्षा दीक्षा और घर बार की देखभाल क़रार दिया गया है। इसके ज़िम्मे न किसी का भरण पोषण है और न जीवन ख़र्च की प्राप्ती है। यह काम मर्दों का है। क़र्ज़ का लेन देन निश्चय ही वही करेगा जिसे नक़द रक़म की ज़रूरत होगी। औरतों को इसकी ज़रूरत सामान्यता पैदा नहीं होती, उन्हें तो बैठे बिठाए घर में उसका बाप या पति स्वयं कमाकर लाए या किसी से क़र्ज़, उधार लेकर लाए। बहरहाल क़र्ज़ का लेन देन सामान्यता औरत के कार्यक्षेत्र में आता ही नहीं।

यह उसूल बिल्कुल प्राकृतिक है कि आदमी को अपने कार्यक्षेत्र ही में दिलचस्पी होती है और इसी में उसका मन मस्तिष्क चलता है। एक आर्टस के छात्र से जो बी.ए. की क्लास में पढ़ रहा है, आप यह आशा नहीं कर सकते कि वह बी.एस.सी. के फ़िज़िक्स या कैमिस्ट्री का कोई फारमूला आपको समझा सकेगा, या एक बी.एस.सी. के स्टूडेन्ट्स से आप दीवाने ग़ालिब समझना चाहें यह आशा बेकार ही होगी। एक लॉ गेजुएट से आप किसी इमारत का नक़्शा नहीं बनवा सकते और एक क्वालिफ़ाइड इंजीनियर से आप क़ानूनी सलाह की आशा नहीं कर सकते। हर आदमी का ज़ेहन अपने कार्यक्षेत्र ही में चलता है इससे बाहर वह और एक जाहिल उजड बराबर ही होते हैं। अतः औरतों का ज़ेहन माली लेन देन और क़र्ज़ व उधार के मामलों में स्पष्ट है कि मर्दों की तरह नहीं चल सकता। जैसा कि आप मर्दों से यह आशा नहीं कर सकते कि वह घरेलू मामलों को बेहतर तौर पर हल कर सकेंगे। इसी तरह औरतों से यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वह बाहरी अर्थ व्यवस्था मामलों को भी बेहतर तौर पर समझ सकती, समझा सकती और हल कर सकती हैं।

अदालतों के चक्कर में फंसना जहां बाल की खाल निकाली जाती है और वकील अपनी बहस व सवालों से अच्छे अच्छों के होश उड़ा देते

हैं। क़र्ज़ लेन देन के सिलसिले में जो औरतों के कार्यक्षेत्र से संबंध भी नहीं रखता एक औरत के लिए दर्दे सर है। वह विवरण के बयान में उलझ सकती है जिससे पूरा मुक़दमा ही ख़राब हो सकता है। इसी उलझाव और परेशानी (Confusion) को क़ुरआन करीम ने "अन तज़िल्ल इहदाहुमा फ़तुज़क्कि-र इहदाहुमल उख़रा" से संज्ञा दी है कि अगर एक औरत अपने बयान में उलझ जाए, तो दूसरी औरत उसे याद दिला दे। 'तज़िल्ल' के मायना भूल जाने के नहीं हैं जो हमारे आम अनुवादकों ने बयान कर दिए हैं, बल्कि इसके मायना उलझाव और परेशानी के होते हैं। 'अज़ल्लहु' के मौलिक मायना, सनसनी, हैरानी, अचंभा, परेशानी (Confused - Perplexed) किसी चीज़ का पोशीदा और ग़ायब हो जाना। भिन्न भिन्न चीज़ों का आपस में मिल जाना कि फिर उन्हें जुदा न किया जा सके, होते हैं (ताजुल उरूस) अतः इसके मायना यह हैं कि घटना के भिन्न भिन्न पहलू एक दूसरे में विलीन हो जाने की वजह से औरतें उलझ सकती हैं और बात को स्पष्ट नहीं कर पातीं और घटना के बयान में उलझाव से पूरा मुक़दमा ख़राब हो सकता है। अतः दो औरतें होनी चाहिएं कि एक औरत को कोई उलझावा हो तो दूसरी उसे साफ़ कर दे। यह औरतों का कोई दोष नहीं है, बल्कि उनकी भौतिक और पैदाइशी बनावट का लाज़मी नतीजा है।" (फ़िक्रह क़ुरआन : 3/95-97)

जनाब ग़ुलाम अहमद परवेज़ मर्द व औरत के बीच इस फ़र्क़ को मानते हैं, जो बहस का मुद्दा है। अतएव वह भी उल्लिखित आयत मदायनत की टीका व स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं :

अब सवाल दूसरा बाक़ी रह जाता है कि क़ुरआन ने ख़ासकर औरतों के बारे में क्यों कहा है कि अगर उनमें से एक को कुछ संदेह पैदा हो जाए, कुछ घबराहट सी हो जाए तो दूसरी औरत बात साफ़ कर दे। यह ज़ाहिर है कि इन कामों के इस विभाजन की रू से (जिसका ज़िक्र मैंने अपने पत्र में किया है अर्थात औरतों के लिए औलाद का लालन पालन व प्रशिक्षण

का काम और मर्दों के ज़िम्मे कमाने की ज़िम्मेदारी) यह ज़रूरी था कि मर्दों और औरतों की भौतिक रचना (Biological Constitution) में फ़र्क़ होता। इन दोनों में यह फ़र्क़ प्राकृतिक है।

मर्द और औरत में मनोवैज्ञानिक फ़र्क़

फिर चूँकि इंसान की भौतिक बनावट का असर इंसान के मनोविज्ञान पर भी पड़ता है इसलिए मर्दों और औरतों में इस हद तक मनोविज्ञान का प्रभाव भी ज़रूरी था, इसी मनोविज्ञान के फ़र्क़ का एक नतीजा तो बिल्कुल स्पष्ट है कि मर्द रोज़ी कमाने के बाद सन्तुष्ट हो जाता है कि वह औलाद के लालन पालन से संबंधित अपने कामों से छूट गया है, लेकिन औरत औलाद की परवरिश के लिए अपना सब कुछ क़ुरबान कर देती है और उस पर सन्तुष्ट नहीं होती, उसका जी चाहता है कि अपने ख़ून की आख़िरी बूंद तक भी बच्चे के अंदर उंडेल दे, या अगर उसका बस हो तो अपना सीना चीर कर बच्चे को दिल के अंदर समो ले। वह बच्चे को छाती से लगाकर जिस ज़ोर से खींचती है वह अचेतना के तौर पर इसी भावना का प्रदर्शन होता है। तुमने कभी इस पर भी सोच विचार किया है कि दुनिया की हर औरत बच्चे को बायीं तरफ़ गोद में उठाती है। यह भला क्यों? वह उसे अपने दिल के साथ चिपकाए रखना चाहती है जो बायीं तरफ़ होता है। मर्दों और औरतों की इस भौतिक बनावट और मनोवैज्ञानिक मतभेद के प्रभाव या नतीजे क्या होते हैं, इसके बारे में पश्चिम के मनोवैज्ञानिक विद् बहुत कुछ शोध कर रहे हैं। इस संबंध में डाक्टर हार्डिंग (M. Esther Harddins) ने एक दिलचस्प किताब लिखी है जिसका नाम है (The Way of All Women) जहां तक इस नुकते का संबंध है जो इस समय हमारे सामने है। वह इसमें लिखता है कि अगर मर्दों को इंसान के आपसी संबंधों (Human Relation Ship) के मसाइल से संबंधित काम पर लगाया जाए तो यह काम उनके लिए कभी अच्छा नहीं होता, लेकिन औरतें ऐसे काम बहुत पसन्द करती हैं।

औरतों के लिए मुश्किल काम वह होता है जहां उनसे कहा जाए कि वह किसी मसले की छोटी छोटी बातों को पूरी पूरी सेहत के साथ (Accurately) बयान (Define) कर दें। (पृ० : 31)

यह क्यों होता है? इसके बारे में तो शायद अभी पूर्ण रूप से कुछ न कहा जा सके। लेकिन डाक्टर हार्डिंग का बयान है कि यह वह गुण है जिसे उसने अनेक व्यावहारिक मिसालों के बाद आम तौर पर औरतों में समान पाया.....है।

अगर यह शोध सही है तो आप देखिए कि क़ुरआन ने उसकी कितनी रियायत रखी है। मुक़दमात में हमेशा छोटी छोटी बात पर बहस और जिरह होती है मुक़दमा की छोटी छोटी बातों को पूरी पूरी सेहत के साथ बयान (Accurately Define) न करने ही से गवाही ख़राब होती है और गवाही की पुष्टि के लिए ज़रूरी होता है कि इस क़िस्म के बारीक विभेदों का सुधार हो जाए। औरतों में एक तो वह मनोवैज्ञानिक कमी होगी जिसका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। दूसरे यह कि उन कामों को पूरा करने में व्यस्तता के कारण जो औरतों से ख़ास हैं उनके लिए मर्दों के मुक़ाबले में मामलात में हिस्सा लेने के मौक़े भी कम होते हैं। इसका नतीजा यह होगा कि विवादित मामले (मुक़दमात आदि) में "जहां बाल की खाल निकाली जाएगी, औरत सामान्यता छोटी छोटी बातों के स्पष्टीकरण में उलझ कर रह जाएगी। इसी चीज़ को क़ुरआन ने दूसरे स्थान पर एक और अंदाज़ से बयान किया है। सूरह ज़ुख़रुफ़ में बात यूं चली आती है कि अरब के मुश्रिकीन यह अक़ीदा रखते थे कि खुदा की बेटियां होती हैं। (वे अपनी देवियों को और फ़रिश्तों को खुदा की बेटियां क़रार दिया करते थे) इसके जवाब में क़ुरआन ने कहा कि (इसके अलावा कि यह अक़ीदा कितना असत्य है कि खुदा औलाद भी रखता है) उनकी विडम्बना देखिए कि औलाद में से भी बेटों को तो यह अपने लिए ख़ास करते हैं और खुदा के लिए बेटियां मुक़र्रर करते हैं जिनका उनके अपने दिल में इतना महत्व है कि अगर किसी को बेटी की पैदाइश की

"ख़ुशख़बरी" दी जाए तो उसके चेहरे की रंगत सियाह पड़ जाती है। इसके बावजूद कि यह उसे ख़ुदा की औलाद क़रार देते हैं।

﴿ أَوَمَن يُنَشَّؤُا فِي الْحِلْيَةِ وَهُوَ فِي الْخِصَامِ غَيْرُ مُبِينٍ ﴿١٨﴾ ﴾

"जो ज़ेवरात में पलती बढ़ती[1] है और झगड़े के समय अपनी बात की अदाएगी में उलझी रहती है।"

विवादित मामलों (मुक़दमात आदि) में "उलझे" रहना वही चीज़ है जिसे ऊपर बयान किया गया है और जिसे सूरह बक़रा में 'तज़िल्ल' (मानसिक घबराहट) की संज्ञा दी गई है। (ताहिरा के नाम ख़ुतूत, पृ० 5 65 : 66)

शब्दों और युक्तियों का कुछ फ़र्क़ ज़रूर है, लेकिन तनिक सोचिए कि मौलाना उसमानी और जनाब परवेज़ ने जो कुछ औरतों की मनोविज्ञान, उसकी भौतिक बनावट के बारे में कहा है और अदालती गवाही और बाहरी मामलों में मर्द के मुक़ाबले में उसकी कमज़ोरी को स्वीकार किया है। क्या फ़ुक़्हाए इस्लाम के इस दृष्टिकोण से भिन्न है या ठीक उसके अनुसार, जिसका स्पष्टीकरण पिछले पृष्ठों में किया गया है?

जब लेन देन और उधार के मामलों में (मौलाना उसमानी के कथनानुसार) औरत की गवाही मर्द की गवाही के आधा है और परवेज़ साहब के कथनानुसार औरत विवादित मामलों (मुक़दमात आदि) में उलझावे या घबराहट का शिकार हो जाने वाली है तो फिर सज़ाओं व क़िसास के मामलों में इस बुनियाद पर अगर अदालती गवाही से औरत को अलग रखा गया है तो इसमें आख़िर औरत का अपमान क्यों? और उलमा, हदीस के हवाले से औरत की बौद्धिक हानि का एतेराफ़ करें तो अपमान लेकिन यही बात परवेज़ साहब डाक्टर हार्डिंग के हवाले से मानें तो एक अटल सत्यता और सर आंखों पर। क्या ख़ूब है :

तुम्हारी ज़ुल्फ़ में पहुंची तो हुस्न कहलाई
वह तीरगी जो मेरे नामाए सियाह में है

---

1. औरत के सजने संवरने के शौक़ का विषय अलग है।

(13)

औरत और क़त्ल ख़ता की दैत?

क़त्ल ख़ता की दैत में भी मर्द और औरत के बीच फ़र्क़ है, लेकिन इस पर बहस करने से पहले क़त्ल ख़ता से संबंधित ज़रूरी मसाइल देख लीजिए। इसके बाद असल मसले पर बात होगी।

क़त्ल ख़ता से संबंधित आयत की टीका

﴿وَمَا كَانَ لِمُؤْمِنٍ أَن يَقْتُلَ مُؤْمِنًا إِلَّا خَطَأً وَمَن قَتَلَ مُؤْمِنًا خَطَأً فَتَحْرِيرُ رَقَبَةٍ مُّؤْمِنَةٍ وَدِيَةٌ مُّسَلَّمَةٌ إِلَىٰ أَهْلِهِ إِلَّا أَن يَصَّدَّقُوا فَإِن كَانَ مِن قَوْمٍ عَدُوٍّ لَّكُمْ وَهُوَ مُؤْمِنٌ فَتَحْرِيرُ رَقَبَةٍ مُّؤْمِنَةٍ وَإِن كَانَ مِن قَوْمٍ بَيْنَكُمْ وَبَيْنَهُم مِّيثَاقٌ فَدِيَةٌ مُّسَلَّمَةٌ إِلَىٰ أَهْلِهِ وَتَحْرِيرُ رَقَبَةٍ مُّؤْمِنَةٍ فَمَن لَّمْ يَجِدْ فَصِيَامُ شَهْرَيْنِ مُتَتَابِعَيْنِ تَوْبَةً مِّنَ اللَّهِ وَكَانَ اللَّهُ عَلِيمًا حَكِيمًا ﴿٩٢﴾﴾

(النساء/٩٢)

"किसी मोमिन का यह काम नहीं कि वह किसी मोमिन को क़त्ल करे, मगर ग़लती से और जो क़त्ल करे किसी मोमिन को ग़लती से आज़ाद करे एक मुसलमान की गर्दन और दैत (ख़ून बहा) अदा करे उसके घर वालों को, मगर यह कि वे माफ़ कर दें। फिर अगर (मरने वाला) ऐसी क़ौम में से हो कि वह तुम्हारे दुश्मन हों (काफ़िर हों) लेकिन मरने वाला स्वयं मुसलमान हो तो (केवल) एक मोमिन गर्दन आज़ाद करना है और अगर वह ऐसी क़ौम में से हो कि तुम्हारे और उनके बीच सन्धि हो तो ख़ून बहा (दैत) अदा करना है उसके घर वालों को और आज़ाद करना है एक मुसलमान गर्दन को और जिसको (ग़ुलाम)

उपलब्ध न हो तो वह निरंतर (बिना छोड़े) दो महीने के रोज़े रखे। अल्लाह से अपने गुनाह क्षमा कराने के लिए और अल्लाह तआला जानने वाला, हिक्मत वाला है।" (निसा : 92)

इस आयत में क़त्ल ख़ता के बारे में दो बातों का हुक्म दिया गया है :

1. एक मुसलमान ग़ुलाम (मर्द या औरत) आज़ाद करना। इसकी ताक़त न हो तो दो महीने के निरंतर रोज़े रखना।
2. मरने वाले के वारिसों को दैत (ख़ून बहा) अदा करना। दैत मरने वाले के वारिस अगर माफ़ कर दें तो माफ़ हो सकती है लेकिन पहली सज़ा जो है वह माफ़ नहीं हो सकती। इसकी पहली शक्ल पर तो अमल अब संभव नहीं कि ग़ुलामी का रिवाज ख़त्म हो गया है। अलबत्ता दूसरी शक्ल दो महीने के रोज़े रखना। इस कफ़्फ़ारे की अब यही एक मात्र शक्ल है।

कुछ लोग (फ़मन लम यजिद) "तो जो न पाए" से यह तात्पर्य ले रहे हैं कि क़त्ल ख़ता के अपराधी के पास अगर दैत की अदाएगी के लिए रक़म नहीं है तो वह केवल दो महीने के रोज़े रख ले। इस सूरत में उनके नज़दीक क़ातिल दैत की अदाएगी का पाबन्द ही नहीं है, लेकिन यह मतलब व मुराद ग़लत है। "फ़मन लम यजिद" का संबंध केवल ग़ुलाम के आज़ाद करने से है और इसकी वैकल्पिक सज़ा दो महीने के रोज़े हैं न कि यह रोज़े दैत के वैकल्पिक हैं।

इसके अलावा आयत मुबारका में मरने वाले की तीन हैसियतें बयान की गई हैं कि जिस मुसलमान को क़त्ल किया गया, इसके वारिस मुसलमान होंगे या काफ़िर। अगर काफ़िर हैं तो वह समझौते (ज़िम्मी) से या बिना समझौते से (हरबी)।

1. वारिस मुसलमान हों तब भी ग़ुलाम आज़ाद करने के साथ दैत

की अदाएगी ज़रूरी है।

2. वारिस ऐसे काफ़िर हों जिनसे मुसलमानों की सन्धि है और उनसे समझौता हो तब भी दैत की अदाएगी ज़रूरी है।

3. वारिस ऐसे काफ़िर हों कि जिनसे मुसलमानों का कोई समझौता नहीं है और यह मरने वाले मुसलमान उन्हीं हरबी काफ़िरों में रह रहे हों तो इस सूरत में केवल ग़ुलाम आज़ाद करना ज़रूरी है। दैत की अदाएगी नहीं की जाएगी।

इसके कई कारण उलमा ने बयान किए हैं :

- एक यह कि उसके वारिस सब काफ़िर हैं और काफ़िर मुसलमान के वारिस नहीं हो सकते।
- दूसरे, यह कि मुसलमानों से लड़ने वाले काफ़िरों को रक़म देना उनकी तसल्ली का कारण होगा।
- तीसरे, मरने वाले मुसलमान की भी यह ग़लती थी कि मुसलमान हो जाने के बावजूद उसने दारुल हरब से हिजरत नहीं की, जबकि ऐसे मुसलमानों को हिजरत का आम हुक्म दे दिया गया था। क़ुरआन करीम ने एक और स्थान पर ऐसे मुसलमानों को ठीक इन्हीं शब्दों में सचेत किया।

﴿وَالَّذِينَ آمَنُوا وَلَمْ يُهَاجِرُوا مَا لَكُم مِّن وَلَايَتِهِم مِّن شَيْءٍ حَتَّىٰ يُهَاجِرُوا﴾

(الانفال/٧٢)

"और वे लोग जो ईमान लाए और हिजरत नहीं की, तुमको उनकी संगत से कुछ काम नहीं जब तक हिजरत न करें।"

इस आयत से भी मालूम होता है कि मुसलमान हो जाने के बावजूद जो मुसलमान हिजरत न करे और दारुल हरब ही में मुसलमानों के दुश्मनों के बीच रहे तो अल्लाह तआला को यह रवैया पसन्द नहीं। इसी वजह से

अल्लाह तआला ने इस सूरत में उसके क़त्ल ख़ता को वह महत्व नहीं दिया जो दूसरे मरने वाले मुसलमानों को दिया। हदीसों में भी कुछ घटनाएं मिलती हैं जिनसे इसी बात की पुष्टि होती है कि दारुल हरब में रहने वाले मुसलमानों को ग़लती से क़त्ल कर दिए जाने की सूरत में दैत नहीं है क्योंकि रसूलुल्लाह सल्ल० ने ऐसी घटनाओं में क़िसास का हुक्म दिया न दैत का। (तफ़्सीर क़ुरतबी, 5/324)

एक ज़रूरी स्पष्टीकरण

कुछ प्राचीन व आधुनिक टीकाकारों ने उल्लिखित हमारी बयान की गई दूसरी सूरत में मरने वाले को काफ़िर क़रार दिया है और यूं वह काफ़िर मुसलमान की दैत में (क़त्ल ख़ता में) बराबरी मानते हैं, लेकिन हमारे विचार में यह राय सही नहीं। क़ुरआन के संदर्भ से तो यही मालूम होता है कि तीनों सूरतें मुसलमान मरने वाले की बयान की जा रही हैं। दूसरी बात यह है कि अगर उल्लिखित सूरत में मरने वाला काफ़िर मुराद होता फिर तो मुसलमान और काफ़िर की दैत में समानता के लिए यह नस पूर्ण होती और इसमें फ़ुक़्हा व इमामों के बीच मतभेद ही न होता जबकि मामला यह है कि काफ़िर की दैत में मतभेद है और उसके बारे में तीन राए हैं :

1. मुसलमान और काफ़िर की दैत बराबर है।
2. काफ़िर की दैत मुसलमान की दैत से आधी है।
3. काफ़िर की दैत मुसलमान की दैत से तिहाई (1/3) है।

अतएव ज़्यादा सही और उचित बात यही है कि उल्लिखित आयत में क़त्ल ख़ता की जो तीन सूरतें बयान हुई हैं वे तीनों मुसलमान मरने वाले की हैं। (विवरण के लिए देखें, अहकामुल क़ुरआन, इब्ने अरबी, 1/477-478)

और यह आयत चूंकि इस मौक़े पर नाज़िल हुई थी जबकि मुसलमानों को हिजरत का आम हुक्म मिल चुका था, इसके अलावा

क्रमवार कुफ़्र व इस्लाम के बीच जंग जारी थी और उन जंगों में कुछ घटनाएं ऐसी भी पेश आई कि मुसलमान काफ़िरों से लड़ने के लिए गए तो वहां मौजूद कुछ मुसलमान भी काफ़िरों के धोखे में ग़लती से मारे गए। अतएव आयत में उन तमाम सूरतों को बयान कर दिया गया जो उस समय पेश आ रही थीं। ये सूरतें अब भी कुछ उन इलाक़ों में पेश आ सकती हैं जहां इस्लाम के आरंभ के से हालात हों।

क़त्ल की क़िस्में

क़त्ल की दो सूरतें हैं, अमदन (जान बूझकर) और ख़तअन (ग़लती से), क़त्ल अम्द में क़िसास (जान के बदले, जान) है या यह कि मरने वाले के वली दैत लेकर या बिना दैत लिए क़ातिल को माफ़ कर दें और क़त्ल ख़ता में क़िसास नहीं है केवल दैत है। क़त्ल ख़ता का मतलब है कि एक व्यक्ति ने हिरन या किसी और परिन्दे का शिकार करना चाहा, लेकिन गोली परिन्दे या जानवर की बजाए किसी इंसान को लग गई और वह मर गया या किसी को हरबी काफ़िर समझकर गोली मारी और वह मर गया। जबकि वह मुसलमान था।

एक तीसरी सूरत क़त्ल शुबह अम्द की भी है लेकिन कुछ इमामों के निकट यह भी क़त्ल ख़ता ही है, इसलिए वह केवल दो ही सूरतें मानते हैं।

क़त्ल ख़ता की दैत भी क़त्ल अम्द की दैत की तरह सौ ऊंट हैं जो पांच क़िस्म के होंगे या फिर बारह हज़ार दिरहम (चांदी) की क़ीमत। अब ऊंट की संख्या तो इतनी घट गई है कि उसके देने की कल्पना ही नहीं की जा सकती, अतः अब केवल चांदी की वह क़ीमत ही है जो उसके वैकल्पिक कुछ हदीसों ही में बतलाई गई है और जिसे हज़रत उमर रज़ि० ने अपने कार्य काल में ऊंट के मंहगे होने की वजह से बढ़ाकर 12 हज़ार दिरहम कर दी थी। (सुनन अबी दाऊद, बाबुदैयात, अध्याय दैत, हदीस : 4542)

जो आरडीनेंस पाकिस्तान में लागू किया गया है उसमें दैत की क़ीमत शायद 10 हज़ार दिरहम के हिसाब से दी गई है। यद्यपि ज़्यादा सही 12 हज़ार दिरहम के बराबर चांदी की क़ीमत के जैसी दैत है, बल्कि उसमें ऊंटों की क़ीमत के हिसाब से और वृद्धि की शरअन गुंजाइश मालूम होती है, क्योंकि असल दैत सौ ऊंट हैं। उलमाए अहले हदीस को इस पर और अधिक सोच विचार करना चाहिए।

मौजूदा आरडीनेंस की रू से दैत की रक़म एक लाख सत्तर हज़ार छः सौ दस रुपये हैं जो तीस हज़ार छः सौ तीस ग्राम चांदी की क़ीमत है। यद्यपि ऊंटों की क़ीमत के हिसाब से यह रक़म लगभग दुगनी होनी चाहिए।

क़त्ल ख़ता में चूंकि क़ातिल की नीयत क़त्ल करने की नहीं होती, इसलिए शरीअत ने उसके साथ ख़ास रियायत बरती है और कहा है कि कफ़्फ़ारा तो वह स्वयं अदा करे (ग़ुलाम आज़ाद करना या दो महीने के निरंतर रोज़े रखना) और दैत की अदाएगी में आक़िला, उसकी मदद करे।

«قَضَى رَسُولُ اللهِ ﷺ بِالدِّيَةِ عَلَى الْعَاقِلَةِ» (سنن ابن ماجه، الديات، باب الدية على العاقلة فإن لم يكن ..... ح: ٢٦٣٣)

एक और हदीस में आता है कि दो औरतें लड़ पड़ीं। एक ने दूसरी औरत को पत्थर मारा जिससे वह मर गई, और उसके पेट का बच्चा भी मर गया। (यह भी चूंकि क़त्ल ख़ता था इसलिए) रसूलुल्लाह सल्ल० ने उस मरने वाली की दैत का ज़िम्मेदार उसकी आक़िला (मददगार बिरादरी) को क़रार दिया। (सहीह बुख़ारी, दैत, अध्याय जनीन मिरअत...हदीस : 2910, सहीह मुस्लिम, क़सामह, अध्याय दैत जनीन...हदीस : 1681)

''आक़िला'' का मतलब

''आक़िला'' अक़्ल से है जिसके शाब्दिक मायना ''रोकने'' के हैं। दैत और अधिक मार धाड़ से रोकती है। इसलिए दैत को भी ''अक़्ल''

कहते हैं और "अक़्ल" (दैत) की अदाएगी करने वाले क़बीले को "आक़िला" कहा जाता है। "अक़्ल" को भी इसलिए "अक़्ल" कहा जाता है कि अक़्ल इंसान को बुरे कामों से रोकती है। ऊंट को जिस रस्सी से बांधा जाता है उसको भी "अक़ाल" कहा जाता है, क्योंकि रस्सी भी ऊंट को बांधे और रोके रखती है।

बहरहाल "आक़िला" का सही मतलब वह क़बीला है जो क़ातिल की तरफ़ से सहयोग के तौर पर दैत की अदाएगी का ज़िम्मेदार है। जितनी अदाएगी क़ातिल कर सकता हो वह करे बाक़ी अदाएगी उसके क़बीला वाले मिलकर करें। रसूलुल्लाह सल्ल० के ज़माना में यही तरीक़ा प्रचलित रहा।

हज़रत उमर रज़ि० ने अपने कार्य काल में दफ़्तरी निज़ाम क़ायम किया और अलग अलग विभाग क़ायम किए। एक विभाग में काम करने वालों के नाम एक रजिस्टर में दर्ज होते, जिसको दीवान कहा जाता था। हज़रत उमर रज़ि० ने उसके साथ यह परिवर्तन भी किया कि आक़िला क़बीला वालों की बजाए दीवान वालों को क़रार दे दिया। (फ़िक़्ह सुन्नत, 2/470-471)

यूं नस्बी संबंध की बजाए एक दीवान से संबंध आपसी सहयोग व भाइचारे की बुनियाद बन गया और एक दीवान से संबंध रखने वाले आपस में एक दूसरे के आक़िला क़रार पाए।

आक़िला की आधुनिक परिभाषा

आजकल भी ख़ानदानी व नस्बी संबंध टूट फूट का शिकार हो चुके हैं, इसलिए एक पेशे से संबंध रखने वाले अपनी अपनी यूनियनें और फेडरेशनें इस अंदाज़ से बना सकते हैं कि वह ज़रूरत पड़ने पर एक दूसरे से सहयोग करें। ख़ासकर ड्राइवरों के लिए यह यूनियनें आक़िला का रोल अदा कर सकती हैं, क्योंकि यही वर्ग आम तौर पर ग़रीब है और उनके

ख़ानदान वाले और बिरादरी के लोग भी सामान्यता ग़रीब ही हैं। इस पृष्ठ भूमि में आक़िला के मायना में जो व्यापकता इस्लामी सैद्धान्तिक कौन्सिल ने पैदा की है। इसकी शरअन गुंजाइश मालूम होती है। इस्लामी सैद्धान्तिक कौन्सिल के मसविदे के असल शब्द निम्न हैं :

29. आक़िला, अगर आरडिनेंस में आक़िला से तात्पर्य किसी गिरोह, व्यक्ति की जमाअत, अनजुमन, इदारा, तन्ज़ीम, कमेटी, कॉरपोरेशन, स्टेबलिशमेंट, विभाग, ट्रेड यूनियन, संगठित क़बीले या बिरादरी के तमाम व्यस्क मर्द और आक़िल सदस्य हैं जिनसे अपराधी या सज़ा पाने वाला व्यक्ति मदद और हिमायत हासिल करता हो या हासिल करने की उम्मीद रखता हो।

व्याख्या : आक़िला का निर्धारण, अदालत हर मुक़दमे के तथ्यों और हालात का ध्यान रखते हुए करेगी। और उससे पहले सज़ा के बयान के दर्जे है।

"24 - जल्दबाज़ या लापरवाही से गाड़ी चलाकर अपराध करने वाले की सज़ा :

जो कोई जल्दबाज़ी या लापरवाही से गाड़ी चलाकर क़त्ल ख़ता का अपराधी होगा, उसे मात्र क़ैद या सपरिश्रम क़ैद जिसकी अवधि दस साल तक हो सकती है या जुर्माने की सज़ा दी जाएगी या दोनों सज़ाएं दी जाएंगी और वह दैत का हक़दार होगा जो उसकी आक़िला अदा करेगी।"

इसके विपरीत मौजूदा आरडिनेंस में क़त्ल ख़ता की सज़ा के बारे में केवल इतना कहा गया है "जो कोई क़त्ल ख़ता का अपराध करे, दैत का हक़दार होगा।"

और ड्राइवरों के लिए ख़ासकर यह कहा गया है : "जो कोई तेज़ या ग़फ़लत से गाड़ी चलाने के कारण क़त्ल ख़ता का अपराधी हुआ, उसे मुक़दमे के तथ्यों और हालात को सामने रखते हुए, दैत के अलावा किसी

भी क़िस्म की सज़ाए क़ैद इतनी अवधि के लिए दी जाएगी जो दस साल तक हो सकती है।"

जिन सम्पन्न लोगों ने प्राइवेट गाड़ियां और कारें आदि रखी हुई हैं, उनके और उनके ख़ानदान वालों की तरफ़ से क़त्ल ख़ता की सूरत में दैत की अदाएगी कोई मुश्किल मसला नहीं है, वे रसूलुल्लाह सल्ल० के कार्य काल की तरह आक़िला के असल मतलब पर अमल करने की क़ुदरत रखते हैं, इसलिए उनके लिए बेहतर है कि वे उसके अनुसार अमल करें। वर्ना वे भी उल्लिखित अंदाज़ की संस्था क़ायम कर सकते हैं जो ज़रूरत पड़ने पर उनके लिए आक़िला का काम अंजाम दे।

इसी तरह जिस क़ातिल का कोई आक़िला न हो, न ख़ानदान न कोई यूनियन व संस्था आदि, उसकी आक़िला हुकूमत होगी और हुकूमत की तरफ़ से मरने वाले के वारिसों को दैत की अदाएगी की व्यवस्था करनी चाहिए। अर्थात मरने वाले के ख़ानदान की मदद करने का आयोजन हर हाल में होना चाहिए, इसमें लापरवाही व सुस्ती बिल्कुल नहीं होना चाहिए। इसके अलावा कुछ सूरतें ऐसी भी हो सकती हैं कि दुर्घटना में ड्राइवरों का बिल्कुल कोई क़ुसूर ही न हो और उसे क़त्ल ख़ता का अपराधी क़रार देना भी मुश्किल हो, तो ऐसी सूरत में भी मरने वालों की दैत हुकूमत ही को अदा करनी चाहिए।

दैत की अदाएगी, इंशोरेन्स कम्पनियों की ज़िम्मेदारी नहीं

कुछ अख़बारी बयानात से मालूम होता है कि हुकूमत शायद दैत की अदाएगी का इंशोरेन्स कम्पनियों को ज़िम्मेदार बनाना चाहती है। लेकिन यह सोच सही नहीं।

1. इंशोरेन्स की सारी व्यवस्था सूद पर आधारित है, इसलिए सूदी कम्पनियों के इसे हवाले कर देना बिल्कुल ग़लत होगा और यह मख़मल में टाट का पेबन्द लगाने जैसा है।

2. इस तरह आक़िला की अवधारणा भी ख़त्म हो जाएगी। आक़िला के प्राचीन भावार्थ की रू से तो क़ातिल समेत पूरा ख़ानदान ज़िम्मेदार है और उसमें हिक्मत यही है कि पूरा ख़ानदान और क़बीला अपराधी को अपराध से दूर रखने की कोशिश करे, ताकि वह अचानक आफ़त की मार से बचा रहे और आक़िला के आधुनिक भावार्थ (यूनियन आदि) की रू से भी क़ातिल स्वयं भी उस संस्था का सदस्य है जो इसकी आक़िला है और इस हिसाब से वह भी इस बोझ में शरीक होगा जो उसकी पूरी यूनियन पर (आक़िला के तौर पर) पड़ेगा। यूं आक़िला के प्राचीन और आधुनिक दोनों मतलबों में ड्राइवरों को आक़िला से बाहर नहीं किया गया, बल्कि वह उसमें शामिल रहता है और शामिल रहना चाहिए। जबकि इंशोरेन्स की सूरत में शायद ड्राइवर हर तरह से हर प्रकार के बोझ से अलग होगा और प्रीमियम की अदाएगी बस मालिकान के ज़िम्मे होगी और जब ड्राइवर किसी हिसाब से भी इस बोझ में शरीक नहीं होगा तो वह तेज़ रफ़्तारी और ओवर टेकिंग (Over Taking) से कब बच पाएगा जो दुर्घटनाओं का सबसे ज़्यादा कारण है।

दैत की अदाएगी तुरन्त की जाए

फ़ुक़हा ने क़त्ल ख़ता में दैत की अदाएगी के लिए तीन साल की छूट दी है, बल्कि हनफ़ी फ़ुक़हा ने तो क़त्ल अम्द तक में भी दैत पर समझौता हो जाने की सूरत में तीन साल की छूट दी है। लेकिन रसूलुल्लाह सल्ल० के अमल से इस छूट की हिमायत नहीं मिलती। नबी सल्ल० ने तुरन्त अदाएगी का आयोजन कराया है। इसलिए बेहतर यही है कि दैत की अदाएगी में अकारण देरी न की जाए और उसकी तत्काल अदाएगी होनी चाहिए। कुछ अपराधी सूरतों में इसकी गुंजाइश निकाली जा सकती है, लेकिन आम उसूल तुरन्त अदाएगी ही का होना चाहिए।

औरत की दैत का मसला

दैत के आदेश व मसाइल में औरत की दैत का मसला, जो शरअी दलीलों की रू से क़त्ल ख़ता में मर्द की दैत से आधा है, इस पर भी सन्देह पैदा किए जाते हैं। इसलिए उनके निवारण के लिए थोड़ी अवधि ज़रूरी है। कुछ साल पहले एक आदर्णीय बुज़ुर्ग ने भी इस पर टिप्पणी की थी और औरत की आधी दैत पर अपना सन्देह व्यक्त किया था। हम उचित समझते हैं कि इसका अवलोकन करें, इस बारे में आधी दैत के तर्कों और उसकी नीति व आवश्यकता का बयान स्वयं आ जाएगा।

औरत की आधी दैत और उसकी नीति व आवश्यकता

यह लेख 13 अक्टूबर 1984 ई० के "नवाए वक़्त" लाहौर में प्रकाशित हुआ था। लेकिन इससे पहले कि मरहूम के बयान पर कुछ लिखा जाए मसले की सत्यता बयान कर देना उचित मालूम होता है।

मसले की सत्यता : सार में मसले की सत्यता यह है कि ग़लती के तौर पर अगर कोई औरत क़त्ल हो जाए तो उसकी दैत मर्द की दैत से आधी होगी। क़त्ल अम्द का हुक्म इससे भिन्न है और इसमें मर्द व औरत के बीच कोई विभेद नहीं है। अर्थात केवल एक सूरत (क़त्ल ख़ता) में औरत की दैत मर्द की दैत से आधी होगी।

शरअी दलीलें : क़त्ल ख़ता की दैत में मर्द व औरत के बीच यह विभेद क्यों है? इसकी वजह यह है :

1. इस सिलसिले में सबसे बड़ी दलील तो वह हदीस है जो सुनन नसाई आदि में आती है जिसका मतलब यह है कि एक तिहाई तक मर्द व औरत की दैत बराबर है और उसके बाद औरत की दैत आधी है। सनदन यह रिवायत अधिकांश मुहद्दिसीन के निकट बिल्कुल सही है। (देखिए सुनन नसाई, किताबुल क़ूद, अध्याय अक़्ल मिरअत)

शैख़ अलबानी रह० ने इस हदीस को ज़ईफ़ क़रार दिया है, लेकिन दूसरे आसार सहाबा की वजह से, जो सहीह सनद से साबित हैं, औरत की आधी दैत का स्वीकरण किया है। (देखिए : इरवाउल ग़लील 7/307)

2. सुनन कुबरा बैहेक़ी की दूसरी रिवायत है जिसमें आता है कि औरत की दैत मर्द की दैत का आधा है। (किताबुल दैत, अध्याय दैत मिरअत, पृ० : 95, भाग : 8)

इस रिवायत में थोड़ी कमज़ोरी है। लेकिन दो कारणों से कमज़ोरी के बावजूद यह हदीस विवेचन योग्य है। एक तो इस वजह से कि मसले की बुनियाद केवल यह हदीस ही नहीं है, बल्कि असल बुनियाद तो वह हदीस है जो सुनन नसाई में आती है। इसी तरह हज़रत अम्र बिन हज़्म की रिवायत में भी कुछ फ़ुक़हा के कथनानुसार इसका ज़िक्र है और अम्र बिन हज़्म की इस रिवायत को हदीस के विद्वानों ने सही क़रार दिया है। (अत्तालीक़ात सल्फ़िया अला सुनन नसाई, 2/247)

और उसूले हदीस के अनुसार वह ज़ईफ़ रिवायत स्वीकार्य योग्य होती है जिससे किसी सही हदीस की पुष्टि होती हो। मुहद्दिसीन ऐसी रिवायत को सनद के तौर पर और गवाही के लिए ज़िक्र करते हैं।

दूसरी वजह यह है कि जिस रिवायत को उम्मत के उलमा व फ़ुक़्हा का विश्वास हासिल हो जाए वह रिवायत भी विवेचन योग्य होती है उसके ज़ौफ़ का ज़ोर विश्वास की वजह से हो जाता है।

3. तीसरे, आसार सहाबा और चारों ख़लीफ़ों रज़ि० के फ़ैसले से भी इसकी हिमायत होती है।

4. चौथे, इस मसले पर उम्मते मुस्लिमा के उलमा व फ़ुक़्हा की सहमति चली आ रही है और इज्माअ उम्मत भी दीन में हुज्जत हैं केवल दो लोगों (अबूबक्र असम और इब्ने उलिया) का मतभेद मंक़ूल है। जिसे फ़ुक़्हा ने महत्वहीन क़रार दिया है। (देखिए : अलमुगनी इब्ने क़दामा, 9/532)

ये दो लोग कौन हैं? इमाम इब्ने क़दामा मुक़द्दसी ने अलमुगनी में केवल असम और इब्ने उलिया नाम लिखा है। असम से अगर मुराद अबूबक्र असम है जैसा कि ज़्यादा सही यही नाम मालूम होता है। क्योंकि असम के नाम से यही प्रसिद्ध हैं। जैसा कि हाफ़िज़ ज़ेहबी रह० ने "सीर आलामुन्नबला" में "अलअसम" के शीर्षक के तहत अबूबक्र अलअसम

ही का अनुवाद दर्ज किया है और उसे "शैख़ मोतज़िला" कहा है। (9/402) और लिसानुल मीज़ान में इसका नाम अब्दुर्रहमान बिन कीसान बतलाया गया है और उसे मोतज़ली और एक विचित्र टीका का लेखक कहा है। (3/427)

इब्ने उलिया के नाम से दो लोग प्रसिद्ध हैं। इस्माईल बिन उलिया और इबराहीम बिन उलिया। क्रमशः ये दोनों बाप बेटे हैं। लेकिन बाप (पहले) की गिनती मुहद्दिसीन में होती है। अलबत्ता उनके बेटे इबराहीम बिन उलिया का अनुवादकों ने अच्छे अंदाज़ में ज़िक्र किया है। इसके अलावा इसे अबूबक्र अलअसम के गिलमान (गुलाम और शिष्य) में से क़रार दिया है। इमाम शाफ़ई रह० ने इसके बारे में यहां तक कहा है कि "स्वयं भी गुमराह और दूसरों को भी गुमराह करने वाला।" (देखिए : तारीख़ बगदाद लिलख़तीब, 6/20-22)

हिक्मत व आवश्यकता : ये तो हैं इस बहस के शरई तर्क। अब इसकी नीति व आवश्यकता भी देख ली जाए।

जहां तक इंसानी गर्व व सम्मान का मामला है। इस्लाम में मर्द व औरत के बीच कोई विभेद नहीं है। इस्लाम ही वह पहला मज़हब है जिसने इंसानी समाज में औरत की इज़्ज़त और उसके सम्मान व मन्सब की रक्षा और उसके महत्व को माना है। (जिसका विवरण मुक़दमा किताब में गुज़र चुका है) लेकिन इसके साथ यह घटना भी है कि इस्लाम उस मर्द औरत की समानता का मानने वाला नहीं है। जो इस समय पश्चिम में आम है। इसी लिए औरतों के सम्मान का अर्थ दोनों जगह समान नहीं है। पश्चिम के नज़दीक जो चीज़ भी ठीक ठीक औरत का सम्मान है इस्लाम के निकट वह औरत का अनादर है। इसी तरह इस्लाम में औरत के सम्मान के लिए जो सीमाएं व नियम बनाए गए हैं, हो सकता है वह पश्चिम के निकट औरत के साथ अत्याचार का कारण हों।

इस्लाम में औरत के लिए परदा अत्यन्त ज़रूरी है। मर्द औरत के

खुले मेल मिलाप की इस्लाम में कोई गुंजाइश नहीं। पश्चिमी सोच इस्लाम के इस निर्देश पर नाक भौं चढ़ाता है और उसे (अल्लाह अपनी पनाह में रखे) औरत का अनादर ठहराता है, लेकिन इस्लाम की नज़र में यह औरत का अनादर नहीं, इसका ठीक ठीक सम्मान है और बेपरदगी में, जिसे पश्चिमी सोच औरत का सम्मान ठहराता है, औरत का अनादर व तुच्छता है।

इसी तरह इस्लाम ने मर्द व औरत की विभिन्न प्राकृतिक क्षमताओं की बिना पर दोनों का कार्यक्षेत्र भी भिन्न भिन्न रखा है। मर्द को कमाने ज़िम्मेदारियों का पाबन्द बनाया है और औरत को इस कमाने की पाबन्दी से आज़ाद रखा है। यह केवल मर्द की ज़िम्मेदारी है कि वह घर से बाहर मेहनत मज़दूरी करे, कारख़ानों और दफ़्तरों में नौकरी करे और काम काज की कोशिशों में हिस्सा ले और औरत घर की चार दीवारी के अंदर घरेलू मामलों के काम अंजाम दे। यह अलग अलग कार्यक्षेत्र उन प्राकृतिक क्षमताओं के अनुसार है जिनकी वजह से मर्द व औरत की रचना हुई है और इसी में उनकी इज़्ज़त व सम्मान है।

इसी बुनियाद पर मीरास में औरत का हिस्सा मर्द के मुक़ाबले में आधा है, क्योंकि कमाने के लिए मर्द को माल व दौलत की जितनी ज़रूरत है औरत को नहीं। इस्लाम का यह उसूल क़यामत तक के लिए है। इसमें परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं। अब चाहे मामला कितना ही विपरीत हो जाए और औरतें मर्दों के साथ साथ दौड़ में चाहे कितनी ही सरगर्मी से हिस्सा लें और कारख़ाने और दफ़्तर चाहे औरतों के दम क़दम से कितने ही मनोरंजन स्थल हो जाएं, लेकिन मीरास में औरत का हिस्सा फिर भी मर्द के हिस्से से आधा ही रहेगा, क्योंकि आर्थिक सरगर्मियों में औरतों की (बतौर उसूल) शिरकत ही सिरे से ग़लत है और इस्लाम के ख़िलाफ़ है (कुछ व्यक्तिगत सूरतों में मजबूरी के तौर पर औरतों की नौकरियां अलग बात है जिसकी गुंजाइश सीमित क्षेत्र में मौजूद है)

औरत की आधी दैत में भी वही कारण है जो मीरास के आधे हिस्से में है अर्थात चूंकि मर्द के क़त्ल किए जाने की सूरत में एक पूरा ख़ानदान अपने कफ़ील से महरूम हो जाता है, इसलिए ख़ानदान के भरण पोषण के नियम से उसकी पूरी दैत ज़रूरी है जबकि औरत के क़त्ल किए जाने की सूरत में ऐसी आर्थिक मुश्किल पेश नहीं आती। इसलिए उसकी आधी दैत बिल्कुल अनुचित नहीं है। दूसरे शब्दों में आधी दैत के पीछे कदापि यह भावना मौजूद नहीं है कि औरत तुच्छ है या वह आधी इंसान है। इसलिए उसकी दैत भी आधी है, बल्कि उसमें वही कारण या नीति व आवश्यकता पोशीदा है जो मीरास में पाई जाती है जिसमें औरत की तुच्छता का कोई अवसर नहीं है"।

मरहूम बुज़ुर्ग की दलीलों का विशलेषण : मरहूम बुज़ुर्ग ने फ़रमाया है कि औरत भी पूरी इंसान है। इसलिए उसकी दैत भी पूरी होनी चाहिए। आधी नहीं हो सकती, लेकिन मसला पूरे इंसान या आधे इंसान का सिरे से है ही नहीं, क्योंकि वह "जान" का बदला तो है नहीं, बल्कि इस मुआवज़े का है जो आक़िला ने वारिसों को अदा करना है। आधी दैत के डांडे औरत की मानवता से मिलाना एक तो ग़लत विवाद है। दूसरे, भावुक सोच है जिससे अभिप्राय औरतों की हिमायत हासिल करना है और तीसरे, अगर "पूरा इंसान" वाली दलील दैत के मसले में कोई भलाई रखती है तो इस "दलील" की रू से तो औरत का हिस्सा मीरास भी मर्द के बराबर ही होना चाहिए न कि आधा। क्या इस "दलील" को सही मान लेने के बाद औरत की आधी मीरास का कोई औचित्य बाक़ी रह सकता है?

2. दूसरी बात मौलाना ने यह फ़रमाई है कि अम्र बिन हज़्म के माध्यम से मुहद्दिदसीन तक पहुंचने वाली हदीस सहीह नहीं है। यह भी विचार्णीय है, उलमा मुहक़्क़िक़ीन ने इस सनद की तहक़ीक़ करके उसे सही क़रार दिया है। (देखिए : मिस्री फ़ाज़िल अहमद शाकिर की तहक़ीक़ बर हाशिया "अलमुहल्ला" 1/82, 5, 214, 6/36, 61)

फिर भी यह बात ज़रूर है कि कुछ शाफ़ई और हंबली फ़ुक़्हा ने अम्र बिन हज़्म की रिवायत के हवाले से जो यह लिखा है कि "औरत की दैत मर्द की दैत से आधी है" हदीस की कुछ विशेष किताबों में हज़रत अम्र बिन हज़्म की रिवायत के किसी तरीक़े में ये शब्द मौजूद नहीं हैं। लेकिन आधी दैत के मानने वालों का विवेचन का आधार यह टुकड़ा नहीं, बल्कि सुनन नसाई की वह सहीह रिवायत है जो लेख के आरंभ में नक़ल की जा चुकी है। दूसरी सुनन कुबरा बैहेक़ी में, हज़रत मुआज़ बिन जबल से मरवी हदीस है। तीसरे चारों ख़ुलीफ़ों रज़ि० के फ़ैसले और आसारे सहाबा और चौथे नम्बर पर फ़ुक़्हाए उम्मत का इज्माअ है। इसलिए अम्र बिन हज़्म की रिवायत में आधी दैत वाला टुकड़ा अगर मौजूदा हदीस की किताबों में नहीं मिलता तो इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

3. तीसरी बात मरहूम ने यह फ़रमाई है कि हदीस रसूल से क़ुरआन के सामान्य में प्रमुखता उस समय जाइज़ है जबकि ख़ास हुक्म में इस आम आयत से बढ़कर ज़्यादा तत्वदर्शिता, ज़्यादा ज़रूरत और ज़्यादा सूझ बूझ पाई जाए। लेकिन इस सिलसिले में पहला सवाल तो यह है कि यह उसूल किसने बयान किया है? और उसकी बुनियाद क्या है? दूसरा सवाल यह है कि गढ़ी हुई तत्वदर्शिता व ज़रूरत की बुनियाद पर अगर क़ुरआन के आम नियमों में प्रमुखता को जाइज़ मान लिया गया तो उससे क़ुरआन के आदेशों में परिवर्तन का न रुकने वाला सिलसिला शुरू नहीं हो जाएगा? इसलिए हमारे विचार में क़ुरआन के आम नियमों की तख़्सीस प्रमुखता के लिए शरई दलीलें ज़रूरी हैं। अगर शरई दलीलों से क़ुरआन के किसी नियम की प्रमुखता, किसी सार का विवरण और किसी इतलाक़ की बन्दिश होती है तो वह माने जाने योग्य है। वहां तत्वदर्शिता व ज़रूरत की कमी बेशी का विशलेषण तो अलग, सिरे से तत्वदर्शिता व ज़रूरत ही समझ में न आए, तब भी शरई दलीलों पर आधारित प्रमुखता के इंकार की गुंजाइश नहीं है और शरई दलीलों में सबसे अहम शरई दलील

हदीस नबवी सल्ल० है। हदीस नबवी से ख़ासकर जबकि उसके साथ आसारे सहाबा और इज्माअ उम्मत भी हो। सामान्यता क़ुरआन की प्रमुखता बिल्कुल सही है।

असल में सामान्यता क़ुरआन की प्रमुखता का मसला सदियों से क़दमों के डगमगाने का कारण चला आ रहा है और हमेशा लोगों ने उसे अपनी मानसिक कल्पना या फ़िक़्ही पक्षपात की रौशनी में देखा है और इस सारे उसूल को हमेशा नज़रअंदाज़ किया है जो मुहद्दिसीन की सोच पर आधारित है। जिसका स्पष्टीकरण अभी किया गया है। किसी ने अपनी फ़िक़्ही जड़ता को बरक़रार रखने के लिए कहा कि ख़बर वाहिद से सामान्य क़ुरआन की प्रमुखता जाइज़ नहीं, लेकिन कोई अपनी ही फ़िक़्ही ज़रूरत पेश आई तो हदीस ज़ईफ़ तक से क़ुरआनी अमूम की तख़्सीस कर डाली। किसी ने अपनी मानसिक कल्पना के स्वीकरण के जोश में ख़बर मुतवातिर को भी ख़बर वाहिद मनवाना चाहा, ताकि ख़बर मुतवातिर से प्रमाणित इस क़ुरआनी की प्रमुखता का इंकार किया जा सके। जो इसकी मानसिक कल्पना के ख़िलाफ़ है। जैसा कि हद रजम के बारे में कुछ "तदब्बुर पसन्द" टीकाकारों ने किया है। इसी तरह आधी दैत की तख़्सीस से जान छुड़ाने के लिए अब एक नया फ़लसफ़ा यह तराशा गया है कि पहले हिक्मत व मस्लेहत की पैमाइश की जाए और फिर देखा जाए कि हिक्मत व मस्लेहत तख़्सीस में ज़्यादा है या तामीम में? लेकिन अगर इस उसूल की सच्चाई मान ली गई, तो फिर बात आधी दैत तक ही सीमित नहीं रहेगी बल्कि उसकी पकड़ में बहुत सी क़ुरआनी आयत भी आ जाएंगी।

4. आख़िर में मौलाना ने उलमाए किराम से अपील की है कि वे औरतों के बारे में "हरफ़ियत पसन्दी" से अलग होकर औरतों के अधिकार व फ़राइज़ के मसले को विकसित इंसानी बुनियादों पर हल करें। वर्ना ख़तरा है कि उनके तौर तरीक़ों से औरतों के दिलों में इस्लाम

के बारे में भ्रम व सन्देह पैदा हो जाएंगे। मौलाना का यह बयान लेख के ग़लत होने का दर्पण है। इसमें :

एक : उलमाए किराम को ज्ञान व सूझ बूझ से वंचित और हिक्मत व बुद्धि से ख़ाली बताया गया है।

दूसरा : औरतों के अधिकारों व फ़राइज़ को समाधान होने योग्य बतलाया गया है।

तीसरा : हरफ़ियत पसन्दी से अलग होकर सोचने की दावत देकर शरओ आदेशों में परिवर्तन करने की गुंजाइश निकाली गई है।

चौथा : औरतों के अंदर ग़लत भावना के पनपने कोशिश की गई है।

हमारे विचार में ये सब बातें मौलाना के इल्मी मक़ाम से परे हैं। काश वह ऐसी बातें करने से पहले सोच लेते। कुछ उलमा के ज्ञान व सूझ बूझ को तो निशाना बनाया जा सकता है, उनको हिक्मत व बुद्धि से ख़ाली भी साबित किया जा सकता है लेकिन जहां मसला इज्माअ उम्मत का हो अर्थात अल्पसंख्यक व बहुसंख्यक से हटकर पूरी उम्मत के उलमा व फ़ुक़्हा का हो, वहां यह बहस जचती नहीं। यहां पूरी उम्मत के फ़ुक़्हा को बुद्धिविहीन समझने की बजाए अगर आजकल के कुछ मुजतहिदों की बुद्धि ही को ध्यान देने योग्य न समझा जाए तो ज़्यादा बेहतर और बेहतर है, क्योंकि नबी सल्ल० की हदीस है :

«إِنَّ اللهَ لَا يَجْمَعُ أُمَّتِي عَلَى ضَلَالَةٍ»(الجامع الترمذي، الفتن، باب ماجاء في لزوم الجماعة، ح:٢١٦٧)

"मेरी उम्मत को अल्लाह तआला किसी गुमराही पर जमा नहीं करेगा।"

औरत के अधिकार व फ़राइज़ भी आज से चौदह सौ साल पहले निर्धारित कर दिए गए हैं और आज भी जब तक औरत को उन अधिकार व फ़राइज़ का पाबन्द नहीं बनाया जाएगा, सुधार की कोई सूरत संभव

नहीं। इसलिए मसला औरत के अधिकार व फ़राइज़ का हल करना नहीं है बल्कि इसे उसके फ़राइज़ का पाबन्द बनाना और उसके अनुसार अमल कराना है।

3. हर्फ़ियत पसन्दी से अलग होकर सोचने की दावत देना बहुत बड़ी गुमराही का रास्ता है। ऐसे ही लोगों ने यहां तक कह दिया है कि औरत को आधी मीरास की बजाए मर्द के समान हिस्सा मिलना चाहिए। ऐसे "इज्तिहाद" के मुक़ाबले वह "हर्फ़ियत पसन्दी" प्रशंसनीय है कि जिसमें शरअी आदेशों से मुंह न मोड़ा हो।

4. जहां तक इस ख़तरे की बात है कि औरत की आधी दैत पर आग्रह करने की वजह से औरतों के अंदर इस्लाम के ख़िलाफ़ सन्देह व भ्रम पैदा हो जाएंगे, तो यह बात भी ग़लत है क्योंकि चौदह सौ साल से इस्लाम में औरत का हिस्सा मीरास मर्द के हिस्सा मीरास से आधा चला आ रहा है। आधी दैत में तो सिरे से औरत के साथ कोई अन्याय ही नहीं है। ग़लती से औरत के क़त्ल कर दिए जाने की सूरत में जो दैत वारिसों को मिलेगी, वह उसके मां बाप, भाई या पति आदि ही होंगे। औरत की इसमें क्या हानि है? या इसके अनादर का इसमें क्या पहलू है? अगर औरतों के अंदर शक व सन्देह पैदा हो सकते हैं, तो मीरास के मसले की वजह से हो सकते हैं। मसला दैत की वजह से नहीं। और अल्लाह का शुक्र है कि मुसलमान औरत के अंदर मसला मीरास की वजह से आज तक इस्लाम के ख़िलाफ़ भ्रम व सन्देह पैदा नहीं हुए। क्योंकि वह समझती है कि इसमें जो तत्वदर्शिता व ज़रूरत है वह बिल्कुल सही है। अब अगर किसी "अंग्रेज़ी जानने वाली" औरत के अंदर ऐसे भ्रम पैदा होते हैं, तो जो जवाब मसला मीरास के सिलसिले में दिया जाएगा आधी दैत के सिलसिले में पैदा होने वाले सन्देह का जवाब भी वही होगा।

एक कठिनाई का हल : मौलाना के विचारों पर हमने ज़रूरी नक़ल कर दिया है लेकिन विगत बहस से यह शंका पैदा हो सकती है कि

हमने आधी दैत की ज़रूरत यह बयान की है कि चूंकि खान पान की ज़िम्मेदारी मर्द पर है, औरत पर नहीं, इसलिए औरत के क़त्ल किए जाने की सूरत में ख़ानदान अपने ज़िम्मेदार से महरूम नहीं होता, लेकिन आजकल औरतें भी मर्दों की तरह कमाने खाने की सरगर्मियों में बढ़ चढ़कर हिस्सा ले रही हैं। इसलिए आधी दैत वाली हिक्मत में कोई वज़न बाक़ी नहीं रहता, अतः अब औरत की दैत भी मर्द की दैत के बराबर होनी चाहिए।

एक : इस सिलसिले में पहली बिनती तो यह है कि औरतों का मर्दों के साथ साथ कमाने की कोशिशों में शरीक होना बिल्कुल इस्लाम के ख़िलाफ़ है। इस्लाम इसको कदापि पसन्द नहीं करता। इसलिए उस एक इस्लाम के विरुद्ध काम की वजह से इस्लाम, अपने एक सर्वमान्य उसूल में परिवर्तन क्योंकर पसन्द कर सकता है?

दूसरा : औरतों की आधी संख्या नौकरी शौक़ के तौर पर करती है। वह अपनी आर्थिक ज़िम्मेदारियों की वजह से नौकरी करने पर मजबूर नहीं है। यही वजह है कि नौकरी करने वाली औरतों की अधिसंख्या ऊंची सोसाइटी से संबंध रखती है। जिसके पास दौलत की पहले ही रेल पेल है और जीवन के साधनों की अधिकता है। उन औरतों की आय ख़ानदान की किफ़ालत नहीं करतीं, बल्कि उनकी आमदनी का बड़ा हिस्सा उनके नित नए फैशनों, बहुमूल्य कपड़ों, साज सज्जा व मेकअप के सामानों और इसी प्रकार के अल्लों तल्लों पर ख़र्च होता है और ये सारी चीज़ें समाज में बिगाड़ का कारण हैं। इस्लाम इसका साहस क्योंकर बढ़ा सकता है?

तीसरा : औरतों का एक हिस्सा ज़रूर ऐसा है कि वास्तव में वह आर्थिक मजबूरियों की वजह से नौकरी करता है और वे औरतें अपने ख़ानदान की कफ़ील हैं। ऐसी औरतों के बारे में क़ाज़ी को यह इख़्तियार दिया जा सकता है कि वह आधी दैत के अलावा (हालात व ज़रूरत के अनुसार) और अधिक रक़म जुर्माना के तौर पर क़ातिल से वसूल करके

उस ख़ानदान की मदद करे जो अपने कफ़ील से महरूम हो गया है, लेकिन इस्लाम का यह उसूल अपनी जगह परिवर्तन योग्य नहीं है कि चूंकि औरत आर्थिक ज़िम्मेदारियों से आज़ाद है इसलिए मीरास और दैत में वह मर्द के बराबर नहीं और इस्लाम का यह उसूल औरत की तुच्छता पर आधारित नहीं, बल्कि इस हिक्मत व मस्लेहत पर आधारित है जिसका स्पष्टीकरण पिछली पंक्तियों में किया गया है।

उलमा किराम के बारे में एक ग़लत राय

इसके अलावा उलमा किराम को औरतों से कोई बैर नहीं है कि उनके बारे में यह राय सही हो कि वह औरतों के सामाजिक दर्जे को घटाना चाहते हैं, बल्कि सही यह है कि जो लोग औरतों को मर्दों के साथ में लाना चाहते हैं और पूर्ण समानता के मानने वाले हैं। इसके बारे में उलमा किराम पूरी निष्ठा और दर्दमन्दी से यह समझते हैं कि यह रास्ता पूरी तरह इस्लाम के ख़िलाफ़ ही नहीं, बल्कि औरत की उस महानता व शराफ़त के भी विरुद्ध है जो इस्लाम की रू से उसे हासिल है। इस्लाम ने औरत को घर की मलिका बनाया है। पश्चिमी सोच ने इसे कमाई का कलपुर्ज़ा बना दिया है। इस्लाम ने औरत को चिराग़ ख़ाना बनाया है। पश्चिम ने इसे महफ़िल की शमा बना दिया है। इस्लाम ने औरत को केवल पति का सेवक बनाया है, लेकिन पश्चिम ने इसे "एयर होस्टेस" की सूरत में "रिसेप्शन गर्ल" की सूरत में "मॉडल गर्ल" की सूरत में और "एक्ट्रेस" की सूरत में हर वासना वाले का सेवक बना दिया है।

उलमा के निकट औरत की इज़्ज़त घर की मलिका, चिराग़ ख़ाना और केवल पति की सेवक होने की सूरत ही में है और औरत आर्थिक दौड़ में जिस राह पर चल निकली है, वह कदापि उसकी इज़्ज़त का रास्ता नहीं, बल्कि उसमें उसकी तुच्छता ही नहीं इस्लाम से एक तरह की बग़ावत भी है। उलमाए किराम औरतों के इस बाग़ियाना रुझान और अप्राकृतिक कार्य प्रणाली की हिमायत क्योंकर कर सकते हैं?

(14)

औरत और विरासत का मसला?

मुसलमान देशों में जब तक इस्लाम की हुकूमत क़ायम रही वहां कभी औरतों के अधिकारों का मसला नहीं उठा, क्योंकि मुसलमान इस्लाम की सर्वकालिक शिक्षाओं और उनकी सच्चाई पर पूरा यक़ीन रखते थे और हुकूमत की व्यवस्था इस्लामी उसूलों पर थी। जिसमें मर्द व औरत के अलग अलग कार्यक्षेत्र का निर्धारण था। जैसा कि इस्लामी शिक्षाओं का तक़ाज़ा है अतएव इस्लामी शासन में औरतों का कार्यक्षेत्र घर की चार दीवारी था, वह उस दायरे में रहकर घर के काम काज अंजाम देतीं, बच्चों की देखभाल और उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण का आयोजन करतीं और पति की सेवा व आज्ञापालन करतीं। मर्द, घर की उन ज़िम्मेदारियों से अलग होता और पूरी एकाग्रता के साथ बाहरी कामों में व्यस्त रहता। खाने कमाने, कारोबार, जिहाद अन्य कामों आदि सारे मामले मर्द के सुपुर्द थे। यूं ज़िंदगी की गाड़ी उन दोनों पहियों से बड़ी अच्छी तरह चल रही थी, क्योंकि दोनों का वजूद इंसानी ज़िंदगी के लिए, पूरक की हैसियत रखता है। दोनों की समान कोशिशों का इंसानियत की प्रगति में बराबर का हिस्सा है। इस मामले में कोई भी किसी से कम नहीं है। न इंसानी व शहरी अधिकारों में और न शासन की प्रगति में। लेकिन दोनों के बीच प्राकृतिक क्षमताओं में जो फ़र्क़ व दूरी है, जो एक सर्वमान्य चीज़ है, इसके आगे विभाजन था, जिसको दोनों ने क़ुबूल किया हुआ और अपनाया हुआ था। यूं मर्द व औरत एक दूसरे के साथी थे, शत्रु नहीं एक दूसरे के सहयोगी थे, बैरी नहीं, एक दूसरे के हमदर्द थे, आपसी दुश्मन नहीं।

यह विभाजन चूंकि प्राकृतिक और अल्लाह के आदेशानुसार था,

इसलिए इसकी वजह से अंदरूनी तौर पर भी सुख शान्ति थी और समाज सामाजिक विगाड़ से बहुत हद तक सुरक्षित भी। इसके अलावा बाहरी तौर पर भी मुसलमानों का आतंक और दबदबा क़ायम था, दुश्मन को मुसलमानों की तरफ़ आंख उठाकर देखने का साहस तक न था मानो इस विभाजन अर्थात औरत का अपने कार्यक्षेत्र घर तक सीमित रहने से देश की आन्तरिक नीतियों में कोई ख़राबी पैदा हुई, न अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोई कमज़ोरी सामने आई, जिससे व्यवहारिक रूप से यह स्पष्ट हो गया कि इंसानी समाज के लिए यही नीति लाभदायक है जो स्वयं ईश्वर ने इंसानों के लिए पसन्द की है इसी से ही सुख शान्ति मिल सकती है और क़ौमें प्रगति व विकास तक पहुंच सकती हैं न कि उससे मुंह मोड़ करके और उसके विपरीत नीति अपना करके।

अतः देख लीजिए, पश्चिमी देशों ने उस प्राकृतिक नीति से मुंह मोड़ करके औरत को भी घर की चार दीवारी से निकाल कर दफ़्तरों और मंडियों में और कारख़ानों और फैक्ट्रियों में मर्दों के साथ लाकर खड़ा कर दिया, तो उनकी औद्योगिक प्रगति में तो निश्चय ही कुछ तेज़ी आ गई लेकिन दो बड़े नुक़्सान से उन्हें दो चार होना पड़ा। एक तो समाज दिल व नज़र की पवित्रता से वंचित हो गया और जिन्सी बिगाड़ और वासना आम हो गई। दूसरे उनकी ख़ानदानी व्यवस्था तबाह हो गई और यूं उनकी सारी प्रगति व सम्पन्नता निरर्थक होकर रह गई क्योंकि इंसान सारी मेहनत और कोशिश केवल इसलिए करता है कि उसे सुख शान्ति हासिल हो और यह सुख उसे उसकी मा की गोद उपलब्ध करती है या फिर जवान होने के बाद वफ़ादार और आज्ञापालक पत्नी की मुहब्बत व प्यार। औद्योगिक प्रगति ने पश्चिमी देशों में सुख शान्ति के साधनों की तो अधिकता कर दी, लेकिन घरों से सुख शान्ति को ख़त्म कर दिया, क्योंकि सुख साधनों से तो सुख और शान्ति के साधनों से तो शान्ति हासिल नहीं हो सकती। यही वजह है कि उन पश्चिमी देशों में, जहां हर प्रकार के

साधनों की अधिकता है, आत्म हत्या की वारदातें भी आम हैं और नींद की गोलियों का इस्तेमाल भी ज़ोरों पर। यह इस बात की दलील है कि मात्र दौलत की रेल पेल और साधनों की अधिकता ही सब कुछ नहीं। न उससे सुख शान्ति ही नसीब हो सकती है। सुख शान्ति उस इस्लामी व्यवस्था ही में है जो अल्लाह ने इंसानों के लिए पसन्द की है। "दिलों को सन्तोष अल्लाह के ज़िक्र ही से मिलता है।" (राअद : 28)

पश्चिमी देशों ने चूंकि अपने आपको इस व्यवस्था से महरूम कर लिया है तो हर तरह की नैतिक व साइंसी प्रगति के बावजूद वह घरेलू सुख शान्ति से महरूम हैं। इसलिए कि उसने घर की मलिका को हर किसी की लौंडी और सेविका बना दिया है, घर की शमा को बाज़ार की शमा बना दिया है और पवित्रता व महानता की इस चादर को तार तार कर दिया है जो अल्लाह ने उसकी पाकदामनी के लिए पसन्द की थी। अब वह घर में केवल पति की प्यार मुहब्बत का केन्द्र नहीं, बल्कि क्लबों में, दफ़्तरों में और बाज़ारों में हर वासना भरे की हवस भरी निगाहों का केन्द्र है। अब वह केवल पति के घर शयन कक्ष के लिए ख़ास नहीं है, बल्कि उसकी आग़ोश हर जिन्सी शैतान के लिए खुली है। अब वह केवल घर की शोभा नही है, बल्कि उसकी सुन्दरता व अदाओं से देश के तमाम घर दफ़्तर रौशन हैं। यूं एक क़ीमती वस्तु को, जिसे परदे में छुपाकर और ग़ैरों की नज़रों से बचाकर रखने की ताकीद की गई थी, पश्चिम ने उसे एक शो पीस और बाज़ार की वस्तु बनाकर रख दिया है। पवित्रता व सतीत्व की तस्वीर को अश्लीलता का चलता फिरता विज्ञापन और वफ़ा के पुतले को जफ़ा का निशान और खिलौना बना दिया गया है।

दुर्भाग्य से मुस्लिम देशों में भी, जबसे वहां से इस्लामी हुकूमतें ख़त्म हुई हैं, पश्चिम की नक़्क़ाली में औरत को घरों से बाहर निकालने की और मर्दों के साथ खड़ा करने की घृणित कोशिशें की जा रही हैं। एक आध देश को छोड़कर लगभग हर मुस्लिम देश में पश्चिमी बुराई का यह फ़ितना

आम है, क्योंकि उन पर शासित शासक वर्ग और उनके पदाधिकारियों के दिल व नज़र पश्चिमी कारख़ानों ही के ढले हुए हैं इसलिए उन्हें इस्लामी सभ्यता व संकृति के मुक़ाबले में पश्चिम की नंगी सभ्यता ज़्यादा अच्छी लगती है और इस्लाम की न्यायी व्यवस्था व क़ानूनों के मुक़ाबले में पश्चिम के गढ़े हुए क़ानून ज़्यादा भले लगते हैं। सबसे पहले इस बुराई को तुर्की के तानाशाही मुस्तफ़ा कमाल पाशा ने गले लगाया, उस व्यक्ति ने 1924 ई० में न केवल इस्लामी ख़िलाफ़त का ख़ात्मा किया, बल्कि इस्लामी क़ानूनों की जगह पश्चिमी क़ानून को बलपूर्वक लागू कर दिया। जब से वहां आज तक इसी काफ़िराना निज़ाम का ग़लबा है और इसे इस तरह सुरक्षा हासिल है कि किसी हुकूमत को उसे निशाना बनाने की इजाज़त नहीं है, क्योंकि कोई भी ज़िम्मेदार व्यक्ति किसी इस्लामी शिक्षा को इख़्तियार नहीं कर सकता। जैसा कि इसकी एक ताज़ा मिसाल मुर्वह नामक औरत है। यह औरत तुर्की पार्लियामेंट की सदस्या है। यह सर पर स्कार्फ बांधकर पार्लियामेंट में गई, तो वहां उसके ख़िलाफ़ एक हंगामा खड़ा हो गया और उसे तुर्की क़ानून से ग़द्दारी क़रार देकर उस औरत की न केवल सदस्यता ख़त्म कर दी गई बल्कि उसको वहां के नागरिक अधिकारों से भी महरूम कर दिया गया। पश्चिम की नक़्क़ाली में यह उस तुर्की का हाल है जो कभी इस्लामी ख़िलाफ़त का आवाहक और इस्लामी जगत का रक्षक और पहरेदार था। आज वह अपने इस इस्लामी गौरव और इस्लामी किरदार से महरूम होकर अपने ही मसाइल में इस तरह उलझा हुआ है कि किसी तरह से भी इसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

इस्लाम से मुंह मोड़ना, इज्तिहाद नहीं धर्म परित्याग है

बुलन्दी और प्रगति के मुक़ाबले में यह पतन और बिगाड़ इसका भाग्य क्यों बना? इसका जवाब केवल एक ही है, इस्लाम से मुंह मोड़ने के नतीजे में, लेकिन आम लोगों के सोच विचार की टेढ़ का यह हाल है

कि वह तुर्की के इस बिगाड़ को अनुसरण योग्य समझते हुए दूसरे इस्लामी देशों को भी इस्लाम के मामले में वही रवैया अपनाने की नसीहत करते हैं जो तुर्की ने अपनाई। यहां तक कि अल्लामा इक़बाल जैसे व्यक्ति ने भी अपने ख़ुत्बात, तश्कील जदीद इलाहियाते इस्लामिया, के एक ख़ुत्बे, अल जिहाद फ़िल इस्लाम, में तुर्की के कुछ कामों की सराहना की है, जिससे पश्चिम के जादू के शिकार लोगों को हौसला मिलता है। अल्लामा मरहूम की बुनियादी ग़लती यह है कि उन्होंने इस्लाम से मुंह मोड़ने को "इज्तिहाद" का नाम दिया है, यद्यपि इस्लामी क़ानूनों की बजाए पश्चिमी क़ानूनों को अपनाना, यह तुर्की का इज्तिहाद नहीं, बल्कि खुला धर्म परित्याग है।

सिन्ध हाई कोर्ट के जज का एक अत्यन्त ग़लत फ़ैसला

इसी ग़लती को सिन्ध हाई कोर्ट के एक जज शाइक़ उसमानी ने अपने एक फ़ैसले में दोहराया है और औरत के हिस्सा विरासत को मर्द के बराबर करने के लिए "इज्तिहाद" की दावत दी है। उनका यह फ़ैसला अंग्रेज़ी में है, लेकिन इसके कुछ हिस्से का उर्दू अनुवाद एक रिटायर्ड जज जनाब जस्टिस शफ़ीअ मुहम्मदी साहब ने साप्ताहिक "तकबीर" कराची में 22 अप्रैल 1998 ई० में प्रकाशित करवाया है। इसमें यह जज साहब फ़रमाते हैं :

"निःसन्देह बच्ची के हिस्से का बच्चे के हिस्से के मुक़ाबले में आधा होने के बारे में क़ानून का लागू होना इस दावे की ग़लत व्याख्या का नतीजा है कि यह (क़ानून) परिवर्तन योग्य नहीं है और हमेशा रहने वाला है। असल में यह दावा नतीजा है मर्दपरस्ती के उस स्वभाव का जो हमारे समाज में घुस चुका है। हमारे मज़हब में औरतों को आधे हिस्से की जो बात की गई है वह उसकी कम से कम हद क़ायम करने के लिए है, ज़्यादा से

ज़्यादा के लिए नहीं। इसलिए यह संभव है कि कोई इस्लामी हुकूमत इज्तिहाद से काम लेकर औरत के हिस्से को बढ़ा दे। कम से कम एक मुस्लिम देश अर्थात तुर्की तो ऐसा देश है जहां विरासत में बच्चियों और बच्चों के हिस्से बराबर हैं......"

इसमें जज साहब ने पहले तो कुछ काल्पनिक चीज़ें क़ायम कर ली हैं :

1. इस्लाम के क़ानूने विरासत को अबदी (हमेशा रहने वाला) और परिवर्तन न होने वाला समझने का दावा ग़लत व्याख्या का नतीजा है।
2. यह दावा मर्द परस्ती का नतीजा है।
3. इस्लाम में औरत के आधे हिस्से की जो बात की गई है, वह उसकी कम से कम हद क़ायम करने के लिए है, ज़्यादा से ज़्यादा के लिए नहीं।

ये तीन काल्पनिक विचार क़ायम करके वह इस बुराई को अपनाने की दावत देते हैं कि इज्तिहाद के द्वारा इस क़ानून को परिवर्तित कर दिया जाए और मिसाल में तुर्की का नाम लिया है कि उसने यह काम कर दिखाया है। मानो तुर्की की सराहना करके दूसरे इस्लामी देशों को भी इस काफ़िराना हरकत का अपराध करने की दावत दी गई है।

हमें हैरत है कि जज साहब ने यह कल्पना किस बुनियाद पर क़ायम की है? क्या उन कल्पनाओं के लिए उनके पास कोई दलील है?

उनकी पहली कल्पना या भ्रम यह है कि औरत का आधा हिस्सा इस ग़लत व्याख्या का नतीजा है कि यह क़ानून परिवर्तन न किए जाने वाला और हमेशा रहने वाला है। इसका मतलब यह है कि इस्लाम का यह क़ानून परिवर्तित हो सकता है, बल्कि होना चाहिए, क्योंकि इस्लाम की सही व्याख्या का नतीजा यही है। जज साहब ने अपने इस दावे की हानियों पर ध्यान नहीं किया, वर्ना वह कभी यह खोखला दावा न करते। इस दावे

का साफ़ मतलब यह है कि चौदह सौ साल में जो हज़ारों, बल्कि लाखों उलमा व फ़ुक़्हा गुज़रे हैं और वह इस्लाम के क़ानूने विरासत को बिल्कुल सही और पूरी तरह परिवर्तन न होने वाला समझते रहे हैं, उनकी इस्लाम समझने की समझ ख़राब और उनकी क़ुरआनी टीका व व्याख्या ग़लत है। इसके विपरीत आजकल के पश्चिमी विद्वान, जो क़ुरआन करीम को शायद देखकर भी सही पढ़ने पर समर्थ नहीं, बल्कि वे इसको समझने की क्षमता से महरूम हों, उनकी क़ुरआन की समझ सही और उनकी टीका व व्याख्या विश्वसनीय है।

मुस्तनद है उनका फ़रमाया हुआ

इसलिए यदि यह कहा जाए कि चौदह सौ साल तक टीका करने व शोधकर्त्ताओं और उलमा व फ़ुक़्हा ही की क़ुरआन की समझ सही और उन्हीं की व्याख्या विश्वसनीय है उनके मुक़ाबले में आज के यह इस्लाम के आधुनिक मुजतहिद व विचारक, जो अरबी ज़बान और क़ुरआनी व हदीसी ज्ञान से पूरी तरह अपरिचित हैं, उनका क़ुरआन के समझने का दावा मात्र एक अटकल है। यह इस्लाम की अ ब स से भी परिचित नहीं। चौदह सौ साल के उलमा व फ़ुक़्हा के मुक़ाबले में आजकल के मुजतहिदीन व वैचारकों को जाहिल और इस्लाम से अनभिज्ञ लोगों को मान लेना ज़्यादा आसान भी है और बेहतर भी।

(2) इनकी दूसरी कल्पना भी प्रत्यक्ष रूप से अल्लाह तआला की ज़ात पर हमला है, औरत का आधा हिस्सा विरासत अगर वास्तव में मर्द परस्ती का नतीजा है तो उस क़ानून के बनाने वाले उलमा व फ़ुक़्हा नहीं, स्वयं अल्लाह तआला है। क्या अल्लाह तआला का यह हुक्म तत्वदर्शिता व ज़रूरत की बजाए किसी एक वर्ग या व्यक्ति की बेजा हिमायत पर आधारित है? जैसा कि श्रीमान के मर्द परस्ती के दावे से यही लाज़िम आता है तो उसके बाद अल्लाह हकीम व न्यायी ठहरेगा, या ज़ालिम व अन्यायी? उम्मत के तमाम फ़ुक़्हा, उलमा और टीकाकार अल्लाह तआला

को तत्वदर्शी व न्यायी ही मानते आए हैं और अल्लाह पर ईमान रखने का तक़ाज़ा और मतलब भी यही है, इसलिए उसके हर हुक्म और क़ानून को वह न्याय का दर्पण भी समझते रहे हैं और तत्वदर्शिता व ज़रूरत से भरपूर भी। चाहे वह तत्वदर्शिता व ज़रूरत इंसानों की समझ में आए या न आए। अल्लाह तआला का यह क़ानून विरासत भी तत्वदर्शिता व ज़रूरत से पूर्ण है। तनिक सोचिए! इस्लाम ने औरत को कमाने की ज़िम्मेदारियों से अलग रखा है, जिसका स्पष्ट मतलब यही है कि औरत को तिजारत व कारोबार करने की ज़रूरत है, न फैक्ट्रियों और दफ़्तरों में मर्दों के साथ नौकरी करने की। यह और इसी प्रकार के अन्य तमाम बाहरी कामों के ज़िम्मेदार केवल और केवल मर्द हैं।

जब हक़ीक़त यह है तो धन और दौलत की ज़्यादा ज़रूरत मर्द को है या औरत को? जिसको ज़्यादा ज़रूरत है, तो उसकी ज़रूरतों को सामने रखकर उसका हिस्सा भी ज़्यादा मुक़र्रर करना न्याय और हिक्मत के अनुसार है या उसके विरुद्ध? मर्द व औरत के बीच जब निकाह का सिलसिला क़ायम होता है तो शादी के ख़र्चे भी असल में मर्द ही के ज़िम्मे हैं इसके अलावा और भी जितने ख़र्च हैं, उन सबका ज़िम्मेदार केवल मर्द ही है, औरत नहीं। किसी भी मामले में औरत पर कोई वित्तीय ज़िम्मेदारी नहीं। जब वह बेटी है तो मां बाप उसके ज़िम्मेदार हैं, मां बाप की ग़ैर मौजूदगी में वह भाइयों की बहन है, वह भाई ही उसके ज़िम्मेदार हैं। मां बाप के यहां से सुसराल चले जाने के बाद वह पत्नी है, अब उसका ज़िम्मेदार उसका पति है। औलाद वाली होने के बाद वह मां के दर्जे पर पहुंच जाती है अब पति के साथ साथ जवान औलाद भी उसकी ज़िम्मेदार है और पति की ग़ैर मौजूदगी में तो विशेषकर औलाद ही मां के तमाम ख़र्चों की ज़िम्मेदार होती है। यह है वह इस्लामी समाज जिसकी बुनियाद इस्लामी शिक्षाएं हैं। इसमें देख लीजिए, हर चरण में ख़र्च की ज़िम्मेदारियों का तमाम बोझ केवल मर्द पर है, औरत किसी भी मौक़े पर माल कमाने

और उसे ख़र्च करने की पाबन्द नहीं है। जब ऐसा है तो औरत का मीरास में आधा हिस्सा भी असल में उसके सम्मान व प्रतिष्ठा को बहाल करना है, क्योंकि इस्लाम से पहले अज्ञानताकाल में औरत विरासत से बिल्कुल वंचित थी। इस्लाम ही ने उसे विरासत में हक़दार क़रार देकर उसकी महत्वकांक्षा को ख़त्म किया। अगर ज़िम्मेदारियों के हिसाब से वह पूरी विरासत की हक़दार होती तो निश्चय ही अल्लाह तआला इसका मीरास का हिस्सा भी मर्द के बराबर ही रखता, लेकिन जब अल्लाह तआला ने स्वयं ही उसे तमाम वित्तीय ज़िम्मेदारियों से और बाहरी मामलों से अलग रखा है तो यह बात किस तरह न्याय के अनुसार होती कि उसका मीरास का हिस्सा भी उस मर्द के बराबर होता जिस पर वित्तीय ज़िम्मेदारियों का तमाम बोझ डाल दिया गया है?

(3) श्रीमान का तीसरा दावा भी पूरी तरह निराधार है, आख़िर क़ुरआन के किस शब्द से यह बात निकलती है कि औरत का आधा हिस्सा कम से कम हद है? अगर यह बात मान लें सही मान ली जाए, तो दूसरा सवाल यह है कि फिर ज़्यादा से ज़्यादा हद क्या होगी या क्या होनी चाहिए? अगर मर्द के बराबर या उससे ज़्यादा निश्चित की जाएगी तो मर्द बजा तौर पर आपत्ति करेंगे कि वित्तीय मामलों के पूरे ज़िम्मेदार तो हम हैं फिर औरत के लिए, जिस पर सिरे से कोई बोझ ही नहीं है, हमारे बराबर या हम से भी ज़्यादा हिस्सा क्यों रखा गया है? इसका कोई उचित जवाब उन मुजतहिदीन व वैचारकों के पास है? "हातू बुरहानकुम इन कुनतुम सादिक़ीन" और अगर औरत का हिस्सा मर्द के बराबर या उससे ज़्यादा तो निश्चित नहीं किया जाता, आधा से थोड़ा बढ़ा दिया जाए, तो क्या औरत परस्ती के रोगी सन्तुष्ट हो जाएंगे? उनकी आपत्ति और मांग "हल मिन मज़ीद" बरक़रार ही रहेगा फिर इस खखेड़े से, जिसको यह मुजतहिदीन इज्तिहाद का नाम दे रहे हैं, क्या हासिल होगा?

(4) रही बात इज्तिहाद की और उसकी दावत की, तो असल में ये

लोग इज्तिहाद की हक़ीक़त से ही बेख़बर हैं वर्ना इस साहसपूर्ण तरीक़े से इस मसला में इज्तिहाद की दावत न दी जाती। इज्तिहाद का दरवाज़ा निश्चय ही खुला हुआ है। हर दौर में इज्तिहाद होता रहा है, आज भी इज्तिहाद होता है और हो सकता है बहुत से मुसाइल आज भी निश्चय ही इज्तिहाद की दावत दे रहे हैं और उनमें इज्तिहाद की ज़रूरत है, लेकिन यह कौन से मसाइल हैं? मन्सूस मसाइल नहीं, उनमें तो इज्तिहाद की कोई गुंजाइश ही नहीं, क्योंकि मन्सूस मसाइल में बिना कुछ कहे सुने ईमान लाना और ईमान रखना ज़रूरी है। उनकी बाबत इज्तिहाद की दावत देना असल में इस्लाम से विद्रोह और कुफ़्र व इस्लाम से बाहर हो जाना है। जस्टिस साहब ने भी एक मन्सूस और सबकी सहमति वाले मसले में इज्तिहाद की दावत देकर कुफ़्र व इरतिदाद ही का अपराध किया है, जिससे उन्हें अगर वह मुसलमान रहना और इस्लाम ही पर मरना चाहते हैं, तो तुरन्त तौबा करनी चाहिए।

इज्तिहाद केवल उन मसाइल में होता और हो सकता है, जो ग़ैर मन्सूस हों या मन्सूस आदेश के लागू होने के बारे में सोच विचार हो सकता है। जिसके बारे में कोई स्पष्टीकरण क़ुरआन व हदीस में नहीं है, शरीअत विद् इसके बारे में सोच विचार करेंगे कि शरीअत में इससे मिलता जुलता कोई मसला है या नहीं? अगर है तो महत्व व ज़रूरत के हिसाब से यह उस पर लागू हो सकता है या नहीं? मानो शरीअत के दायरे और उसकी सीमाओं में रहते हुए नए मसले के हल के लिए कोशिश करने का नाम इज्तिहाद है, न कि नस शरीअत (किसी स्पष्ट हुक्म) के बारे में खुली बहस या टिप्पणी की दावत देना। अफ़सोस है कि जस्टिस साहब ने इस दूसरे मतलब को ही इज्तिहाद समझा है जो सिरे से इज्तिहाद ही नहीं, बल्कि अधर्मवाद है।

(5) इसी तरह तुर्की के कामों को मिसाल में पेश करना भी, मानसिक अधर्म ही का नतीजा है, क्योंकि तुर्की में अगर औरत का हिस्सा

विरासत मर्द के बराबर है, तो उन्होंने यह क़ानून इज्तिहाद करके नहीं बनाया है (क्योंकि इसमें इज्तिहाद हो ही नहीं सकता) बल्कि इस्लाम से मुंह मोड़कर व विद्रोह करके बलपूर्वक यह क़ानून लागू किया है। अब जिसको इस्लाम से मुंह मोड़ना व विद्रोह करना प्रिय है, वह शौक़ से इसे सराहनीय समझे, लेकिन जिसे इस्लाम प्रिय है और वह मुसलमान रहना चाहता है तो वह कभी तुर्की के इस विद्रोही क़दम को अच्छी नज़र से नहीं देखेगा। न यह कि वह उसका अनुसरण करने की आम दावत देने की हिम्मत करे।

(15)

औरत और मर्द की नमाज़ का फ़र्क़?

मर्द व औरत की नमाज़ में फ़र्क़ और भेद यद्यपि हमारे निकट औरत के विशिष्ट मसाइल में शामिल नहीं। क्योंकि इस फ़र्क़ व विभेद की कोई सही दलील नहीं। लेकिन चूंकि हनफ़ी भाइयों ने मर्द और औरत की नमाज़ में फ़र्क़ कर रखा है, इसलिए इसकी असल हैसियत का स्पष्टीकरण हमारे निकट ज़रूरी है, इसलिए यहां इसकी बाबत भी कुछ बातें और अहनाफ़ के तर्कों पर कुछ समीक्षा दी जा रही है। जहां तक हमें पता है इसके अनुसार हनफ़ियों ने तीन मसलों में औरतों का मर्दों से भिन्न नमाज़ का तरीक़ा बतलाया है।

1. रफ़अ यदैन में, कि मर्द कानों तक तकबीर के लिए हाथ उठाए और औरत कांधे तक।
2. औरत सीने पर हाथ बांधे और मर्द ज़ेरे नाफ़।
3. औरत जब सज्दा करे तो अपना पेट रानों से चिपका ले जबकि मर्द को हुक्म है कि वह अपनी रानें पेट से दूर रखे।

पहली चीज़ के बारे में हमारी नज़र से कोई मंक़ूल दलील नहीं गुज़री, जिससे यही मालूम होता है कि अहनाफ़ के पास अपने इस दृष्टिकोण के स्वीकरण के लिए सिवाए क़यास के कोई दलील नहीं है। अतः हाफ़िज़ इब्ने हजर लिखते हैं :

«لَمْ يَرِدْ مَا يَدُلُّ عَلَى التَّفْرِقَةِ فِي الرَّفْعِ بَيْنَ الرَّجُلِ وَالْمَرْأَةِ، وَعَنِ الْحَنَفِيَّةِ يَرْفَعُ الرَّجُلُ إِلَى الْأُذُنَيْنِ وَالْمَرْأَةُ إِلَى الْمَنْكِبَيْنِ لِأَنَّهُ أَسْتَرُ لَهَا» (فتح الباري، الأذان: ٢/٢٨٧)

अर्थात "हनफ़िया जो कहते हैं कि मर्द हाथ कानों तक उठाए और औरत कंधों तक, इसलिए कि उसमें औरत के लिए ज़्यादा सतर (परदा) है। मर्द व औरत के बीच फ़र्क़ करने का यह हुक्म किसी हदीस में वारिद नहीं है।"

और इमाम शौकानी लिखते हैं :

«وَاعْلَمْ! أَنَّ هٰذِهِ السُّنَّةَ تَشْتَرِكُ فِيهَا الرِّجَالُ وَالنِّسَاءُ، وَلَمْ يَرِدْ مَا يَدُلُّ عَلَى الْفَرْقِ بَيْنَهُمَا فِيهَا، وَكَذَا لَمْ يَرِدْ مَا يَدُلُّ عَلَى الْفَرْقِ بَيْنَ الرَّجُلِ وَالْمَرْأَةِ فِي مِقْدَارِ الرَّفْعِ، وَرُوِيَ عَنِ الْحَنَفِيَّةِ أَنَّ الرَّجُلَ يَرْفَعُ إِلَى الْأُذُنَيْنِ، وَالْمَرْأَةُ إِلَى الْمَنْكِبَيْنِ لِأَنَّهُ أَسْتَرُ لَهَا، وَلَا دَلِيلَ عَلَى ذٰلِكَ كَمَا عَرَفْتَ»(نيل الأوطار، باب رفع اليدين وبيان صفته ومواضعه: ٢/٢٠٦)

अर्थात "यह रफ़अ यदैन ऐसी सुन्नत है जो मर्द व औरत दोनों के लिए समान है, इसकी बाबत दोनों के बीच फ़र्क़ करने का कोई हुक्म नहीं है। इसी तरह रफ़अ की मात्रा में भी फ़र्क़ करने की कोई व्याख्या मंक़ूल नहीं है जैसा कि हनफ़िया का मज़हब है कि मर्द हाथ कानों तक उठाए और औरत कंधों तक। हनफ़िया के इस मज़हब की कोई दलील नहीं है।"

2. हाथ बांधने में अहनाफ़ मर्द व औरत के बीच जो फ़र्क़ करते हैं, उसकी भी कोई दलील हमारे ज्ञान में नहीं। यह भी इस बात की खुली गवाही है कि अहनाफ़ के पास अपने इस दृष्टिकोण के स्वीकरण के लिए भी कोई दलील नहीं है। इसलिए सही हदीसों की रू से मर्द व औरत दोनों के लिए यही हुक्म है कि वे नमाज़ में सीने पर हाथ बांधें।

मौलाना यूसुफ़ लुधियानवी मरहूम ने अपनी किताब "मतभेद उम्मत और सिराते मुस्तक़ीम" में सारा ज़ोर तीसरे फ़र्क़ के स्वीकरण पर लगाया

है। क्योंकि इस मसले में उनके पास एक मुरसल रिवायत और कुछ ज़ईफ़ आसार हैं, लेकिन हक़ीक़त यह है कि मुरसल रिवायत मुहद्दिसीन और उलमाए मुहक़्क़िक़ीन के निकट हुज्जत योग्य है ही नहीं। इसके अलावा यह मुरसल रिवायत भी मुंक़तअ है और उसमें एक रावी (सालिम) मतरूक है। (देखें : जोहर नक़ी, तहत सुनन कुबरा, बैहेक़ी, भाग 2)

इस मुरसल व मुंक़तअ रिवायत के अलावा मुदीर ''बैनात'' ने कन्ज़ुल उम्माल की एक रिवायत बैहेक़ी और इब्ने अदी के हवाले से बरिवायत अब्दुल्लाह बिन उमर रज़ि० नक़ल की है कि ''नबी सल्ल० का इरशाद है, औरत जब सज्दा करे तो अपना पेट रानों से चिपका ले। ऐसे तौर पर कि उसके लिए ज़्यादा से ज़्यादा परदे का कारण हो।'' (पृ० : 90-91)

यह रिवायत सुनन बैहेक़ी में मौजूद है लेकिन श्रीमान ने यह रिवायत सुनन बैहेक़ी की बजाए कन्ज़ुल उम्माल के हवाले से नक़ल की है। और वजह उसकी यह है कि सुनन बैहेक़ी में इसकी सनद भी मौजूद है और उसकी बाबत इमाम बैहेक़ी की यह व्याख्या भी है कि ''इस जैसी (ज़ईफ़) रिवायत के साथ विवेचन नहीं किया जा सकता।'' (देखिए : सुनन बैहेक़ी, भाग-2, पृ० : 222-223)

बहरहाल अरकाने नमाज़ में मर्द व औरत के बीच शरीअते इस्लामिया ने कोई फ़र्क़ व विभेद नहीं किया। बल्कि एक आम हुक्म दिया है ''तुम नमाज़ इस तरह पढ़ो जैसे तुमने मुझे नमाज़ पढ़ते हुए देखा है।'' (सहीह बुख़ारी) इस हुक्म में मर्द व औरत दोनों शामिल हैं जब तक कि किसी स्पष्ट नस से औरतों की बाबत भिन्न हुक्म साबित न कर दिया जाए। जैसे औरत के लिए एक ख़ास हुक्म यह है कि वह ऊंटनी (परदे) के बिना नमाज़ न पढ़े, इसी तरह हुक्म है बाजमाअत नमाज़ पढ़ने की सूरत में इसकी पंक्तियां मर्दों से आगे नहीं, बल्कि पीछे हों। अगर नमाज़ की हैसियत और अरकान की

अदाएगी में भी फ़र्क़ होता तो शरीअत में इसका भी स्पष्टीकरण कर दिया जाता। और जब ऐसा कुछ नहीं है तो इसका साफ़ मतलब है कि मर्द और औरत की नमाज़ में फ़र्क़ का कोई औचित्य नहीं।

औरत की इमामत का मसला

इसी तरह एक फ़र्क़ आसारे सहाबा से यह भी साबित है कि औरत औरतों की इमामत कराए, तो वह मर्द इमाम की तरह पंक्तियों से आगे खड़ी न हो बल्कि अगली पंक्ति में बीच में खड़ी हो, लेकिन किसी हदीस में इसकी बाबत कोई स्पष्टीकरण नहीं। इसी लिए इमाम इब्ने हज़्म ने कहा कि चूंकि औरत के पंक्ति के आगे खड़े होने की बाबत मनाही की कोई दलील नहीं, इसलिए वह आगे खड़े होकर भी नमाज़ पढ़ सकती है। (अलमुहल्ला)

लेकिन हमारे विचार में ज़्यादा सही यही है कि जब सहाबा के आसार और कुछ पाक पत्नियों के अमल से यह साबित है कि इमामत के समय औरत पंक्ति के बीच खड़ी हो, तो उसके अनुसार अमल करना ज़्यादा बेहतर है। बहरहाल यह आसार निम्न हैं।

रीतह हनफ़िया रह० बयान करती हैं :

«أَنَّ عَائِشَةَ أَمَّتْهُنَّ وَقَامَتْ بَيْنَهُنَّ فِي صَلَاةٍ مَكْتُوبَةٍ» (مصنف عبدالرزاق، الصلاة، باب المرأة تؤم النساء: ٣/١٤١)

"हज़रत आइशा रज़ि० ने फ़र्ज़ नमाज़ों में औरतों की इमामत के फ़राइज़ अंजाम दिए और वह उनके बीच खड़ी हुईं।"

तमीमा बिन्ते सलमा बयान फ़रमाती हैं :

«أَنَّهَا أَمَّتِ النِّسَاءَ فِي صَلٰوةِ الْمَغْرِبِ، فَقَامَتْ وَسْطَهُنَّ، وَجَهَرَتْ بِالْقِرَاءَةِ» (المحلى لابن حزم: ٤/٢١٩)

"हज़रत आइशा रज़ि० ने मग़रिब की नमाज़ में औरतों की

इमामत के फ़राइज़ अंजाम दिए, तो औरतों के बीच खड़ी हुई और जहरी (बुलन्द आवाज़ से) क़िरअत फ़रमाई।"

उम्मे हसन से मरवी है :

«أَنَّهَا رَأَتْ أُمَّ سَلَمَةَ زَوْجَ النَّبِيِّ ﷺ تَؤُمُّ النِّسَاءَ، تَقُومُ مَعَهُنَّ فِي الصَّفِّ» (مصنف ابن أبي شيبة، الصلوات، باب المرأة تؤم النساء: ١/ ٤٣٠، ح: ٤٩٥٣)

"उन्होंने देखा कि उम्मुल मोमिनीन उम्मे सलमा रज़ि० ने औरतों की इमामत के फ़राइज़ अंजाम दिए और वह उनके साथ पंक्ति ही में खड़ी हुई।"

इमाम इब्ने हज़म रह० इस रिवायत के बारे में फ़रमाते हैं :

«هِيَ خَيْرَةٌ، ثِقَةُ الثِّقَاتِ - وَهٰذَا إِسْنَادٌ كَالذَّهَبِ» (المحلی لابن حزم: ٤/ ٢٢٠)

"यह बेहतरीन सनद है, इसके सब रावी बड़े अहम सिक़ह हैं, यह सनद क्या है सोने की एक लड़ी है।"

हुजैरा बिन्ते हसीन फ़रमाती हैं :

«أَمَّتْنَا أُمُّ سَلَمَةَ فِي صَلٰوةِ الْعَصْرِ قَامَتْ بَيْنَنَا» (مصنف عبدالرزاق، الصلاة، باب المرأة تؤم النساء: ٣/ ١٤٠، ح: ٥٠٨٢ ومصنف ابن أبي شيبة، الصلوات، باب المرأة، تؤم النساء: ١/ ٤٣٠، ح: ٤٩٥٢)

"सय्यदा उम्मे सलमा रज़ि० ने नमाज़े अस्र में हमारी इमामत के फ़राइज़ अंजाम दिए और आप हमारे बीच में खड़ी हुई थीं।"

हज़रत इब्ने अब्बास रज़ि० फ़रमाते हैं :

«تَؤُمُّ الْمَرْأَةُ النِّسَاءَ تَقُومُ فِي وَسْطِهِنَّ» (مصنف عبدالرزاق، الصلاة، باب المرأة تؤم النساء: ٣/ ١٤٠، ح: ٥٠٨٣)

"औरत औरत की इमामत करवा सकती है, लेकिन इमामत के समय वह औरतों के बीच ही में खड़ी होगी।"

इसी तरह हज़रत इब्ने उमर रज़ि० के बारे में भी मरवी है :

«أَنَّهُ كَانَ يَأْمُرُ جَارِيَةً لَهُ، تَؤُمُّ نِسَاءَهُ فِي رَمَضَانَ»(المحلى لابن حزم: ٤/٢٢٠)

"आप अपनी लौंडी को हुक्म देते थे, तो वह रमज़ानुल मुबारक में औरतों को बाजमाअत नमाज़ पढ़ाती थीं।"

इन तमाम रिवायतों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि औरत दूसरी औरतों की फ़र्ज़ और नफ़ल हर दो तरह की नमाज़ों में बिला कराहत इमामत करवा सकती है। जिन नमाज़ों में जहरी (बुलन्द आवाज़ से) क़िरअत की जाती है उनमें ऊंची आवाज़ से क़िरअत भी कर सकती है। हां अगर आस पास ग़ैर मेहरम मर्द हों तो फिर क़िरअत ऊंची आवाज़ से न करे, लेकिन अगर उस इमाम औरत के मेहरम मर्द हों तो क़िरअत ऊंची आवाज़ में कोई हरज नहीं है। (अलमुगनी : 2/36)

जहां तक जमाअत के लिए औरत के अज़ान देने और इक़ामत कहने का मसला है तो औरत के लिए धीमी (हल्की) आवाज़ में अज़ान देना और इक़ामत कहना भी जाइज़ है, जैसा कि ताऊस के इस कथन से स्पष्ट होता है, फ़रमाते हैं :

«كَانَتْ عَائِشَةُ تُؤَذِّنُ وَتُقِيمُ»(المحلى: ٤/٢٢٠ ومصنف عبدالرزاق، الصلوة، باب هل على المرأة أذان وإقامة: ٣/١٢٦، ح: ٥٠١٥، ٥٠١٦)

"उम्मुल मोमिनीन सय्यदा आइशा रज़ि० अज़ान व इक़ामत स्वयं कह लिया करती थीं।"

और जहां तक इमाम औरत के खड़े होने की जगह का सवाल है तो इसके लिए अगली पंक्ति के बीच में खड़ा होना मुस्तहब है, अतः अल्लामा

इब्ने क़दामा मुक़द्दसी रह० फ़रमाते हैं :

> ''जो उलमा औरत की इमामत के क़ायल हैं उनके निकट इस बारे में हमें किसी मतभेद का पता नहीं कि अगर कोई औरत दूसरी औरतों की इमामत कर रही हो तो वह उनके बीच में खड़ी होगी, क्योंकि औरत के लिए परदे में रहना ज़्यादा पसन्दीदा है और जब वह पंक्ति के बीच में हो तो परदे में होती है, क्योंकि उसे दोनों तरफ़ से दूसरी औरतों ने छिपा रखा होता है और यह मुस्तहब अमल है।'' (अलमुगनी : 2/36)

AURATON KAY IMTIAZI MASAIL WA QAWANIN